TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180361

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H93
V12U

Accession No. H3143

Author [illegible]

[illegible]
H3143

1957

उनसे न कहना

मनोवैज्ञानिक सामाजिक उपन्यास

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

ल ए ण्ड स न्ज़, दि ल्ली

मूल्य : पाँच रुपये
प्रथम संस्करण : नवम्बर १९५७
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक : हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

: १ :

जीवन के विजय-पथ में सृष्टि और विकास का बड़ा महत्व है। सृष्टि ामिप्य और सम्पर्क के मूलभूत अवयव स्वच्छन्द रहते हैं और विकास कता, मिलन और केन्द्रीकरण के। जीवन-तत्वों का अनुभव धीरे- होता है। इस लिए जब अनुभव जीवन को आगे बढ़ाता है तभी वह स ोत है। सृष्टि में भी एक रहस्य रहता है। पाँच और तीन नाशील होता है, किन्तु चार और चार का मिलन दोनों ाये रखता है। समान तेज और ओज, अहम और दम्भ े हैं। तीन और पाँच के मिलन अधिक प्रीति पूरक होते सि चूल होती है कि रिक्त स्थान की पूर्ति अतिरिक्त एक अपने को रिक्त करता है तो दूसरा अति- र उसमें भिद जाता है। इसीलिए चार और ान अवस्थाएँ जीवन में बहुधा समवेत कम होती (पीत वर्ण के मिलन का अर्थ हो सकता है, [redacted] का सम्बन्ध है, ऐसा मिलन [redacted] पीत वर्ण के साथ यदि नील वर्ण घुलमिल कर [redacted] तो तथा सायुज्य स्थापित कर लेता है, तो सृष्टि का क्रम आप-से-आप रम्भ हो जाता है!

संक्षेप में सृष्टि का यही रहस्य है।

कीर्तिदेव की अभी नई उमर थी। यौवन की आँधियों में पड़कर ानसिक सन्तुलन प्रायः खो बैठते थे। अभिमान इस सीमा तक था कि पने बराबर किसी को समझते न थे। हठ इस सीमा तक कि तथ्य की भी पेक्षा कर जाते और वस्तुस्थिति के मर्म को समझने की भी चेष्टा न करते।

अपनी रुचियों में वे इतने दृढ़ थे कि सम्बन्धित लोगों की रुचियों के ाथ वे किसी प्रकार सहयोग न कर सकते थे। फलों में उन्हें आम, अंगूर

और केला पसन्द थे। इसी प्रकार मिठाइयों में केवल रसगुल्ला। साग भाजी का हाल यह था कि यदि किसी दिन घी में भुना हुआ आलू थाल में न आता और अरहर की दाल के स्थान पर कहीं मूंग, उड़द या च की दाल सामने आ जाती, तो उनसे खाना न खाया जाता। बचप में पिता के साथ चाय पीने की जो आदत पड़ गई थी, वह अब इतन दृढ़ हो गई थी, कि दूध तो किसी प्रकार पी ही न सकते थे। बचपन धोती और पैजामा छोड़ 'हाफ़ पैन्ट' की जो आदत पड़ गई उसका परिणा यह हुआ कि वयस्क होने पर 'हाफ़ पैन्ट' का स्थान 'फुल पैन्ट' ने ग्रह कर लिया। ऐसे प्रभविष्णु थे कि जब तक वे घर में बैठे रहते, तब तक को ज़ोर से बोल भी न सकता था। इसलिए कीर्ति बाबू पिता के साथ खाना खाने न बैठते थे। उनसे डरते इतना अधिक थे कि सम्बन्ध में अन्त तक मौन रहे। परिणाम यह हुआ कि एक के साथ उनका विवाह हो गया, जो कुछ स्थूलकाय और

उसका नाम था कल्याणी। वह बड़े घर की बेटी लाड़-प्यार में पली भी थी। उसकी अपनी रुचियाँ पिता के जीवन-काल में वस्त्र और आभूषण, खाद्य व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ उनकी इच्छा से आती थीं। हस्तक्षेप का कोई अवसर न था। पर जब वे न रहे, तो स्वाभाविक रूप से कीर्ति बाबू के हाथ में आ गई।

कुछ दिनों तक तो कल्याणी स्वामी का रंग-ढंग देखती रही। उसने देखा कि वे केवल अपनी रुचियों का ध्यान रखते हैं, मेरी रुचियों पर विचार ही नहीं करते। जिस प्रकार की साड़ियाँ उसे पसन्द होतीं, कीर्ति-बाबू उनकी ओर देखते भी न थे। कभी कोई आभूषण बनवाने का प्रश्न उठता, तो असली सोने के स्थान पर वे 'गिनी गोल्ड' को अधिक महत्व देते थे। कल्याणी को उच्चकोटि के सूती कपड़े पसन्द थे, किन्तु कीर्ति-बाबू रेशमी छोड़ बात न करते थे। दोनों अगर साथ-साथ जलपान करने बैठते, तो गरमी के दिनों में कीर्ति बाबू के लिए चाय बनती, कल्याणी के लिए लस्सी। अध्ययन के सम्बन्ध में भी यही बात थी। कीर्ति देव को कहानी और उपन्यासों से विशेष प्रीति थी, पर कल्याणी को कविता से।

वर्षा के दिनों में कल्याणी खुले आकाश के नीचे सोना पसन्द करती; किन्तु कीर्ति बाबू कमरे के अन्दर सोते। कल्याणी प्रातःकल जल्दी उठती थी, तो जल्दी सो भी जाती थी। कीर्ति बाबू का हाल यह था कि वे देर से सोते, तो देर से उठते। दोनों अगर साथ बैठते, वार्तालाप करते, तो दस-पाँच मिनट के भीतर ही, किसी न किसी बात पर बहस उठ खड़ी होती।

एक दिन कीर्ति बाबू ने कह दिया—"तुम्हारे मुँह से तम्बाकू की ऐसी बास आती है कि पास में बैठना मुश्किल हो जाता है।"

कल्याणी ने उत्तर दिया—"मैं जो तम्बाकू पान के साथ खाती हूँ, वह बत्तीस रुपये सेर से कम की तो कभी होती ही नहीं। कभी-कभी तो साठ रुपये सेर की भी होती है। पर तुम्हारे मुँह से उस सिगरेट की बास आती है, जिसकी तम्बाकू घोड़े की लीद-सी होती है।"

कीर्ति बाबू के यहाँ जमींदारी-कारबार उच्चकोटि का था। सवारियों में सेज-गाड़ी और सग्गड़ तो था ही, मझोली और रथ भी रहता था। स्वयं उनको जाना होता तो प्रायः घोड़े पर जाया करते। पिता के जीवन-काल में तो हाथी भी था, पर जिस दिन उनका देहान्त हुआ था, उसके दूसरे ही दिन हाथी का।

होते-करते एक दिन जब कल्याणी के भाई प्रसन्नमन उपाध्याय उसकी विदा के लिए आये, तो सवारी तैयार होते-होते 'ट्रेन' के समय के हिसाब से कुछ देर हो गई। कीर्ति बाबू ने कह दिया—"अब रथ पर जाने से गाड़ी नहीं मिलेगी। सग्गड़ पर क्यों न चली जाओ?"

कल्याणी ने कह दिया—"कार ऐसे ही समय के लिए होती है।"

कीर्तिदेव उद्दंड स्वभाव के थे ही, बोल उठे—"ऐसा ही था तो बाप के घर से 'कार' लेकर आई क्यों नहीं?"

कल्याणी ने भी आवेश में आकर उत्तर दिया—"स्वयं जिनके करे-धरे कुछ नहीं होता, वही ससुराल का सहारा पाने को लपकते हैं!"

बस कल्याणी का इतना कहना था कि वाक्-युद्ध छिड़ गया।

"जिनके घर में खाने को नहीं होता, वे पति के घर में आकर चार-चार साग और आध-आध पाव घी उड़ाने में कभी नहीं चूकतीं।"

"जिनको आध-आध पाव घी खाने का हौसला होता है वे भरे हुए टीन-के-टीन घी अपने घर से ले भी आती हैं।"

इस अवसर पर कीर्ति बाबू को यह कहना चाहिये था कि इसी प्रकार जिनको कार पर चढ़ने का हौसला हो, उन्हें कार अपने घर से लेकर चलना चाहिये। पर ऐसा न कह कर उन्होंने कह दिया—

"वे इतने भरे हुए होते हैं कि हमारे घर में एक मास भी नहीं टिकते।"

"वे इतने भरे हुए होते हैं कि ब्याह-जनेऊ में काम आने के लिए छिपाकर रख लिये जाते हैं।" कल्याणी को सच्ची बात कहनी पड़ी।

कीर्ति को ऐसे प्रश्नोत्तरों में आनन्द आता था। अतः वह बोले—"और काम के समय जब उनका घी खराब निकलता है तो उसका उपयोग घर के मेहमानों के लिए न होकर प्रजा-जनों के लिए होता है।"

"प्रजा-जनों के लिए तो नहीं होता, खास समधी के घर जाने वाले पकवानों में होता है।"

कल्याणी जानती थी कि अभी गतवर्ष उसकी ननद के विवाह में ऐसा ही हुआ था।

कीर्ति बाबू सत्य को तो पचा लेते थे, पर कटु सत्य को नहीं। अतएव आवेश में आकर उन्होंने कह दिया—"तुम झूठ बोल रही हो।"

कल्याणी भला कब चूकने वाली थी। उसने और भी उग्र स्वर में कह दिया—"तुम हमेशा झूठ बोलते हो।"

तब माँ बनी हुई थीं। लड़के और बहू के बीच वाक्-युद्ध का उच्च-स्वर सुनकर दौड़ पड़ीं। बोलीं—"मनइयाँ, यह तुम्हारी बड़ी खराब आदत पड़ गई है। कम-से-कम इतना तो खयाल किया करो, कि अभी मैं जीवित हूँ।"

कीर्ति ने उत्तर दिया—"अम्मा, तुम नहीं जानतीं, यह कितनी असभ्य हो गई है। शिष्टाचार तो जानती ही नहीं। इसकी मूर्खता से मैं ऊब गया हूँ। इसने मेरा जीवन बरबाद कर दिया।"

कल्याणी रो पड़ी। बोली—"अम्मा, ये मेरा ही नहीं, मेरे माता-पिता का भी अपमान करते हैं। मैं इसे कभी सहन नहीं कर सकती।"

माँ ने कह दिया—"क्यों मनइयाँ ? तुम्हारे बाबू क्या नहीं रहे, बात-बात में बहू को इस तरह रुलाने की छूट मिल गई। बड़ी ख़राब बात है। अगर फिर कभी इस तरह की भनक मेरे कान में पड़ी, तो मैं तुम लोगों के साथ रह न सकूँगी। पहले से बताये देती हूँ।"

कीर्ति बाबू ने उत्तर दिया—"मेरे साथ अब इसकी एक घड़ी नहीं पट सकती। पर जहाँ जा रही है अब इसको वहीं रहना होगा। मैं भी पहले से सावधान किये देता हूँ।"

माँ ने बहू को बहुत समझाया कि तुम रथ पर ही चली जाना। आज न सही कल सही, पर कल्याणी किसी तरह न मानी। उसने उत्तर दिया—"अम्मा ! अब मैं आज ही जाऊँगी। भले ही मुझे सग्गड़ पर जाना पड़े।"

इस प्रकार कल्याणी अपने भाई के साथ चली गई। फिर न कभी कीर्तिदेव उसको लेने के लिए ससुराल गये, न वही लौटकर स्वामी के घर आई।

उत्तेजना में आकर साधारण व्यक्ति कभी-कभी ऐसे कार्य कर डालता है जिसको असाधारण पुरुष भी साधारण रूप से नहीं कर पाते। कीर्ति-देव उन व्यक्तियों में थे जो धन-सम्पदा में पर्याप्त भरे-पूरे और सम्पन्न थे। पिता की अर्जित की हुई धन-राशि के भोग का नवल उत्साह था और अब तो मानस-लोक में तरंगों के साथ-साथ एक उत्तेजना भी थी। विचार उनके भौतिकवादी थे। जो भावनाएँ पिता के भय से दबी पड़ी रह गई थीं, वे अब उभर उठी थीं। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक ऐसी लड़की के साथ विवाह कर लिया जो तन्वंगी, सुहासिनी, परम लावण्यमयी और स्वभावेन अवलम्बिता थी। नाम उसका था सत्यवती।

सत्यवती को विवाह से पूर्व ही इस बात का पता लग गया था कि किस कारण एक पत्नी रहते हुए भी यह दूसरा विवाह कर रहे हैं। वह चाहती तो न थी कि ऐसे व्यक्ति के साथ मेरा विवाह हो, जो एक पत्नी

को छोड़ चुका है; किन्तु प्रश्न यहाँ एक परित्यक्ता नारी के साथ सहानुभूति के प्रवाह में बह जाने का उतना न था, जितना व्यक्तिगत संयोग-लाभ का।

एक बात और थी। सत्यवती प्रकृति से भी इतनी साहसी और आत्मनिष्ठ न थी कि अपने माता-पिता से स्पष्ट और दृढ़तापूर्वक कह सकती, 'इस प्रकार का विवाह मुझे स्वीकार नहीं है।'

इस विवशता की प्रतिक्रिया यह हुई, कि कीर्ति बाबू के यहाँ आकर सत्यवती की वह अंतश्चेतना भी दब गई, जो अनुकूल अवसर पाकर कभी-न-कभी उभर भी सकती थी।

कल्याणी जिस समय अपने पिता के घर इलाहाबाद चली गई, उस समय उसके पेट में एक नवीन आत्मा ने अपनी स्थापना का श्री गणेश कर दिया था। एक ओर जब सत्यवती के जीवन में नई-नई तरंगें उठ रही थीं, दूसरी ओर कल्याणी का मन विद्रोही भावनाओं से आन्दोलित हो रहा था। जब सत्यवती मन-ही-मन सपनों का संसार बना रही थी, कल्याणी का स्वप्न टूट चुका था। सत्यवती जब अपनी सखियों के साथ हँसती और अठखेलियाँ करती, तब कल्याणी के आँसू अधरों तक आते-आते गिर पड़ते थे। कभी-कभी उसके मन में यह भी आता कि इससे तो यही अच्छा था कि मैं विवाह ही न करती।

उस समय उसकी माँ बनी हुई थीं। पिता वृद्ध अवश्य हो गये थे किन्तु अभी शिथिल तन, गलितमन नहीं हुए थे। माँ सान्त्वना देती हुई कहती—"मत रो बेटी। तुम्हें यहाँ किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता। हमारे घर में किस बात की कमी है ?" और पिता गरज उठते—"मैं अभी गुज़ारे का दावा करवाता हूँ। बच्चू को आटा-दाल का भाव मालूम हो जायेगा। उन्होंने मुझे समझा क्या है।"

ऐसे समय कल्याणी कुछ न बोल पाती थी। वह उन्हें कैसे समझाती कि जगज्जननी जानकी ने ऐसे ही अवसर के लिए गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में कहा था—'जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसहिं नाथ पुरुष बिनु नारी।'

परिस्थिति में केवल इतना अन्तर था कि जानकी जी ने यह बात

अपने स्वामी से कही थी। किन्तु कल्याणी इस अवसर पर चाहती, तो अपने माता-पिता को कह सकती थी। लेकिन उसने ऐसा कुछ कहना दूर रहा, कोई संकेत देना भी उचित नहीं समझा। इसमें उसको अपनी हीनता स्पष्ट दिखलाई पड़ती थी। वह दयनीय नही बनना चाहती थी। उसका वश चलता और घर का वातावरण अनुकूल होता तो सम्भव था कि वह अपने अन्तःकरण का स्वर प्रकट करके ही मानती। विचार अवश्य उसके आधुनिक थे, किन्तु संस्कार पुरातन थे। फिर सामाजिक मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा का लोभ भी उसमें कम न था। क्रान्ति करती तो कैसे करती।

मध्यम वर्ग के व्यक्ति का सबसे अधिक दुर्बल मर्मस्थल यही होता है। एक ऐसी काल्पनिक किन्तु समाज-सम्मत, मर्यादाशीलता से वह भारानत और पीड़ित रहता है कि विद्रोह की भावना रहते हुए भी उसे चरितार्थ नहीं कर सकता। इसी दुर्बलता में उसका आर्थिक पक्ष भी सन्निहित था। एक स्वामी को त्याग कर जब वह दूसरा स्वामी बना लेती है, तब एक तो वह समाज की सहानुभूति खो देती है; दूसरे, स्वामी की धन-सम्पदा बँटा लेने की अधिकारिणी भी नहीं रह जाती। भारतीय न्याय-विधान भी इसमें उसका सहायक नहीं होता। इन सब बातों पर विचार करने के अनन्तर कल्याणी ने अन्त में यही निश्चय किया कि वह आजीवन एकाकिनी रहेगी।

केवल एक आशा-किरण वह मन-ही-मन छिपाये रही, फिर जब नवसृष्टि हुई, तो वह किरण अपने आप क्षितिज से फूट निकली।

सत्यवती में शील, विनय और मानवीय सहानुभूति की कमी न थी। माना कि स्वभाव से वह अवलम्बिता थी। यह भी माना, कि वह स्वामी की चेष्टा देखकर चलती थी। किन्तु व्यावहारिकता का उसमें अभाव न था। समय और अवसर के अनुरूप उसके मन में जो लहरें उठतीं, भावनाओं के ज्वार आते, कामनाओं के पंख फैलते, इच्छाओं के अंकुर उदय होते, कल्पनाओं के पलक खुलते, उनका संकेतात्मक मन्तव्य प्रकट करने में वह कभी चूकती न थी।

कल्याणी के जब बच्चा उत्पन्न हुआ तब सत्यवती कीर्ति बाबू की

पार्श्ववर्तिनी बन चुकी थी। समाचार पाते ही कीर्ति बाबू की माँ ने कहा—"अरे मनइयाँ ! भगवान ने बड़ी बहू की गोदी भरी है। मेरे भाग्य जगे हैं कि पोते का मुख देखने का अवसर मिला। ऐसे समय हमें भी कुछ करना चाहिये। माना कि वह रूठकर चली गई है। यह भी माना कि तेरे सम्बन्धों में अन्तर पड़ गया है पर उस अबोध बच्चे ने तो कोई अपराध नहीं किया कि उसके जन्मोत्सव की खुशियाँ न मनाई जायँ।"

कल्याणी को गये हुए आठ मास व्यतीत हो चुके थे और कीर्ति बाबू सोचते थे कि जब बाढ़ का पानी निकल जायेगा, सरिता अपनी साधारण गति पर आ जायेगी; तब सीधे रूप से न सही, प्रकारान्तर से तो क्षमा, खेद, और पश्चात्ताप से पूर्ण कोई-न-कोई सन्देश कल्याणी के पास से आयेगा ही।

कीर्ति के मन की यह एक ऐसी कल्पना थी, जो उच्छल अहंभाव से भरी हुई थी। कल्याणी कितना बड़ा आघात लेकर गई थी, इसका अनुमान लगा लेने की सुगम बुद्धि का उनमें लोप हो गया था। इस कारण उनके अहंभाव की क्षुब्ध तरंग-धार, कुण्ठित हो उठती थी।

माँ की उपर्युक्त बात के उत्तर में उनके मुँह से निकल गया—"इन बातों से मेरा कोई मतलब नहीं। जो स्त्री मेरी नहीं हुई, उससे उत्पन्न बच्चा मेरा कैसे हो सकता है ?"

लड़के की इस बात को सुनकर माँ को बड़ा क्लेश हुआ। जब और कोई उपाय न सूझ पड़ा, तब उसी दिन वे भी अपने मायके चली गईं। सत्यवती ने उन्हें बहुत रोका, बड़ी प्रार्थनाएँ कीं, किन्तु वह किसी तरह न मानीं।

सत्यवती ने उस दिन स्वामी से कह दिया—"तुम मानो चाहे न मानो, लेकिन मुझे तो अपना कर्तव्य निभाना ही पड़ेगा। माना कि वह मेरी कोख से उत्पन्न नहीं हुआ, मगर है तो वह तुम्हारे ही रक्त-बिन्दु से उत्पन्न आत्मा का खिलौना। नहीं, नहीं, तुम मुझे इस विषय में रोक नहीं सकोगे।"

बात वही थी, जिसको विरोध कहते हैं। केवल शैली में अन्तर था।

फलतः कीर्ति बाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया। मुख पर मुसकराहट झलक उठी यही उनका उत्तर था।

ऐसी बात न थी कि कल्याणी समन्वय जानती ही न थी। वह मानती थी कि समन्वय और सायुज्य के बिना जीवन प्रवाहहीन हो जाता है। धूप न हो तो निदाघज्वाला, डूब-डूबकर इधर-उधर अपने पाँव पसार-पसारकर, तपी हुई हवाएँ कैसे प्रवहमान बनायें। लपटें न चलें, तो न वाष्पोत्पादन हो, न गगन-मण्डल में बादल-परियाँ उड़ने का अवसर पावें। एक ऊष्मा ही तो है जो पहले मेघों का निर्माण करती है, फिर नन्हीं-नन्हीं बूंदों के रूप में प्रायः रिमझिम, और कभी-कभी मूसलाधार बरसकर निखिल पृथ्वी-तल को शस्य-श्यामला बना देती है। इस प्रकार जल और अनल भी परस्पर समवेत हुए बिना नहीं मानते। इसके विपरीत हमारे यहाँ होता यह है कि जल कहता है—मैं ही मैं हूँ, मेरे बिना काम नहीं चलेगा—और अनल कहता है—ऐसी-तैसी तुम्हारी। मैं तुमको भस्म करके छोड़ूंगा।

कल्याणी को कभी-कभी अपनी इस परिस्थिति पर हँसी आ जाती थी। सुदूर भविष्य की कल्पना कर वह सोचने लगती—अब मुझे देखना यह है कि ये सत्यवती को चिड़ी का गुलाम बना लेते हैं, या सत्यवती 'स्पेनिश क्वीन' बन कर रहती है।

कल्याणी के प्रसूति-गृह में दाई का स्वर फूट पडा—"कहाँ हैं उपाध्याय जी ? सोने की मोहर चाहिये। नन्दलाल पैदा हुए हैं।"

उपाध्याय जी तो बाद में आये पर द्वार-मण्डप के ऊपर शहनाई बजने लगी। उस समय कल्याणी की माँ बनी हुई थीं। पाँच रुपये निकाल कर दाई को तुरन्त दे दिये।

इस अवसर पर बच्चे के लिए वस्त्राभूषण तो बहुत आये, पर कीर्ति बाबू स्वयं नहीं पहुँचे। अपने मैनेजर कांतिलाल को भेज दिया था।

सत्यवती पद-मर्यादा में कल्याणी से छोटी थी, किन्तु अवस्था में

उससे भी एक मास बडी ।

जब जन्मोत्सव-कार्यक्रम में ब्रह्म-भोज हो रहा था, तब कहीं कल्याणी की माँ ने आचार्य जी से पूछा था—"इस बच्चे के ग्रह-नक्षत्र देखे कुछ आपने ? कैसा योगायोग है ?"

आचार्य जी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"होगा तो बड़ा प्रभावशाली और आयु भी बहुत बड़ी है, किन्तु पिता से सदा बैर रखेगा। वह तो कम रखेगा, पिता स्वयं अधिक रखेंगे और एक बड़े अरसे तक चिन्तित भी रहेगा ।"

दिन जाते देर नहीं लगती । दो वर्ष यों ही व्यतीत हो गये । फिर समाचार आया कि सत्यवती के लड़की हुई है । फिर आचार्य आये, फिर उनसे पूछा गया—"इस लड़की के ग्रह-दशा कैसे हैं ?

आचार्य जी ने बतलाया—"और सब बातें ठीक हैं, किन्तु इस लड़की के ऊपर कोई भाई न होगा और अगर होगा, तो बचेगा नहीं ।"

कल्याणी ने जब यह बात सुनी, तब आकाश की ओर हाथ जोड़कर, आँखें मूँदते हुए, उसके मुँह से निकल गया—"तुम बड़े समर्थ हो । परम पिता, तुम्हारे बड़े-बड़े हाथ हैं । तुम सब कर सकते हो ।"

कहते हैं कल्याणी की माँ ने उसी समय आचार्य जी से कहा कि मेरे इस नाती की जन्म-पत्री देखकर बताओ कि इसके भाई लिखा है या नहीं ।"

आचार्य जी ने इसका जो जवाब दिया था, तब तक वह कल्याणी के कान में पड़ चुका था ।

इस अवसर पर कल्याणी अपने यहाँ के मैनेजर के साथ गढ़ी गई थी । जो सामग्री सत्यवती ने उसके यहाँ भेजी थी, उससे भी कुछ अधिक शानदार सामग्री लेकर और गई थी घर की कार में बैठकर; सो भी दो घण्टे के लिए ।

सत्यवती उससे मिलकर बहुत प्रसन्न हुई थी और जब वह चलने लगी, तो बहुत रोई भी थी । उसने कहा था—"जो कुछ हुआ, उसको भूल जाओ दीदी । क्या एक पेड़ में दो डालियाँ नहीं होतीं ?"

कल्याणी मुस्कराई और उसने कह दिया—"होती हैं, मगर वे डालियाँ पेड़ से संलग्न होकर रहती हैं । बिलग नहीं की जातीं । और दूसरी बात

यह है कि डालियाँ तो रह भी सकती हैं और अधिक भी हो सकती हैं, पर एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं।"

सत्यवती ने पूछा—"उनसे मिलोगी नहीं ?"

कल्याणी मुस्कराते हुए बोली—"था ऐसा अवसर, पर उन्होंने उसे अपने हाथ से खो दिया। विजय के जन्मोत्सव पर अगर वे घड़ी भर के लिए चले आते—"

सत्यवती ने और भी अधिक प्रसन्न होकर कह दिया—"तो राजा बेटा का नाम तुमने विजय रखा है !"

"हाँ ! आचार्य जी ने यही नाम रखा है।"

सत्यवती ने कह दिया—"आचार्य जी ने इसके भी ग्रह-दशा तो देखे होंगे। उनसे कहना, इसका भी नामकरण-संस्कार वही कर दें।"

तब उसका नाम रखा गया—'नयनतारा'।

कीर्ति बाबू तो बहुत दिनों तक उपाध्याय जी के यहाँ नहीं गये, किन्तु इस दिन के बाद सत्यवती कल्याणी के यहाँ जाती-आती बनी रहती थी।

फिर अनेक वर्ष इसी प्रकार बीत गये।

विवाह चाहे पहला हो, चाहे दूसरा, पुरुष के जीवन में एक बार तो झंझानिल उपस्थित कर ही देता है। दूसरा विवाह करने पर दो-तीन वर्ष तो ऐसे निकल गये, जैसे किसी सरिता का प्लावन हो। फिर कालान्तर में जब जीवन साधारण स्तर पर आ गया, तब कीर्ति बाबू ने यह अनुभव किया कि साथी मिला अवश्य, मगर अपने जोड़ का न मिला। वह तेवर ही नहीं हैं इसमें। मुख पर वह भ्रू-भंगिमा ही नहीं उत्पन्न होती, वाणी पर वे शब्द ही नहीं उतरते, जिनको सुनकर उत्तेजित हो उठता था। उस तिलमिलाहट में भी एक आनन्द रहता था। वार्तालाप में वह उत्साह का एक ऐसा झकोरा उपस्थित कर देती थी कि कभी-कभी तो अप्रत्याशित रूप से भीतर से 'वाह' निकल ही जाती थी। सदा इस बात

की लालसा बनी रहती थी कि ज़रा-सा इसको छेड़ दिया जाय तो मज़ा आ जाय।

लगता था, मिजराब वही है मगर वीणा कहाँ है ? जो लघु-से-लघु स्पर्श में झनकार कर उठती थी।

नयनतारा के बाद सत्यवती के दो कन्याएँ और हुई थीं। एक पहले वर्ष के भीतर, जो नहीं रही, दूसरी दो वर्ष बाद। उसके बाद इधर पाँच वर्ष बीत गये और कोई सन्तान नही हुई। घर में तीन नौकर थे। एक मोटर ड्राइव करता और बाज़ार से सौदा ले आता था। एक माली था, जो लॉन और उसके पुष्पों, पौदों और गमलों की रक्षा और शोभा के लिए नियुक्त था। तीसरा कपड़े साफ़ करने, घर की सफ़ाई और चौका-बरतन के लिए। इनके अतिरिक्त एक विधवा ब्राह्मणी भी थी जो खाना बनाती थी। कभी-कभी सत्यवती अपनी भतीजी को भी बुला लिया करती थी। अकेले दिन काटे नहीं कटता था। पैसे की कमी नहीं थी और भोगने वाला जो था उसे दूध में पड़ी हुई मक्खी की तरह अलग फेंक दिया गया था। केवल इस दंभ के नाम पर कि अगर क्रोध मुझे आ जाय, तो उसका परिणाम यहाँ तक हो सकता है। लेकिन क्रोध ऐसी वृत्ति नहीं जो सदा एक रस बनी रहे। क्रोध का विलय सदा करुणा में होता है। क्रोधी व्यक्ति का पश्चात्ताप बड़ा ही कारुणिक होता है।

सत्यवती प्रायः सोचा करती—यह क्या बात है कि क्रोध ये करते हैं और उसका फल मैं भोगती हूँ।

उधर ज्यों-ज्यों दिन चलते जाते थे त्यों-त्यों कीर्ति के मन में आता था, बच्चे को कैसे यहाँ बुलाया जाय ? सत्यवती के कारण तो और भी नाक में दम था। एक दिन वह खाना खाकर पलँग पर पड़ी हुई थी कि कीर्ति बाबू जा पहुँचे। सत्यवती को उदास देखा, तो पूछ बैठे—"क्यों, क्या कुछ तबियत खराब है ?"

सत्यवती ने कोई उत्तर नहीं दिया, पर उसकी आँखों में आँसू आ गये।

कीर्ति ने पूछा—"बात क्या है, बतलाती क्यों नहीं ?"

सत्यवती आँसू पोंछने लगी। कीर्ति बाबू पलंग पर बैठ गये।

इतने में एक बिल्ली अन्दर आ गई। आगे-आगे वह थी पीछे-पीछे उसका छोटा गुटमुटार बच्चा। सत्यवती ने कहा—"विजय अब नौ-दस वर्ष का हो गया है। अगर वह यहाँ रहता, तो जीवन में कितने आनन्द की सृष्टि होती।" कथन के नये रूप में वह अपना यह मनोभाव भूल गई कि मेरी कोख से पुत्र का जन्म ही नहीं हुआ!

कीर्ति बाबू गम्भीर हो गये। बोले—"माना कि उससे सुख मिलता है, परन्तु उसकी माँ की कलह के कारण जो दुःख पैदा होगा उसे हम कैसे सहन करेंगे।"

"तुम जीजी को नहीं जानते। उनके मन में तुम्हारे लिये कितना स्थान है, यह भी तुम नहीं जान पाये। एक भ्रम तुमने अपने भीतर पाल रखा है। वह तुम्हारे मन को भोजन देता है और उसी ने तुमको मिथ्या प्रशंसा का पात्र लोलुप बना दिया है।"

"यह बात तुम अपने मन से कह रही हो, या किसी ने तुमको सिखलाया है?"

"मुझे स्वयं मेरी बुद्धि ने बताया है। मैं किसी के सिखाये-पढ़ाये पर नही चलती। मे जो प्रत्यक्ष देखती और अनुभव करती हूँ वही कहती हूँ और कहती हूँ समय पर। फिर यह विचारणीय नहीं है कि मैं किसी के सिखाये-पढ़ाये से कह रही हूँ या अपने मन से। विचारणीय तो यह है कि हम अपने भीतर से कितनी प्रेरणाएँ और भविष्य के लिए कैसा सुगम पथ निकाल सकते हैं। यह नहीं कि बाहर का कितना कर्दम और कलुष भीतर डाल चुके हैं और कंजूस के धन की भाँति उसे छिपाये बैठे हैं।"

कीर्ति ने अनुभव किया कि यह बात अपना कुछ अर्थ रखती है। मेरे अन्तस की पीड़ा का मर्म इसने भी समझा है। इसने भी अनुभव किया है कि हमारी एक समस्या है, हमारे सामने एक प्रश्न है।

पर व्यावहारिक-सा बनकर उसने उत्तर दिया—"देखो सत्य, मेरे सामने कोई दार्शनिक चर्चा मत करो! स्पष्ट कहो कि तुम चाहती क्या हो?"

सत्यवती पहले पलँग से उठकर नीचे खड़ी हो गई फिर एक अँगड़ाई लेती हुई बोली—"तुम इलाहाबाद क्यों नहीं जाते? मेरे ऊपर जो

लाञ्छन आ रहा है, उसे तुम समझने की चेष्टा क्यों नहीं करते ?"

"कैसा लाञ्छन ? कहीं कोई लाञ्छन नहीं आ रहा है।"

"अकेले तुम्हारे कहने से क्या होता है ! कौन नहीं जानता कि मेरे ही कारण तुम विजय को यहाँ नहीं ले आते ? एक मैं हूँ जिसके कारण तुम जीजी की उपेक्षा करते हो।"

"पर इस स्थिति में आकर अब यह प्रश्न ही कहाँ उठता है ? निर्वाह के लिए विजय की माँ ने न्यायालय की शरण ली। उसका जो परिणाम हुआ, उसका भोग उसे भोगने दो। डेढ़ सौ रुपये मासिक उसके निर्वाह भर के लिए बहुत हैं।"

"और विजय का ख़र्चा ?"

"विजय का ख़र्चा भी उसी में शामिल है।"

"और नयना के ऊपर कितना खर्च होता है ?"

इतने में नयनतारा खेलती हुई आ पहुँची। कमरे के अन्दर प्रवेश करती हुई बोली—"अम्मा, हमारा बिल्ला कहाँ है ?"

सत्यवती ने उत्तर दिया—"घूम रहा होगा कहीं इधर-उधर, किसी चुहिया की तलाश में।"

नयनतारा कॉनवेन्ट की श्वेत-नील वेश-भूषा में थी। बायें कान के ऊपर बेंजनी रिबन लगा था। बायें हाथ में एक रिस्टवाच और दायें ओर कन्धे पर लटकता हुआ, पुस्तकों-कापियों का बैग। कजरारी आँखों के उत्पल पलक गिराती-उठाती हुई एक बार नाक-भौं सिकोड़ कर आश्चर्य के साथ बोली—

"चुहिया की तलाश में ! मगर अम्मा, यह बिल्ला चुहिया क्यों खाता है, जब उसे दूध पीने को मिलता है ?"

इधर कुछ दिनों से सत्यवती को स्वामी का कुछ नया परिचय मिलने लगा था अतएव कुछ स्पष्ट न कहकर उसने कह दिया—"अब इस बात का मर्म अपने बाबू से पूछ लो।"

मुसकराती हुई सत्यवती इतना कहकर कमरे से बाहर चली गई। कीर्ति बाबू उसकी इस मर्मवाणी को सुनकर पहले कुछ मुस्कराये फिर नयनतारा की ओर देखकर गम्भीर हो गये।

विजयादशमी की छुट्टियाँ अगले दिन से प्रारम्भ हो रही थीं। अतएव उसी दिन नयनतारा को साथ लेकर इलाहाबाद जाने का उन्होने निश्चय कर लिया।

रात के नौ बजे थे। नीलाबल्ब कमरे के बीचों-बीच दीवार पर जल रहा था। कीर्ति बाबू पलँग पर लेटे हुए थे। सुक्खू पैर दाब रहा था।

कीर्ति बाबू ने पैर समेटते हुए कहा—"तुमको पैर दाबने का शऊर नहीं है। तुमको अँगुलियाँ तक तो चिटकाना आता नहीं।"

सुक्खू ने अवसर देखकर जवाब दिया—"मालिक, सचमुच नहीं आता है और सच पूछो तो सेवा का कोई काम मुझे नहीं आता। मगर एक पेट है, जो करा लेता है। बाप जुवारी थे। यही एक लत काफ़ी थी। फिर अफ़ीम खाने लगे। एक दिन हारकर घर में लौटे तो मालूम नहीं क्या सूझी कि अफ़ीम कुछ ज्यादा खा ली। फिर ऐसे सोये कि हमेशा के लिए सो गये। अम्मा ने चक्की पीसकर, मजदूरी करके, किसी तरह पाला-पोसा। पढ़ाई हो नहीं सकी। इसीलिए ऐसी नौकरी करनी पड़ी। नहीं तो मालिक, मेरे घर में कमी तो किसी बात की थी नहीं।"

अँगड़ाई लेते हुए कीर्ति बाबू बोले—"अच्छा जाओ।"

इतने में आ पहुँची सावित्री और कुर्सी पर बैठते ही बोली—"सो गये क्या ?"

कीर्ति बाबू ने उसी ओर मुँह कर लिया, जिधर सावित्री बैठी हुई थी और अण्डी के चादर से सारा शरीर ढकते हुए पूछा—"विजय सो गया क्या ?"

सावित्री ने उत्तर दिया—"हाँ। जीजी ने जब बहुत मनाया, तब किसी तरह से मान पाया है। कहता था—"मेरे पिता हैं कहाँ ? पिता ही होते, तो तुमको कर्म-भोग के लिए यहाँ मामा के घर दिन काटने पड़ते ! मैंने भी उसे बहुत समझाया, यहाँ तक कह दिया कि अच्छा कहीं

मत जाओ, बस ! तब किसी प्रकार उसकी सिसकियाँ बन्द हो पाई हैं।"

नयनतारा कीर्ति बाबू के पार्श्व में पड़ी सो रही थी। उसी की केशावलि सुहलाते हुए बोले—"अब तुम्ही बताओ, मैं क्या करूँ।"

सावित्री ने बात टालते हुए उत्तर दिया—"उहँ बच्चे ठहरे। झगड़ते ही रहते हैं। बड़े होने पर आप-से-आप आ मिलेंगे। छूटकर जायँगे कहाँ ?"

इसी प्रकार दिन चलते गये और ग्रन्थि पर पानी पड़ता गया। इण्टर कर लेने के बाद जब यह प्रश्न उठा कि नयनतारा को पढ़ने के लिए कहाँ भेजा जाय तो सत्यवती ने कहा—"मेरे विचार से अब उसे इलाहाबाद भेज देना चाहिये।"

कीर्ति बाबू ने थोड़े रुककर उत्तर दिया—"इलाहाबाद क्यों ? कानपुर ही में क्यों न पढ़ाया जाय।"

सत्यवती ने उत्तर दिया—"नयना का कहना है कि यहाँ के कालेज 'फैक्ट्री' बन गये हैं। पढ़ाई की ओर प्राध्यापकों का बिलकुल ध्यान नहीं रहता। प्रायः सभी लोग अतिरिक्त समय में 'ट्यूशन' करके पहले मकान बनवाने के फेर में रहते हैं फिर दूकानदारी के।"

"अच्छी बात है मगर इलाहाबाद में वह रहेगी कहाँ ?"

सत्यवती बोली—"रहेगी 'होस्टल' में। जब उसका मन होगा, तब अपने मामा के यहाँ हो आया करेगी।" किन्तु जब कीर्ति बाबू उसे इलाहाबाद ले गये और उपाध्याय जी के यहाँ ठहरे तब उपाध्याय जी की पत्नी सुमित्रा ने कहा—"छात्रावास में नहीं, वह हमारे यहाँ रहेगी।"

"कीर्ति बाबू मुस्कराने लगे। अच्छी बात है ऐसा ही सही। इसी प्रकार अगर विजय की माँ की नाराज़गी दूर हो जाय तो बड़ा अच्छा हो।"

सावित्री हँसने लगी। बोली—"मैं कल्याणी बिटिया से कहूँगी। कहूँगी कि कीर्ति बाबू जब तुमको प्रसन्न करने के लिए, तुम्हारे पास नयना तक को रखने को तैयार हैं तब तो तुमको सन्धि कर लेनी चाहिये।"

कीर्ति बाबू ने उत्तर दिया—"जो हो गया सो हो गया। उसके लिए

अब मैं कर ही क्या सकता हूँ।"

सावित्री के मुँह से निकल गया—"तो ऐसा क्यों नहीं करते कि कल्याणी बिटिया को तुम अपने साथ लेते जाओ, और सत्यवती बिटिया को यहाँ भेज दो।"

कीर्ति बाबू थोड़ी देर चुप रहे, फिर कुछ सोचकर मुस्कराते हुए बोले—"यह बात मेरे मन में कई बार आ चुकी है यद्यपि मैंने कभी प्रकट नहीं किया है। आज तुम्हारे मुँह से वही बात सुनकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई, मैं कह नहीं सकता। अच्छा तो है, अगर उनको कोई आपत्ति न हो तो मैं उन्हें ले जाने को तैयार हूँ।"

नन्दोई और सरहज में जब यह बातें हो रही थीं, तब चिक की ओट में खड़ी कल्याणी छिपकर चुपके-चुपके सुन रही थी। ज्यों ही कीर्ति बाबू की बात समाप्त हुई त्यों ही चिक उठाकर भीतर प्रवेश करती हुई बोल उठी—"जो लोग वर्त्तमान में विश्वास रखते हैं उनको अतीत के साथ खिलवाड़ करने की क्या आवश्यकता है। मूल प्रश्न है नैना को पढ़ाने का। वह यहाँ पढ़ेगी ही। शेष बातों में कोई दम नहीं है। क्योंकि अर्ध सत्य का मुँह मिथ्या से भी काला होता है।"

इस प्रकार टका-सा जवाब देकर जब कल्याणी कमरे से बाहर हो गई, तब कीर्ति बाबू एकाएक हतप्रभ हो उठे और सावित्री स्तब्ध, मौन।

दूसरे दिन नयनतारा को वहीं छोड़ कीर्ति बाबू कानपुर चले गये।

: २ :

रस्सी में जब एक बार गाँठ पड़ जाती है, तब यों ही उसका खुलना दुष्कर हो जाता है। पर यदि कहीं उस गाँठ पर पानी पड़ गया, तब तो वह और भी दृढ़ किंवा स्थायी बन जाती है।

कीर्तिदेव और कल्याणी के बीच जो भेद पड़ गया, वह किसी प्रकार जब दूर न हो सका, तो उसका परिणाम यह हुआ कि पिता के प्यार का पूरा उपभोग करने का अवसर नयनतारा को मिला। इधर कालान्तर में जब ज़मींदारी उन्मूलन का अवसर आया, तब उपाध्याय जी दुर्दैव के शिकार होकर वकालत करने लगे। उनकी स्थिति में एकाएक इतना अन्तर पड़ गया कि वे विजय की पढाई का भार भी न सम्हाल सके। परिणाम यह हुआ, विजय की शिक्षा का क्रम बी० ए० के बाद स्वभावतः रुक गया।

विजय ने हाथ-पैर बहुत मारे, पर वे नौकरी में कहीं स्थिर न रह सके। एक जगह तो इस बात पर इण्टर कालेज के प्रिन्सिपल से खट-पट हो गई कि वे अपने अधीनस्थ अध्यापकों को वेतन यदि सौ रुपये देते, तो हस्ताक्षर एक सौ तीस पर करवाते थे। कभी बात उठती भी, तो प्रबन्ध-कारिणी समिति के सामने स्पष्ट कह देते कि संस्था के हित में ही मुझे ऐसा करना पड़ता है। गीता का यह महोपदेश सदा उनकी जिह्वा पर रहता—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'।

अपने उद्दण्ड स्वभाव के कारण एक दिन विजय ने कह दिया—"किसी बेईमान व्यक्ति को ऐसा उपदेश देने का अधिकार नहीं है।"

प्रिन्सिपल साहब अब वृद्ध हो चुके थे। वे संघर्ष में आने से डरते थे। ऐसा अपमानजनक आक्षेप वे सहन न कर सके। बोले—"अपना कथन वापस लीजिये और क्षमा माँगिये।"

विजय के मुँह से निकल गया—"वे कोई और होंगे। आपने मुझे समझा क्या है? आपको मालूम होना चाहिये कि मैंने अपने श्रीमान्

पिताजी तक से क्षमा नहीं माँगी और सिद्धान्त के विषय में मैं परम पिता परमात्मा से भी क्षमा नहीं मागूंगा। भरण-पोषण ही जिनके जीवन का आदर्श है ऐसे मनुष्य नामधारी जानवर के सामने मै क्षमा माँगूंगा ? छिः।"

प्रिन्सिपल महोदय क्षण भर उन्हें देखते रह गये और अन्त में जब वे अशिष्ट हो उठे, तो विजयदेव उनके कमरे से तत्काल बाहर चले आये। कहते हैं, जिस दिन उन्होंने अपने कालेज से बिदाई ली, कस्बे के सभी सम्भ्रान्त जनों ने उनके सम्मान में एक पार्टी दी। कार्य-कारिणी समिति के जो सदस्य उनके विरोधी थे, उन्होंने भी अपने संक्षिप्त भाषणों में यह स्वीकार किया कि शर्मा जी हमारे कालेज के गौरव रहे हैं। हमारे बच्चे इनके कार्य-काल में इनसे बहुत संतुष्ट और परम प्रभावित रहा करते थे। एक सदस्य ने तो आँखों में आँसू भरकर यहाँ तक कह डाला—"हमें दुःख इसी बात का है कि असमय में ही हमारा स्वप्न भंग हो गया। हम तो अगले दस वर्ष के भीतर ही इन्हें एक सफल प्रिंसिपल की कुर्सी पर देखना चाहते थे !"

बिदा के समय जब विजय अपनी ट्रेन पकड़ने के लिये रेलवे-स्टेशन पर आये, तो लगभग डेढ़ सौ छात्र उनकी विदाई के लिए उपस्थित थे। गार्ड हरी झंडी दिखा रहा था; ह्विसिल बोल रही थी; एंजिन सीटी दे रहा था। गाड़ी जब चल पड़ी, तो बीसों छात्र रूमाल से अपने आँसू पोंछ रहे थे। कहते हैं, ऐसा दृश्य संस्था के बीस वर्ष के जीवन में पहले कभी उपस्थित नहीं हुआ था।

इतना सब होने पर भी अपनी उद्दण्ड प्रकृति में वे किसी प्रकार का परिवर्तन न कर सके। उनके वस्त्र सदा स्वच्छ रहते थे। वे कानपुर नगर में राजमार्ग पर कभी पैदल न निकलते थे। रेस्तोराँ में बैठकर जब कभी चाय-पान करते, तो बिल का भुगतान स्वयमेव करते, चाहे कोई अमीर-ज़ादा ही उनकी बगल में क्यों न बैठा हो। इस स्थिति का एक दुष्परिणाम भी उन्हें कभी-कभी भोगना पड़ता था। प्रायः एक स्थान पर अधिक काल तक रह जाना उनके लिए सम्भव न हो पाता। वे अपने घनिष्ठ-से-घनिष्ठ मित्र के यहाँ सो सकते थे; जलपान कर सकते थे; खाना भी खा लेते थे, लेकिन पैसा माँगने के लिए उनका मुँह न खुलता। इसलिए कभी-

कभी कई दिनों तक वे घर से बाहर न निकल पाते थे।

इन दशाओं में विजय कितने दिनों तक कालक्षेप करते ? क्योंकि उन मित्रों पर भी इसकी प्रतिक्रिया होती रहती थी, जो उनके प्रति सक्रिय सहानुभूति रखना चाहते थे।

एक बार कही गोविन्द ने उससे कह दिया—"चलो विजय, आज एक चित्रकथा देख आयें।" विजय ने उत्तर दिया—"मैं कैसे जा सकता हूँ ?"

"क्यों, जा क्यों नहीं सकते ? टिकट का पैसा जब मैं देने को तत्पर हूँ, तब तुमको इसमें आपत्ति करने का अवसर कहाँ है ?"

"आपत्ति मुझे आप पर नहीं, उस व्यवस्था पर है, जो एक व्यक्ति को ऐसे अवसर पर उदार और दूसरे को दयनीय बनाती है। न मैं तुम्हारी इस कृपा पर विश्वास करता हूँ, न उदारता पर। मैं तुमको यह सोचने का अवसर ही नही देना चाहता कि हार्दिकता की इस अभिव्यक्ति में तुम मुझसे उच्च हो।"

"तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है। तुम बोलते तो हिमालय की चोटी से हो, पर सामर्थ्य इतनी भी नही रखते कि अपने पैरों खड़े हो सको।"

"और तुमको बात करने की भी तमीज़ नही है। तुमको मेरी बात का और कोई उत्तर न सूझ पड़ा, तब तुम मेरा अपमान करने पर तुल गये।"

कथन के साथ विजय उठकर खड़े हो गये।

हँसकर गोविन्द बोला—"बैठो-बैठो, विजय। बिगड़ो मत बहुत।"

विजय ने द्वार के बाहर होकर उत्तर दिया—"बस माफ़ करो मुझे। मैं अब तुमसे तभी मिलूँगा, जब अपने पैरों खड़ा हो जाऊँगा।"

चैत्र मास को व्यतीत हुए अभी केवल दो ही दिन हुए थे। दोपहर होते ही पवन-दोलन में गरमाहट प्रतीत होने लगी थी। बी० ए० की परीक्षाएँ समाप्त हो गई थी। नगर के कालेजों के कोलाहलपूर्ण छात्रावास अब सुनसान, उदास और मूक हो गये थे। विजय अब पहले की अपेक्षा घर में अधिक बैठने लगा था। छोटी बहन नयनतारा बी० ए० प्रथम

वर्ष की परीक्षा में बैठ रही थी। गाड़ी से उतर कर जब वह पड़ोसियों की आँखों से बचती, संकोच से सिकुड़ती हुई घर में प्रवेश करने लगती, तो भूख के मारे शिथिल-व्याकुल-सी प्रतीत होती थी।

प्रसन्नमन उपाध्याय अपनी बैठक में मित्रों और परिचितों के बीच गद्दी पर आराम से बैठे विविध मंत्रणाओं के माध्यम से उपदेश देने की स्थिति में जा पहुँचते थे। इच्छा के प्रतिकूल वे नाक पर मक्खी भी कभी न बैठने देते थे। विजय उनका भानजा था। उसके ब्याह की बात कभी छिड़ती तो उनके पास प्रायः नपे-तुले शब्द रहते—"आप जानते हैं, विजय अध्ययनशील लड़का है।···फिर आपसे छिपा नहीं है माई लार्ड। आज की दुनियाँ के यह पढ़े-लिखे वयस्क लड़के कितने स्वतन्त्र विचार के हो गये हैं। इसलिए ऐसे कोमल तथा अतिसंवेदनशील विषय पर उससे कुछ कहना अथवा उस पर दबाव डालना मेरे खयाल से अनुचित होगा। जब तक वह किसी योग्यतम पद पर नियुक्त नहीं हो जाता, तब तक उससे इस विषय में एक शब्द तक नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में मेरे खयाल से जन्माङ्क देने में कोई लाभ नहीं है माई लार्ड।"

परिणाम यह होता कि किसी साधारण व्यक्ति के यहाँ विजय का विवाह होने की स्थिति ही न उत्पन्न हो पाती थी।

विजय का एक मित्र था ब्रजमोहन। वह उसकी बैठक में नित्य घण्टों जमा रहता। दोनों साथ ही घूमने जाते। कभी-कभी साथ ही भोजन भी करते। नाक छिदी हुई और केश बढ़े हुए। स्वभाव का शीलवान, विनयी और अवलम्बित।

कभी-कभी उपाध्याय जी के मन में आता, ब्रजमोहन से इस विषय में काम लिया जा सकता है। यों तो दुनियाँ काफ़ी ऊँची-नीची है, रास्ते भी कहीं सीधे और कहीं टेढ़े-मेढ़े लेकिन बुद्धि से काम लिया जाय, तो यही विदित होगा कि दुनियाँ गोल है और उसके रास्ते भी यथेष्ट सीधे-सादे। और सच पूछो तो यहाँ सब कुछ सम्भव है। जब कभी ऐसी बातें उपाध्याय जी के मन में आतीं, तब वे अपने आप ही मुसकराने लगते।

विजय का स्वभाव कुछ विचित्र था। समझ में भी वह कम आता था। बनियान और पाजामा पहने वह घण्टों आत्मलीन रह कर कमरे में इधर

से उधर टहलता, ठहरता और खड़ा-खड़ा आकाश की ओर इकटक कुछ देखता रहता, फिर खिड़की बन्द कर लेता। कुर्सी पर बैठकर पुस्तकों के पन्ने पलटता और जब कुछ स्थिर न कर पाता तो चारपाई पर जाकर चुपचाप लेट रहता।

वह इच्छाचारी भी कम न था। कभी भोजन में देर कर देता। कभी सोकर ही देर से उठता। प्रायः घूमकर लौटने में देर हो जाती। प्रायः घर के आवश्यक से आवश्यक कार्य उसकी स्मृति में धुँधले पड़ जाते। तिमंज़िले पर उसकी बैठक के दायें ओर एक खिड़की थी, जिससे नगर का पूर्वी भाग, मीलों तक फैला दिखलाई पड़ता। पक्के और खपरैल से आवृत्त छोटे-बड़े मकान, जिनके निर्माण में कोई क्रम नहीं था; कहीं-कहीं पीपल और नीम के सघन वृक्ष, मस्जिदों की मीनारें और मंदिरों के कंगूरे, मूक और अनकही कामनाओं के इतिहास बने हुए, सिर उठाये चुपचाप खड़े रहते। निकट के मकानों की मुस्लिम नारियाँ, जो घर के बाहर क़दम तक न रखतीं, जब बुर्क़े से सारा शरीर ढक लेतीं और वे युवतियाँ जो अपने कालेजों को जाते समय अपने कमरे से ही बुर्का डाल कर बाहर निकलतीं, द्वार पर खड़ी गाड़ी पर चढ़ते हुए चप्पल से पैर मात्र ही खुए हुए दिखलाई पड़ते, मकान की खुली खिड़की से कभी-न-कभी दिखलाई पड़ ही जाती थीं।

वे रमज़ान के दिन थे। दिन भर उन्हें उपवास में भूखा-प्यासा रहना पड़ता। प्यास लगने पर भी गिलास भर पानी पी लेना उनके लिए एक वर्जना थी। शीतल पवन-झकोरों में रात जब ढल जाती, साढ़े तीन बजे ढोल पिटता और ढोल पीटने वाले सावधान करते हुए कहने लगते—"रमज़ान के प्यारे उठो, अल्लाह के बन्दे उठो।" तब अपने तिमंज़िले मकान की ऊपरी विस्तृत छत पर सोता हुआ विजय यकायक जग उठता। न जाने कहाँ से, कोई उसके मन के भीतर फुसफुसाने लगता—अब रशीदा को एक बार पुनः कुछ खाने का अवसर मिलेगा!—और इसके साथ ही वह सोचने लगता—कैसी अद्भुत बात है कि क्रिश्चियन हो जाने पर भी डॉक्टर साहब की पत्नी हमीदा और उनकी बेटी रशीदा अब तक मुस्लिम संस्कारों और रूढ़ियों को त्याग नहीं सकी हैं।

विजय के अध्ययन का कमरा दूसरी मंज़िल पर था। इस मंज़िल का शेष भाग किराये पर उठा हुआ था। उसके कमरे में पूर्व की ओर जो खिड़की थी, वह या तो खुलती न थी, और अगर कभी खुलती तो उसका एक निश्चित समय रहता था।

बात यह थी कि इस मकान से लगा हुआ, जो दूसरा मकान था, वह इस मुहल्ले के प्रसिद्ध डॉक्टर अमजद गोम्स का था। दोनों मकानों के बीच जो गली थी, वह इतनी सँकरी थी कि यदि कभी पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व दोनों ओर से एक-एक व्यक्ति आकर आगे बढ़ने लगते, तो किसी एक के दीवार से सटे बिना, दूसरे का निकलना दुष्कर हो जाता और संयोग से दूसरी मंज़िल पर जहाँ विजय के अध्ययन का कमरा और उसकी खिड़की पड़ती थी, उसके सामने, गली के ठीक उस पार, डॉक्टर साहब के अन्तःपुर का स्नानागार था।

डाक्टर गोम्स का धन्धा अच्छा चलता था। सायं-प्रातः तो वे अपने निदान-गृह में बैठते ही थे। इसके अतिरिक्त रोगियों के देखने के लिए अपनी गाड़ी पर दिन भर दौड़ते रहते थे। यहाँ तक कि खाना खाते-खाते उन्हें प्रायः तीन बज जाते थे। उनके मकान की सजावट में कोई कमी न रहती। कमरों का फ़र्श काफ़ी चिकना और साफ़ रहता था। दीवारें चित्रों से सुशोभित रहतीं। हमीदा की अपनी बैठक का फ़र्श साबुन से धोया जाता और गीले कपड़े और ब्रुश से बारम्बार स्वच्छ होता रहता था। स्नानागार संगमरमर का था। उसमें जो खिड़की थी, उस पर सदा एक चिक पड़ी रहती। जिसका भीतरी आवरण आसमानी रंग का था।

उपाध्याय जी और डाक्टर साहब में पहले बहुत मैत्री थी। पर इधर नगर-पालिका के चुनाव में सदस्यता के लिए एक ही क्षेत्र से एक साथ दोनों के खड़े हो जाने से परस्पर कुछ मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया था। पर अब ये बातें पुरानी हो गई थीं और दोनों के मन का मैल भी बहुत कुछ मिट चुका था। समय ने करवट ले ली थी। इस कारण हाथ मिलाने, एक साथ खड़े होकर दूकान पर पान खाने या कहीं किसी बैठक में एक साथ या आमने-सामने बैठकर चाय पीने की नौबत ही न आती थी।

यह सब यथाविधि था; किन्तु दोनों परिवारों के बच्चों के मन के तार अभी टूट न पाये थे। कहीं कोई एक रेशा भले ही कमज़ोर पड़ गया हो, पर डोरा बहुत कुछ जुड़ा हुआ था। डॉक्टर साहब का व्यवसाय ही कुछ इस प्रकार का था कि आवश्यकता पड़ने पर दोनों परिवारों के बच्चे बिना किसी प्रकार रोक-टोक के मिलते-जुलते रहते थे।

डॉक्टर साहब के पुत्र का नाम था मुज़फ़्फर गोम्स और पुत्री का रशीदा गोम्स। दोनों विजय और नयनतारा के साथ उठते-बैठते और मनोविनोद में भाग लेते रहते थे।

एक ऐसा भी समय था, जब डॉक्टर साहब और उपाध्याय जी के ये बच्चे एक साथ आँगन में बैठकर ताश और कैरम खेलते थे। विजय को मुज़फ़्फर के साथ बैठकर चाय पीने में कभी आपत्ति न होती थी और रशीदा तो नयनतारा के साथ घण्टों बैठी रहती थी।

क्रिश्चियन कालेज के लॉन में छात्रावास के विद्यार्थी जब बैडमिण्टन खेलते, तब भी उनमें एक सहयोग भाव बराबर बना रहता था।

दोनों परिवारों के मेल-जोल ने ऐसे दिन भी देखे हैं, जब रशीदा विजय का फाउन्टेनपेन लेकर इस भावना से परीक्षा में बैठती थी कि पेन के स्वामी होने के नाते विजय का कुछ प्रभाव तो उसे मिल ही जायगा। उसकी 'चेम्बर्स इंगलिश डिक्शनरी' तो सदा ही विजय की आलमारी में बनी रहती थी। एक-आध बार रशीदा ने चाहा कि उसे उठा ले जाय, तो उसकी गोल-गोल, बड़ी-बड़ी आँखों को निहारते-निहारते नीचे का होंठ हिलाकर विजय ने उत्तर दिया—"जब तुम ससुराल चली जाओगी, तब तो इसे छोड़ न जाओगी। इसलिए···।"

आगे विजय कुछ कह न सका।

रशीदा ने भी इस आशंका से खिड़की बन्द कर ली कि कहीं आँखें मन का भेद न खोल दें।

उन दोनों में जैसे प्रीति-प्रसंगों में विशेष अन्तर न था, वैसे ही लड़ा-

इयाँ भी उनमें कम नहीं हुई थीं। मानसिक संघर्ष भी उनमें चलता रहता था। एक बार वर्ष भर बोल-चाल बन्द रहने के बाद विजय मुजफ़्फर से तब मिला था, जब आगरे के मेडिकल कालेज में भरती हो जाने के कारण वह इस नगर से प्रस्थान कर रहा था। इसका कारण यह था कि क्रिसमस के अवसर पर जो मिठाइयाँ हमीदा ने विजय और नयनतारा को खाने के लिए भेजी थी वे सब की सब चार दिन बाद एक अन्धे भिखारी को दे दी गई थीं और संयोग की बात कि जब सुखराम उन मिठाइयों को उस अन्धे भिखारी की झोली में डाल रहा था, तब स्वयं मुजफ्फर ने उसे देख लिया था।

एक बार कुछ ऐसा हुआ कि संयोग से 'बेदिंग ब्यूटी' देखने के लिए दोनों अपने-अपने मित्रों के साथ 'इन्सपिरेशन थिएटर' में अकस्मात् आ मिले। रशीदा नयनतारा से लिपट गई और मुजफ्फर ने इस खुशी में एक साथ बैठकर सबको चाय पिलाई। फिर यह भी निश्चय हुआ कि कल फोटोग्राफ होगा। कुछ दिनों के बाद यह बात किसी प्रकार हमीदा के कान में जा पहुँची। वैसे चाहे वे इसको टाल भी जाती पर उस फोटोग्राफ़ की एक कापी उनके सामने थी। अतः उन्होंने उपाध्यायजी से कह दिया—"भाई जान, जरा अपने विजय को सँभालिये।"

उस अवसर पर उपाध्याय जी ने तपाक से उत्तर दिया— "हमीदा बहन, आज यह तुम क्या कहने लगी। विजय क्या केवल मेरा है? तुम्हारा नही ?"

हमीदा पहले तो निरुत्तर हो उठी, फिर कुछ मुसकराती हुई बोली— "कहते तो तुम ठीक ही हो भाई।"

परिणाम यह हुआ कि बात आई-गई हो गई। बाहर की बात जरूर आई-गई हो गई, किन्तु भीतर की स्थिति विषाक्त हो उठी।

रशीदा अब अठारह की हो ही चुकी थी। यौवनागम कभी-न-कभी एक-न-एक आनन्द-झकोर उपस्थित कर ही देता। कभी रशीदा की साड़ी का अंचल कन्धे से खिसक कर भूमि-तल पर फिसलने लगता, आधुनिकतम कंचुकी का युग्म-कन्दुक-मिलन-द्वार अनावृत्त हो उठता। परिणाम यह होता, हमीदा की दृष्टि जो कही इस स्थिति-विशेष पर पड़ जाती, तो

वह तत्काल बोल उठती—" इस बाडिस की भी क्या ज़रूरत है ? इसको भी उतारकर फेंक क्यों नहीं देती शैतान की बच्ची !"

"माफ़ करना मामा। हवा के झकोरों पर तो दुनिया की हुकूमत चल नहीं सकती। आदमी अलबत्ता बेबस रहता है। इसलिए मुझको जो चाहो सो कह लो।"

ऐसी बात न थी कि हमीदा वयः सन्धि प्राप्त तरुण लड़की की अन्तश्चेतना को समझती न हो। किन्तु मुख्य कठिनाई यह थी कि रशीदा यदि उसके साथ चर्च में जाती भी, तो सदा उसके ही पास बनी रहती थी। कभी किसी नवयुवक के साथ उसने उसे बात करते नहीं देखा था। एक बार चर्च में जॉन्सन नाम का एक लड़का उसके पीछे खड़ा 'सरमन' पढ़ रहा था। कही उसके मुँह से निकल गया—"मुझे बड़ा खेद होता है, जब मैं देखता हूँ कि मेरे पास ही खड़े हुए लोग प्रभु ईसू की पवित्र वन्दना में भाग नहीं लेते।"

रशीदा ने एक बार घूरकर उस युवक की ओर देखा और कह दिया "प्लीज़ माइन्ड योर ओन बिजिनेस। डोन्ट टॉक् इरेलेवेन्ट।"

हमीदा ने यह बात सुन ली और चर्च से अपने मकान को लौटने लगी तो उसने कह दिया—"मेरी समझ में नहीं आया रशीदा कि तुमने उस नवयुवक को ऐसा रूखा उत्तर क्यों दिया। फिर उसने कोई गलत बात भी नहीं कही थी ?"

"हूँ, गलत बात भी नहीं कही थी। सरमन के जोर-जोर से पढ़ने में ही अगर प्रभु ईसा मसीह की आत्मा को विशेष सुख मिलता हो, तब तो उस हाल के अन्दर हर एक के हाथ में एक-एक ढोल दे देना, अथवा सभी आगतजनों से 'बैन्ड' बजवाना अधिक उपयोगी होगा ?"

"बस कर रशीदा। मैं समझ गई। मुझे सब पता है कि आजकल की लड़कियाँ प्रभु ईसा मसीह को किस सीमा तक पूजती हैं। लेकिन मैं तो सिर्फ यह कह रही थी कि यही बात क्या और शिष्टता के साथ मुस्करा

कर नहीं कही जा सकती थी ?"

रशीदा समझ गई थी कि मामा प्रकारान्तर से क्या कह रही हैं। इस लिए साथ बैठे लोगों के सामने उस बस में उसने इस विषय में कुछ नहीं कहा।

दो दिन बाद जब हमीदा मकान के दरवाजे के पास खड़ी हुई फल वाले से मोल-भाव कर रही थी कि यकायक जॉन्सन उधर से आ निकला। उसे देखकर 'नेम प्लेट' को पढ़ता हुआ वह थोड़ा ठहर गया। तब भी उसके मन में आया कि हो-न-हो यह रशीदा से मिलने आया है। परन्तु उसको ध्यान आ गया कि हो सकता है यह बात रशीदा को अच्छी न लगे। फलतः उसने उसे बुलाया नहीं। यद्यपि जॉन्सन बहुत सज-धज कर आया था। उसकी पैन्ट की क्रीज़, उसकी सुन्दर टाई का रंग काला और आसमानी मिला हुआ उसके नये सूट पर बहुत शोभन लग रहा था।

केले, संतरे और लीची टोकरी में लेकर जब वह अन्दर गई तो अपनी छोटी बहन फ़ातिमा से कहने लगी—"जॉन्सन अभी दरवाज़े से निकल गया है।"

फ़ातिमा ने उसके गले में बाँह डालकर धीरे से कह दिया—"मुझे वह दिन याद हैं जब तुमसे मिलने के लिए, तुम्हारी सिर्फ एक झलक देखने के लिए गिलबर्ट, मरकरी, राबिन और मिस्टर गोम्स कभी बस के अड्डे पर, कभी दरवाज़े की सड़क के लैम्प-पोस्ट के पास, कभी क्रिश्चियन कालेज के मुख्य फाटक पर और कभी बड़े चौराहे के नीला आसमान रेस्टोराँ के प्रवेश-स्थल पर खड़े मिलते थे।"

कथन के साथ उसके होंठों पर मुस्कराहट झलक उठी।

फ़ातिमा का इतना कहना था कि हमीदा के मुँह से निकल गया—"हट पगली।"

रशीदा उस समय केटली के गर्म पानी में चम्मच से चाय डाल रही थी। आन्टी की बात उसने सुन ली थी। समझ गई कि यह बातें मुझको सुना कर कही जा रही हैं। अतः उसने कह दिया—"मामा कल तुम जितने ख़रबूज़े लाई थीं वे थे तो तीन-चार जाति के मगर उनमें मीठा कोई भी न निकला।"

हमीदा ने उत्तर दिया—"हुश। वह लखनउवा खरबूज़ा कम मीठा था ?"

तपाक से रशीदा ने उत्तर दिया—"माफ़ करना मामा, निगाह अपनी-अपनी, पसन्द अपनी-अपनी।"

कथन के साथ रशीदा चीनी लेने के लिए पास के ही कमरे में जा रही थी कि हमीदा ने कह दिया—"देखा ? समझती खूब है।"

जेठ मास के दिन थे। रात में दो-तीन बार पलँग बाहर से भीतर, भीतर से बाहर इसलिए डालना पड़ा कि पहले उमस हुई, फिर बूँदा-बाँदी हुई, फिर ठंडी हवाएँ चली और साथ में टपाटप बूंदें पडने लगीं। पहिले धीरे, फिर एक अर्राटे के साथ। बड़ी कठिनाई से नींद आई। फिर रात को लगभग दो बजे हमीदा को प्यास लगी। सुराही से पानी लेकर उसने दो गिलास खाली कर दिये। इसके बाद, यकायक उसकी दृष्टि जो रशीदा पर पड़ी, तो उसने देखा रशीदा बेसुध पड़ी हुई सो रही है। उसका पेटी-कोट एक ओर पैर की गाँठ के ऊपर तक खुल गया है और वक्ष-प्रान्त तो बिल्कुल निरावरण हो गया है।

यकायक उसके कलेजे पर साँप लोट गया। चुपचाप उसने पास ही पड़ी हुई जार्जेट की एक झीनी साडी उसके ऊपर डाल दी और दाँये पैर का खुला हुआ भाग पेटीकोट से पूरी तरह ढँक दिया।

धीरे-धीरे हमीदा का यह सन्देह पक्का होता जा रहा था कि कहीं न कहीं दाल में काला ज़रूर है। फिर संयोग से एक घटना हो गई। मकान भर का कूड़ा जब बाहर ले जाने के लिए नौकरानी टोकरी उठाने को तत्पर होती, तभी एक बार हमीदा सरसरी दृष्टि से उसका निरीक्षण कर लेती थी। उस दिन अकस्मात् उस ढेर में उसे एक ऐसा कागज़ दीख पड़ा, जिसकी गोली बनी हुई थी। हमीदा ने झट उसे उठा लिया। फिर जो उसकी सिकुड़नें खोलकर देखा, तो यह देखकर वह अवाक् हो उठी कि उसमें वी० और डी०—इन दोनों अक्षरों को लेकर एक मोनो-

ग्राम बनाने के नाना प्रयोग किये गये है और अक्षरों की लेखन शैली रशीदा की है।

उसने रशीदा के पास जाकर पूछा —"यह मोनोग्राम तूने बनाया है ?"

रशीदा इनकार न कर सकी।

अन्दर बैठी हुई छोटी बहन फातिमा और हमीदा दोनों में इसी विषय मे अभिसन्धि होती रही। फातिमा ने कहा —"मेरे ख्याल से इसको चाचाजी के पास अलीगढ भेज देना चाहिये।"

हमीदा ने पहले तो कह दिया—"हां, चाचा जी के पास पहुँच जाने पर कोई खतरा नही रहेगा।"

फ़ातिमा बोली—"सुनती हूँ चाची जब कभी कही जाती हैं, चाचा साथ में रहते है। बंगले में सब स्त्रियाँ ही नौकर है, पुरुष एक भी नही।"

"पुरुष एक भी नही !" सुनते ही हमीदा पुनः चिन्ता में पड गई।

"अपराह्न में डॉक्टर साहब जब मकान में आये, तो हमीदा ने उस कागज़ को उनके सामने पेश करते हुए कहा—"तुम भी देख लो, अपनी लाड़ली बेटी की करतूत।"

डॉक्टर साहब की दो पत्नियां थी। पहली यह हमीदा थी, दूसरी सोफिया—एग्लो इंडियन। वे निजी विषयो मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करते थे। सारी बातें सुनकर बोले—"तो क्या हुआ ? मै इसमें कोई बुराई नही देखता।"

"तुम इसमें कोई बुराई नही देखते, लेकिन मै देखती हूँ। मै इस बात को कभी भूल नही सकती कि उन्होने हमारी क्रिसमस की भेजी हुई मिठाइयाँ भिखारियों के आगे फिकवा दी थीं ! मुझे ऐसे लोगो की शक्ल से नफरत है, जो हमको हिकारत की नजर से देखते है।"

डॉक्टर साहब बोले—"यह तुम्हारा अन्याय है, डार्लिंग। तुम्हारी रुचिकर वस्तुएँ उन्होने उन्ही को तो दी, जो हवा खाते और आँसू पीते हैं ! इस घटना को तुमने इस दृष्टि से क्यो नही देखा ?" पर हमीदा अपने हठ पर दृढ रही। उसका बडबडाना बन्द नही हुआ। अन्त में उसने रशीदा से यहाँ तक कह डाला कि कल से अब तू कालेज नही जायगी। विवाह से पूर्व मै अब तुझे इस घर से बाहर कदम न रखने दूँगी !

उसे यह बात भूलती न थी कि कभी हाथ-में-हाथ लेकर, कभी गले में बाहें डालकर, सिनेमा देखने की बातें विजय से अवश्य तय हो गई होंगी।

थोड़ी देर में जब डॉक्टर साहब डिस्पेंसरी चले गये, तब हमीदा ने रशीदा के निकट जाकर पूछा—"सच-सच बता, तेरा इरादा क्या है ?"

रशीदा का मुख यकायक गम्भीर हो गया। उसने कह दिया—"इन्सान की तरह जीना"।

"ठीक है, इन्सान की तरह जीने से किसको ऐतराज हो सकता है ! लेकिन सवाल तो यह है कि मैं जिस समाज को बिल्कुल दक़ियानूसी, गया-गुजरा और चिडी का गुलाम समझती हूँ, तू उसी में क्यों इतनी घुल-मिल कर रहती है !"

एक वाक्य में रशीदा ने उत्तर दिया—"क्योंकि मैं ऐसा नहीं समझती।"

बस, रशीदा का इतना कहना था कि उसने बेंत हाथ में लेकर उसके बदन पर तीन-चार सड़ासड जमा दिये।

रशीदा बेंत पड़ते क्षण तिलमिला तो ज़रूर गई, पर उसने कहा कुछ नही।

हमीदा प्रत्येक बार यही कहती गई—"नही समझती ?—नहीं समझती ?"—तुझे समझना पड़ेगा।

उसके बाद हमीदा ने उसे एक ऐसी कोठरी में बन्द कर दिया, जिसमें चार ट्रंक्स, दो सूटकेस और भूमि-तल पर एक पुरानी शीतल पाटी के सिवा और कुछ न था। पीने के लिए पानी मात्र दो बार अलबत्ता उसके अन्दर रख दिया गया। रशीदा फूट-फूटकर सिसकियाँ ले-लेकर रोती रही थी। किन्तु न उसे सान्त्वना देने के लिए कोई वहाँ पहुँचा, न खाना देने के लिए।

डॉक्टर साहब तीन दिन तक सोफिया के यहाँ ही बने रहे। मुजफ्फर के द्वारा जब उनको रशीदा पर ऐसे अत्याचार की सूचना मिली, तो वे स्तम्भित हो उठे ! उन्होंने घर जाकर कह दिया—"आज से रशीदा मेरे साथ रहेगी।"

धर्म-परिवर्तन के अनुरूप सारा परिवार क्रिश्चियन अवश्य हो गया

था किन्तु कठोरता और दृढ़ता में हमीदा के संस्कार अब भी मूलभूत बने हुए थे।

दो दिन बाद डॉक्टर साहब की 'फारमेसी' में कहीं रशीदा से नयनतारा की भेंट हो गई। उस समय डॉक्टर साहब तो मरीज देखने चले गये थे, कम्पाउन्डर पुराने नुस्खों के अनुसार दवा बनाने में व्यस्त थे; रशीदा ने सारा हाल बताते हुए अन्त में कह दिया—"जो कुछ हुआ वह ठीक ही हुआ। प्रभु ईसा मसीह ने अपनी उपेक्षा का ठीक ही दंड मुझे दिया है। लेकिन नियति के इस व्यंग्य को तो जरा देखो नैन बहिन, कि एक ओर तो मानवता का ऐसा अपमान होता है और दूसरी ओर सामने की खिड़की के द्वार भी बन्द रहते हैं।"

कथन के साथ रशीदा की आँखों में आँसू झलक उठे और रूमाल से उसने अपना मुँह ढक लिया।

नयनतारा बोली—"दीदी, तुम्हारी बातें सुनकर मुझे बड़ा दुःख होता है। पर हमारे समाज की अवस्था ही यह है, किया क्या जाय?"

थोडी देर में जब रशीदा कुछ आश्वस्त हुई तो उसने पूछा—"क्या आजकल तुम्हारे भैया कहीं बाहर गये हैं?"

नयनतारा ने उत्तर दिया—"नहीं तो। हैं तो घर ही में। मै उनसे पूछूँगी, क्या बात है!"

रशीदा ने उत्तर दिया—"नही बहन, उनसे कुछ न कहना।"

जब नयनतारा चली आई तो रशीदा सोचती रही—मैंने नयना से ऐसा क्यों कह दिया?

.

विजय छत पर कुछ सोचता हुआ टहल रहा था। कई दिन से रशीदा उसे देखने को नही मिली थी। ग्यारह मई को प्रातःकाल ठीक सात बजे जब उसने खिडकी खोली थी, तब रशीदा कोठरी में बन्द थी। बारह मई को रविवार का दिन था। उस दिन भी आध घटे तक उसकी खिड़की खुली रही थी। किन्तु उस दिन जब उसे बाहर निकाला

गया था, तब केवल इस अभिप्राय से कि उसे चर्च में जाना है। पर कहीं जाने का उत्साह उसके मन में न था। भारी-भारी मन, दबी-दबी सिसकती हुई आत्मा सारा शरीर शिथिल। विद्रोह की आग से जलता हुआ लोम-लोम। उस समय उसे इस बात का ध्यान ही कैसे रह सकता था कि कोई खिड़की खोले उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। उसने मामा से कह दिया था—"प्रभु ईसा से मेरी परिस्थिति छिपी नहीं है। वे सब जानते हैं। मेरे वहाँ जाने से ही क्या होना है! तुम्हीं चली जाओ मामा। आत्मिक शान्ति के बिना ईश्वर की अर्चना वैसी ही है जैसे बिना पंख की चिड़िया का खुले नीले आसमान में उड़ने का प्रयत्न।"

हमीदा ने देखा, रशीदा का कंठ भर आया है। आँखों से अनबिंधे मोती झर रहे हैं—टप्···टप्···टप्।

दुःख जब असह्य हो उठता है, तभी अन्तरात्मा से अमृत का झरना फूट उठता है।

कुछ दिन बाद डॉक्टर साहब के कुछ दुराग्रही साथियों ने यही विषय फिर उठाया। सो भी इस आरोप के साथ कि नियत समय और स्थान पर आने के लिए विजय ने ही रशीदा से कहा था।

अब बनी-बनाई बात पुनः बिगड़ गई। दोनों महीनों तक एक दूसरे से नहीं मिले।

एक दिन जब हमीदा ने रशीदा से कह दिया—"विजय से अधिक खूबसूरत लड़का तुझे क्रिश्चियन समाज में आज तक नहीं दिखाई पड़ा, जो तू उसी पर मरने लगी है?"

रशीदा ने उत्तर दिया—"मुझे सारी दुनियाँ के अन्दर किसी भी समाज से नफरत नहीं। मैं अगर क्रिश्चियन हूँ तो मेरी दृष्टि में सारी दुनियाँ क्रिश्चियन हो चुकी है।" फिर उसे बाइबिल की शपथ लेकर कहना पड़ा—"साजिश की कोई बात न थी। मैं रजिया और गुरैया के साथ गई थी। मुझे वहाँ किसी के आने का इल्म न था।"

तब उनका भ्रम दूर हुआ।

अन्त में हमीदा गोम्स उपाध्याय जी के घर गई। कल्याणी से मिलीं, तो वह सारी बातें सुनकर स्तम्भित हो उठीं। बोलीं—"मेरा विजय किसी की ओर आँख उठाकर तो देखता नहीं, वह रशीदा से दोस्ती करेगा और उसके साथ सैर करने जायगा ! भला ऐसा कभी हो सकता है ! और रशीदा बेचारी इतनी सीधी है कि अमिया छीलना तक तो उसे आता नहीं, विजय का साथ कैसे करेगी ! राम-राम ! कभी ऐसी बात ज़बान पर न लाना।"

हमीदा ने फिर विजय को बुलाकर उससे कहा—"बेटा, ग़लती हमीं लोगों से हुई। तुम्हारा कोई कसूर नहीं था। पर, क्या इसके लिए तुम मुझे माफ़ नहीं करोगे ?"

हमीदा के मुँह से ऐसी बात सुनकर पहले तो विजय अवाक् हो उठा। फिर एक निःश्वास दबाते-दबाते उसने कह दिया—"माफ़ी तो अम्मी को अपने दिल से माँगनी चाहिये।"

उसके इस उत्तर पर पहले तो हमीदा गोम्स का सिर झुक गया था; उस संकोच और लज्जा से जो मन को कुरेदती है, पर मुँह नहीं खोलने देती।

तब कहीं डॉक्टर साहब के स्नानागार की खिड़की खुली थी, जिसके कपाटों पर अब धूल की एक मोटी पर्त जम गई थी।

रशीदा गर्मी के दिनों में दो बार स्नान करती। प्रातःकाल सात बजे और सायंकाल भी सात पर। ऐसे भी दिन आये हैं, जब एकाएक खिड़की खुलते ही विजय की दृष्टि उधर जा पड़ी है। रशीदा कुछ बोल नहीं सकी है। मृगी की-सी बड़ी-बड़ी कजरारी आँखों से एक बार उसे इकटक निहारती रह गई है। वार्तालाप की कोई कड़ी नहीं मिल रही है, तब रशीदा स्वयं साहस कर पूछ बैठी है—"क्या हो रहा है ?"

उस समय सद्यः स्नाता उसकी मुख-श्री देखकर विजय स्तब्ध हो उठा है। अजानु अनावृत केशराशि की अमन्द गन्ध पवन-झकोरे से उधर पहुँची है। मुख पर लगी मन्द-मन्द पाउडर की भीनी-भीनी सुगन्धित वायु भी उसकी खिड़की के भीतर चली आई है और उपकृत, विस्मित, मुग्ध-प्राण विजय सलज्ज भाव से बोल उठा है—"अध्ययन चल रहा है रशीदा।"

"ओ:, अध्ययन।" संस्कृत लेकर बी० ए० की परीक्षा में बैठने वाली रशीदा के अधर हिल उठते। वह विजय की ओर इकटक देखती हुई बोल उठती है—"अध्ययन तो करना ही चाहिये; लेकिन केवल पुस्तकों का नही, ज़िन्दगी का भी भाई जान।"

बात विजय के शान्त विमल मानस में शूचिवेधन की भाँति भिद गई और चकित-विस्मित होता हुआ वह जब कोई उत्तर देने को उन्मुख हुआ तब तक रशीदा की खिड़की के कपाट यकायक बन्द हो गये।

: ३ :

उपाध्याय जी भोजन करने के पश्चात् थोड़ी देर विश्राम करते थे। चाहे जितना आवश्यक काम क्यों न हो, पर दोपहर का यह विश्राम वे छोड़ न सकते थे। कचहरी में ऐसा अवसर कम मिलता था। फिर भी काम से ज्यों ही अवकाश मिलता, कुरसी पर बैठे-बैठे ही उनकी आँखें झपने लगतीं और बीस-पच्चीस मिनट की एक झपकी ले ही लेते थे। उस दिन जब वे पलंग पर लेटे तो बड़ी देर तक लेटे रहे पर उनको झपकी न लगी। अब वायु में ग्रीष्म ऋतु के अनुकूल यथेष्ट गरमाहट आ गई थी। अतः कपड़े पहनकर जब वे मकान की देहरी तक आये और पैरों में फुल-स्लीपर डालने लगे, तो उन्होंने सोचा कि सिर पर एक भीगा तौलिया भी डाल लेना चाहिये।

मकान के नीचे एक बढ़ई मिस्त्री पलंग के पाँवों पर खराद कर रहा था। मशीन चलने की आवाज़ ऊपर आती रहती थी। उपाध्याय जी सोचने लगे, मकान किराये पर उठाने का यही सबसे बड़ा दण्ड है। अब इस छदम्मी राम को निकाला कैसे जाय? जब देखो तब घर्र-घर्र की आवाज़ आती रहती है माई लार्ड। फिर बाहरी कमरे की चिक के पास आकर चुपचाप खड़े हुए किनारे से परदा थोड़ा-सा हटाकर झाँक कर देखा—विजय और ब्रजमोहन दोनों पड़े सो रहे हैं। कमरे में अँधेरा है और पंखा मन्द गति से चल रहा है। सोचा—'ब्रजमोहन को अभी नहीं, थोड़ी देर बाद बुलायेंगे' और तब उस कमरे के पास लगे हुए दूसरे कमरे के अन्दर चले गये। पलँग के पावे में ही पुकारने की घंटी का बटन लगा हुआ था। लेटे-लेटे दाहने हाथ से उसी बटन को दबा दिया।

सुखराम आ पहुँचा। उपाध्याय जी ने जेब से दो रुपये का नोट निकालकर सुखराम को देते हुए कह दिया—"देखो सुक्खू, सब्जी मण्डी के बिलकुल बीच में त्रिवेणी खटिक की फल की एक दूकान है, माई लार्ड,

वहाँ से ढाई सेर बढ़िया खरबूजे ले आओ, और लौटते हुए थोड़ी बरफ़ भी लेते आना। बिरजू बाबू नीचे सो रहे हैं, दो प्लेटों में लगाकर दे आना। एक तश्तरी में बूरा भी रख लेना। फिर थोड़ी देर बाद शरबत बनाकर शीशे के गिलासों में पहुँचा देना। पहले से बिरजू बाबू से कुछ न कहना, मगर ध्यान रखना, जब वे चलने लगें, तो मेरा नाम लेकर कह देना—बुलाया है। अच्छा माई लार्ड।"

कथन के साथ अपने लिए 'माई लार्ड' शब्द सुनकर सुक्खू की हँसी रुक नहीं पा रही थी। अतः विवश होकर वह कुछ घूमकर खड़ा हो गया। तब कहीं जान बच पायी।

"बहुत अच्छा बाबू जी।" कथन के साथ सिर हिलाकर सुखराम चला गया। नयनतारा अपनी धोती पर बिजली से लोहा करती हुई, उसके कलफ़ की सिकुड़न मिटा रही थी, और कल्याणी आँखों पर चश्मा चढाये एक धार्मिक पत्रिका का सती अंक सामने रक्खे हुए पढ़ रही थी। चिड़ियों का कलरव गूँज रहा था। नौ बजकर सत्ताईस मिनट हो रहे थे। मिल की चिमनी के ऊपर उड़ता हुआ धुआँ उत्तर की ओर बढ़ता हुआ फैल रहा था। मसजिद की एक मीनार के ऊपर दो तोते आकर बैठ गये थे। बायीं ओर सड़क पर से जाता हुआ ट्रक हार्न दे रहा था और फ़ायर ब्रिगेड का साइरन उच्च स्वर से प्रारम्भ होकर मन्दतम होता हुआ मिट रहा था। पूरब ओर के मकानों में कहीं से मुर्गे की बाँग सुनाई पड़ रही थी कि सुक्खू ने आकर कह दिया "बुआ जी, मैं यहाँ एक झोला टाँग गया था, इस खूँटी में!"

कल्याणी ने नाक के मध्य भाग तक खिसक आये चश्मे वाली खुली आँखों से सुखराम की ओर भौंहें सिकोड़ते हुए उत्तर दिया—"वहीं कहीं देखो, पड़ा होगा। तुमसे कई बार कह चुकी कि जब मैं कोई पुस्तक लेकर पढ़ने बैठूं या पूजन-पाठ करूँ, तो कोई बात पूछकर मेरा ध्यान भंग मत किया करो। मगर तुम इतने लापरवाह हो गये हो कि इस बात को भूल जाते हो।" और फिर मन-ही-मन कहने लगीं—"विजय का विवाह हो गया होता, बहू घर में आ जाती, तो इन दिनों तीर्थयात्रा करती होती।··· "अब जाओ, खड़े क्यों हो?" फिर सामने वाले चित्र पर ध्यान जमाकर

मन-ही-मन कहने लगीं—'सावित्री माता, तुम धन्य हो।' और चश्मे वाली आँखों को उस मासिक पत्रिका के कुछ और निकट लाकर तिरंगे चित्र में बने सावित्री के चरणों को अपनी दायीं ओर की अंगुलियों के स्पर्श से मस्तक पर लगा लिया।

इस समय सुखराम सोच रहा था—बाबू लोग कमरे के भीतर, पंखे के नीचे, ठंडे अँधियारे में सुख की नींद ले रहे हैं। मालिक पलँग पर चढ़े हुकुम चला रहे हैं। कहते हैं कि धूप इतनी तेज है देखने को जी नहीं होता। मगर बाहर सड़क पर लू-लपट में हम झुलस जायँ, धूप में हमारी खोपड़ी चटक जाय, तो भी मंडी से खरबूज़े ले आओ। शहर के उस कोने से रसगुल्ले ले आओ कहने में न-नुच नहीं होती। इतना ज़रूर है कि मौके-बेमौके बचा-खुचा शर्बत-पानी अपने राम पा जाते हैं। वह जो लखपति के नाती बिरजू बाबू हैं, उनकी तो लीला ही विचित्र है। घर पर चाहे बीड़ी ही पीते हों, पर यहाँ सिगार चाहिये। कैसी विचित्र खोपड़ी बनाई है भगवान ने इनकी कि लू-लपट के समय आपको भकभकाती हुई चाय की तलब लग आती है। अरे,सरबत पियें, सोड़ा, लेमनेड उड़ावें, लस्सी के गिलास पर-गिलास झाड़ें, तो एक बात भी है। लेकिन एक चौथाई दूध और तीन चौथाई पानी और चीनी छोटके-छोटके डेढ़ चम्मच, दो भी नहीं! ऐसा स्वाद ले-लेकर बेफिकरी के साथ धीरे-धीरे चुस्की लगाते हैं जैसे जमा-जायदाद छोड़कर नानी को मरे अभी पहली पन्द्रहिया ही बीती हो।

विजय ने लेटे-लेटे दायें पैर के नीचे तकिया दबाकर सिर थोड़ा उठाते हुए कहा—"बिरजू बाबू।"

ब्रजमोहन की नींद उचट गयी थी। फिर भी पहली पुकार में जान-बूझकर वह कुछ नहीं बोला, तब विजय बोल उठा—"उठो-उठो पाँच बज गये।"

ब्रजमोहन ने कह दिया—"अभी तो चार भी नहीं बजे, तुम पाँच कह रहे हो।" विजय ने घड़ी सामने कर दी, साथ में यह भी कह दिया कि कितनी बार पढ़ाया पर मूर्ख की समझ में कुछ भी नहीं आया। अरे बाँगड़ू, मैं जब उठता हूँ, सबेरा तब होता है। दोपहर के बाद जब मैं पलँग छोड़ता हूँ, पाँच तब बजते हैं। कुछ पता भी है तुमको, मुर्ग़ी के

अण्डा देने का समय कब होता है !"

ब्रजमोहन हँसने लगा।

विजय कहता जा रहा था—"युग कहता है, क्षण-क्षण अपने को बदलो। वह न करो, जो सदा करते आ रहे हो। कुछ ऐसा कर दिखाओ, जो कभी न किया हो।

"यह खरबूजा किस भाव से दिया ?"

"आठ आना सेर।"

"दोगे किस भाव ?"

"दो पैसे कम दे देना।"

"छै आने सेर दोगे ?"

"सात आने सेर मिलेंगे, लेना हो, तो ले लो।"

सुक्खू बोला—"हम साढ़े छै आने सेर के भाव लेंगे और दो सेर ले लेंगे। देना हो तो दो, नहीं तो मक्खी मारो बैठे-बैठे।"

बात कहकर सुक्खू आगे बढ़ने ही जा रहा था कि त्रिवेणी खटिक ने उत्तर दिया—"लिये जाओ चौधरी, लिये जाओ।"

सुखराम ने खरबूजे लेकर थैले में भर लिये और दुअन्नी जेब में डालते हुए मन-ही-मन कहा—"हिसाब बिगड़ रहा है। अभी बरफ़ भी लेनी पड़ेगी। अपने पल्ले इकन्नी ही पड़ेगी। इसलिए एक खरबूजे को थैले से निकाल कर लौटाते हुए बोला—"मुझे अभी एक सौदा और लेना है। खयाल ही न था। इसके बदले में एक खरबूजा छोटा दे दो। न दो सेर होंगे, पौने दो सेर होंगे।" और कथन के साथ मन-ही-मन सोचने लगा—"इतनी कमी-बेसी कौन देख पाता है।"

त्रिवेणी खटिक कुछ थोड़ा मुस्कराया। बोला—"चौधरी, इस दूकान को अपनी ही समझो। मैं हमेशा तुम्हारे लिये कुछ रियायत कर दिया करूँगा। लो, सात पौने सवा पाँच, सात और सवा पाँच-सवा बारह आने का हिसाब बना दिया है।"

सुखराम सोचने लगा—"अब हिसाब ठीक रहा। चार पैसे की बरफ़ लेने के बाद ग्यारह पैसे बचेंगे। छै पैसे मेरी जेब में जायेंगे और पाँच बाबू जी की गोलक में।···मगर मैं पाँच पैसे क्यों दूँ उनको ? चार पैसे ही दूँ, तो क्या हरज है ?···हरज तो इसमें भी नहीं है कि उनको तीन ही पैसे दिये जायें और आठ मेरी जेब में आवें। हा हा हा हा !"

कल्याणी बोली—"क्या कहा, बिल्ली दूध पी गई ?"

"हाँ अम्मा, बिल्ली दूध पी गई ? मगर नहीं, दूध तो थोड़ा छोड़ भी गई, हाँ मलाई सब साफ़ कर गई।"

"यह सब तेरी लापरवाही है। जब दूध पक गया था, तुझे उठाकर अलमारी में रख देना चाहिये था।"

"मगर मैं ब्लाउज़ जो काट रही थी, सो भी अपना नहीं, अम्मा तुम्हारा।"

कल्याणी ने उत्तर दिया—"सवाल यह नहीं है कि किस का काम कर रही थी। सवाल तो यह है कि ध्यान क्यों नहीं रक्खा दूध का ?'

नयनतारा ने उत्तर दिया—"मगर बड़ी अम्मा, इधर इस महीने में बिल्ली को दूध-मलाई पर हाथ साफ़ करने का मौका भी तो नहीं मिला था।"

"ए नयना, तू मुझसे बहस मत किया कर। हमने इन कुत्ते-बिल्लियों को हर महीने दावत देने का ठेका नहीं लिया।"

"मगर अम्मा, यह जानवर हैं तो हमारे ही सहारे। अगर हम लोग इनके साथ ऐसी कठोरता का व्यवहार करने लगेंगे, तो ये बेचारे रहेंगे कैसे ? वह भी कोई घर है, जिसमें कुत्ता-बिल्ली झाँकने न पायें। फिर हमारी बिल्ली तो बिल्कुल सफ़ेद है। बड़ी अम्मा, सच कहती हूँ, मुझे तो बड़ी प्यारी लगती है।"

अब खाकी जीन के टुकड़े में बरफ़ का एक ढेला रखकर सुखराम उसे पत्थर की सिल पर कूट रहा था उसका स्वर उपाध्याय जी के कानों में पड़ रहा था।···तश्तरी में ख़रबूज़े की फाँखें, बूरा अलग से, और केवड़े का शरबत।

उपाध्याय जी सोच रहे थे—नुस्खा पूरे अट्ठाईस हजार का है माई लार्ड। सात हज़ार के जेबर, मगर सात हज़ार के क्यों ? दस हज़ार के और दस हज़ार पेशगी। पाँच हज़ार का सामान और तीन हज़ार फुटकर। बेजा क्या है माई लार्ड ?···अच्छा, अगर ऐसा किया जाय कि किसी तरकीब से लड़की इसको दिखला दी जाय ! चार महीने बाद दुर्गा पूजा के लिए नाटक शुरू हो जाते हैं। एक दिन सामने बैठे हुए शैलेन्द्रकुमारदत्त की अँगुली दबा दी जाय और उससे कह दिया जाय कि सम्राट पृथ्वीराज नाटक में संयोगिता का पार्ट एला को दे दिया जाय···मगर···और इतना सोचते-सोचते स्वयं ही नाक-भौं सिकोड़ कर रह गये।—'पूर्वाभिनय में ही अभिनेता और निर्देशक लोग उस बेचारी का लज्जा, संकोच, शील अपहरण कर उसे मुखर, प्रगल्भ और धृष्ट बना देंगे !···नहीं नहीं, और कोई तरकीब निकालनी होगी माई लार्ड। इस विषय में बिरजू की बुद्धि बड़ी तीव्र है। एक बार उसे मिला भर लिया जाय, फिर सब ठीक हो जायगा, सब ठीक हो जायगा !'

ख़रबूज़ा छीलकर छोटे-छोटे टुकड़े नयना ने तीन तश्तरियों में सजा दिये। फिर माँ की ओर उन्मुख हो बोली—"बड़ी अम्मा"

कल्याणी ने उत्तर दिया—"क्या है ?"

नयना बोली—"खरबूज़े ऐसे ही खाओगी कि बूरा भी साथ भेजूँ ?"

कल्याणी ने उत्तर दिया—"मैं बूरा-ऊरा नहीं लेती ख़रबूज़े के साथ। उसका जीवन ख़राब हो जाता है।"

"मगर अम्मा, अभी ख़रबूज़े मीठे आये नहीं, इसलिए कहती हूँ कि

ख़रबूज़े के साथ थोड़ी बूरा ज़रूर ले लेनी चाहिये।"

कल्याणी बोली—"नहीं, नहीं। मैं ऐसे दूध को दूध नहीं समझती जिसमें चीनी डालनी पड़े, तू ख़रबूज़े की बात भिड़ा रही है। ऐसी मित्रता किस काम की जो एक के गुण को दूसरे में खपा डालने को विवश कर दे। दूध में बूरा डालो, तो दूध का स्वाद समाप्त हो जाय और खरबूज़े में डालो तो उसका मजा चला जाये!"

इतने में नयना स्वयं ख़रबूज़ा और बूरा लेकर माँ के पास आ पहुँची और बोली—"आवश्यकता न समझना तो न लेना। कोई ज़बरदस्ती तो मैं कर नहीं रही हूँ।"

कल्याणी चश्मे की आँखों से उसे देखती रह गई। बोली कुछ नहीं। मन में इतना भर कहा—'अभी इस को ज्ञान बिल्कुल नही है। फूस, रुई, सन, कागज की कतरन कोई भी चीज हो, आग की लपटों के साथ बिना जले रह सकती है?' सोचती हुई स्पष्ट बोल उठीं—"तश्तरी में बूरा रक्खी होगी, और मैं खाऊँगी नहीं! पगली कहीं की!"

नयना हँसने लगी—"मैं जानती थी अम्मा, तुम यही कहोगी!"

सुखराम ने ख़रबूज़ा और बूरा की तश्तरियाँ ब्रजमोहन और विजय के सामने रख दीं। विजय जग ही रहा था, बोला—"बिरजू बाबू उठो, लो पहले हाथ-मुँह धोओ और फिर तबीयत हरी कर लो।···सुक्खू एक गिलास पानी दे जाना—मगर एक क्यों, दो गिलास!···अच्छा रहने दो। बाथरूम में जाकर हम लोग हाथ-मुँह धो लेंगे···

सुखराम ने उत्तर दिया—"छोटे बाबू, अभी तो शर्बत भी लाना है।"

"ओ गुड, तब ठीक है, जाओ!" ब्रजमोहन ने कह दिया।

विजय उठकर बैठ गया। दोनों हाथों से आँखें मलता और अँगड़ाई लेता हुआ बोला—"सब गड़बड़ हो गया। जिस फल के नाम का पहला शब्द ही ख़र हो, उसे खाकर मैं अपना भेजा नहीं ख़राब करना चाहता।"

"अरे खाओ, खाओ, रंगबाज़ी मत दिखाओ।"

"तुम तो हो मूर्ख, तुमसे कौन बात करे ! अपनी-अपनी रुचि का प्रश्न है । इससे तो अच्छा होता कि मामा सेब या संतरा मँगवाते । जानते हो, अगर सारी मनुष्य जाति एक ही रुचि की हो जाय, तो वह भेड़ बन जायगी ?"

अब सुखराम उपाध्याय जी के सामने था और वे सोच रहे थे, 'अगर जगमोहन बाबू से यह कह दिया जाय कि वे अपनी लड़की को यहीं बुला लें—अपने साढ़ू कमलकिशोर के यहाँ और कमलकिशोर के यहाँ हम लोगों की एक दावत हो जाय, उस समागम में लड़की के साथ उसका पहला परिचय तो हो ही सकता है, माई लार्ड ।'

सुखराम तश्तरी रखकर जाने लगा, तब उपाध्याय जी बोले—"अरे सुक्खू, आज शाम को किसी वक्त तुम कमलकिशोर के यहाँ जाकर उनसे कहना ।···मगर तुम्हारे वहाँ जाने की ज़रूरत क्या है ?···अच्छा ज़रा टेलीफ़ोन को इधर ले आना···

सुखराम टेलीफ़ोन ले आया ।

डायल के छिद्रों में उँगलियाँ घूमने लगीं—थ्री, फ़ाइव, सिक्स, टू । कड़क···कड़क···"हलो,···एस, स्पीकिंग···माई लार्ड आज शाम को, शाम को किस समय ?···अच्छा, ठीक साढ़े सात पर···अच्छा, अच्छा, वहीं चले आयेंगे । नहीं, नहीं, साथ में और कोई नहीं होगा माई लार्ड ।"

विजय बोल रहा था, "एक पोर्त्तगीज़ कहावत है, कुत्ता अपनी श्रद्धा के लिए नहीं, भक्ति और आदर के लिए भी नहीं, अपनी रोटी के लिए दुम हिलाता है । मनुष्य का संग-साथ भी अपनी रुचियों में सहयोग, उनके समर्थन और पोषण के लिए होता है···ज़ल्दी करो, ज़ल्दी कपड़े बदल कर तुरन्त तैयार हो जाओ ।"

ब्रजमोहन चला गया और विजय अलमारी खोलकर कपड़े बदलने में लग गया ।

इतने में कोमल और बड़े-बड़े केशों का एक छोटा-सा कुत्ता आकर विजय के पैर और धोती सूंघने लगा ।

उस समय छत पर कोई न था। नयनतारा विजय के पास एक कुर्सी पर चुपचाप बैठी हुई थी। और विजय पलँग पर लेटा हुआ था। नयनतारा जब कोई बात कहना चाहती, विजय कोई उत्तर न देता। उसका ध्यान या तो अन्यत्र रहता, या वह नयनतारा की बात ही न सुन पाता था। किन्तु उसको जो कुछ कहना था वह बराबर कहती जा रही थी। अभी थोड़ी देर पहले पानी बरस चुका था। किन्तु भीगी हुई छत अब बहुत-कुछ सूख चुकी थी। नीचे सड़क के किनारे फुटपाथ पर चाय और लस्सी की दूकान में बरफ़ कट रही थी। लोहे से उत्पन्न लोहे की वह आवाज़ जो शीतलता की सुप्त-मूक जमी हुई लहरें काट रही थी, कानों को बड़ी प्यारी लग रही थी। सिनेमा हाउस 'आसमान' में इण्टरवल चल रहा था। सड़क पर भीड़ लगी हुई थी और कोलाहल के बीच कटाक्षों के माध्यम से कहीं-कहीं कतरनियाँ चल रही थीं। चाय और लस्सी, गाँठिया-पापड़ी, चिउड़ा और दाल-सेव, बीड़ी-सिगरेट, पान-तम्बाकू खाते-पीते और धुआँ फूकते हुए बाबू लोग परस्पर खेल के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे।

"खेल बुरा नहीं है।"

"कोई खास अच्छा भी नहीं है।"

"खेल, खेल भर होता है, न अच्छा, न बुरा। अच्छे-से-अच्छा कहीं-न-कहीं बुरा भी होता है। बुरा यानी बासी, आधारित, चोरी किया हुआ, शिथिल, निर्जीव, निरुद्देश्य, वीभत्स और व्यर्थ। और अच्छा, यानी प्रभावशाली, मनोरंजक, प्रपञ्चों और दुरभिसन्धियों से ओत-प्रोत, जीवन को नरक के गर्त से उचका कर एक दम तीसरे मंज़िल की छत पर खड़ा कर देने वाला, नयनाभिराम और कर्ण-सुखद।"

"अपना-अपना मत है। ज़िन्दगी की सच्ची तस्वीर देने वाले खेल सदा सफल होते हैं। भले ही आधारित हों, भले ही उधार हों। जनता का मानस-स्तर कभी इतने तीव्र विवेक पर नहीं रहता कि वह इन सूक्ष्म विषयों को समझता फिरे। फिर हर एक आदमी कभी-न-कभी आवारा और गैरज़िम्मेदार हो ही जाता है। कोई आदमी न बचपन में सन्त होता है, न युवावस्था में। मैंने आज तक ऐसे किसी आदमी को नहीं देखा, जो

मानवता के प्रति इतना सजग हो कि उससे कभी कोई अपराध ही न बन पड़ा हो।"

"यह बात दूसरी है। इस तरह तो सन्त और महात्मा लोग भी, ध्यान से देखा जाय तो, पूर्व जीवन में बड़े-से-बड़े अपराध के उत्तरदायी सिद्ध किये जा सकते हैं। मैं तो कहना चाहता हूँ कि असामयिक साधु-वृत्ति और अतिशय सज्जनता स्वयं एक प्रतिक्रिया है। मैंने तो बड़े आश्चर्य्य के साथ देखा है कि शील, सौजन्य और सहानुभूति की मात्रा एक अपराधी में कहीं अधिक होती है। आवश्यकता केवल अवसर पर उसे उभारने की रहा करती है।"

पास ही खड़े हुए मिस्टर खन्ना ने इसी समय खाँस दिया। सिगरेट की टुकड़ी नाली में फेंककर दो बीड़े पान मुँह में खोंस लिये और कह दिया, "चलो, चलो, घण्टी बज गई। अन्त में रोती और सिसकती हुई हीरोइन का गाना भी सुन लिया जाय!"

साथ चलते मिस्टर गुप्ता बोल उठे—"जब कभी ऐसा अवसर आता है, तब मैं सोचने लगता हूँ कि ऐसे समय अगर कहीं निर्देशक सामने पड़ जाता तो निरुत्तर किये बिना मैं किसी तरह न मानता।"

अब छड़ी टेकते हुए लक्ष्मीचन्द्र से न रहा गया। बोले—"और तब मैं कह देता, बेटा पहिलौठी के, अब इसी बात पर तुम परदे पर आकर रोते हुए एक ग़ज़ल सुना तो डालो।"

इस तरह तीनों हा हा हा कर इतने ज़ोर से हँसने लगे कि इधर-उधर के लोग एक बार घूरकर रह गये।

थोड़ी देर बाद विजय करवट बदलते हुए कह रहा था—"पर ये सब बातें तुम्हें मालूम कैसे हुईं नयना?"

नयनतारा ने कहा—"ख़ुद रशीदा ने ही मुझे बतलाया था कि एक ही आध दिन में वह अपने चाचा के पास चली जायगी और फिर वहीं···।" बस इतना कहती-कहती वह यकायक रुक गयी थी।

नयनतारा की इस बात पर विजय ने फिर कोई प्रश्न नहीं किया।

तब नयनतारा ने इतना और कह दिया—"भैया, रशीदा ने जब यह बात मुझसे कही थी, तब लगता था, मानो अन्तस की पीड़ा उसके कण्ठ पर उतर आई हो।"

सुनकर विजय सन्न रह गया। पलँग से उठकर वह छत की मुँडेर पर आकर सड़क की ओर मुँह करके शून्य गगन को देखने लगा। फिर थोड़ी देर बाद बोला—"अच्छा, अब तुम जाओ, नयना।"

नयनतारा चली गयी।

विजय जल्दी में कोई कार्य न कर सकता था; यद्यपि वह सोचता यही रहता था कि जो सहानुभूति निष्क्रिय है उसका जीवन में कोई महत्व नहीं।

उसी दिन शाम को बैठक से उठते-उठते उपाध्याय जी ने कहा—"विजय तुमसे कुछ बात करनी थी।"

विजय ने बिना सिर उठाये उत्तर दिया—"आज्ञा दीजिये।"

साथ ही वह यह सोचने लगा—'हूँ तो रशीदा चली जायगी।'

उपाध्याय जी बोले—"वो, अ···हमारे एक मित्र हैं कमल बाबू। कल उनके यहाँ चिरञ्जीव कुमुद का जन्म-दिन है। इस निमन्त्रण में हमको सपरिवार जाना है।"

'हो सकता है कि इस निमन्त्रण में मेरी स्वतन्त्रता के बध का कोई गुप्त आयोजन हो'—सोचता हुआ विजय जैसे जड़ बन गया। बोला—"तो इसमें कहने की क्या बात है।"

उपाध्याय जी स्वभावतः अटकते हुए बोले—"अ···हाँ कहने की ऐसी कोई बात नहीं है माई लार्ड, फिर भी कह इसलिए दिया कि उस समय तुम्हें यहाँ मौजूद रहना चाहिये। वैसे निमन्त्रण तो आठ बजे का है; लेकिन उन्होंने कहा है कि कुछ पहले आ जाइयेगा। अ···मेरा ख्याल है कि छः बजे हम लोग चले चलें, तो ठीक रहेगा माई लार्ड।"

विजय ने सिर नीचा कर लिया। कहीं मुँह पर हँसी न झलक उठे। फिर बोला—"आठ बजे के निमन्त्रण में छै बजे से चलना···।" कहकर कुछ रुकता हुआ आश्चर्य्य के साथ बोला—"मेरी समझ में नहीं आता।"

उसे फिर जैसे ध्यान हो आया—'क्या सचमुच रशीदा चली जायगी ?'

"समझ में कैसे आये माई लार्ड ? बिरजू के साथ आठ घण्टे, दस घण्टे, बारह घण्टे, रहते हो, तब समझ में आता है ? और अभी मैंने जो कहा कि वह हमारे मित्र हैं, तो यह बात तुम्हारी समझ में नहीं आती माई लार्ड ?"

उपाध्याय जी ने यह बात कुछ ऐसे आवेश में आकर कही कि विजय इसके सिवा अधिक कुछ न कह सका कि—"अच्छी बात है। छै बजे ही क्यों, आप कहेंगे, तो चार बजे ही चला चलूंगा। वैसे मित्रता आपकी है, तो जाना भी आपको ही उचित है। अगर मैं न जाऊँ, तो भी उनको बुरा नहीं मानना चाहिये।" और इतना कहकर वह कमरे से बाहर हो गया।

उपाध्याय जी देर तक सोचते रहे—'एक विजय ही ऐसे स्वतन्त्र विचारों का है कि बड़ों के आगे कभी झुकना नहीं जानता या आज अनास्था के इस युग में सभी लड़के माई लार्ड ?'

"देखो सुखराम, मेरी धोती में एक बट्टी तो लगेगा कपड़ा साफ़ करने वाला साबुन और एक चम्मच ब्लीचिंग पाउडर माई लार्ड, समझ गये ? और देखो, रस्सी में टाँगने का—धोती में—कोई दाग़ न लगना चाहिये। दाग़ से मुझे चिढ़ है। अगर धोती में कहीं एक भी दाग़ दिखलाई पड़ गया, तो एक महीने की तनख़्वाह जब्त माई लार्ड। समझे कि नहीं ? यह लो एक टन्ना-सा रुपया और तुरन्त बाज़ार चले जाओ। जाओ।"

सुखराम जब रुपया हाथ में लेकर कमरे से बाहर हो गया तो सोचने लगा—'पाँच आने का मिलेगा साबुन। दो आने में ब्लीचिंग पाउडर। पाँच और दो सात आने हुए। अच्छा, अगर इन्हीं सात आने में किसी तरह तीन आने और जुड़ जाँय, तो कैसा हो ? क्योंकि एक दाग़ के लिए अभी मेरी एक महीने की तनख़्वाह ज़ब्त हो रही थी।'

और थोड़ी देर बाद जब सुखराम लौट कर आया, तो बोला—"बाबू जी, यह छतरी न जाने कैसे टूट गई ! घर से बाहर निकलने पर जब मैने इसे तान दिया, तो इसकी एक कमानी न जाने कहाँ से टूटी हुई मिली। और बाबू जी, जब मैंने छतरी बनवा ली तब पानी भी बन्द हो गया ! और बाबू जी—खामखा तीन आने पानी में चले गये !"

उपाध्याय जी का चश्मा खिसककर नाक की नोक पर आ गया और उनके मुँह से निकल गया—"अच्छा-अच्छा, सुन लिया। तुझे बातें बनाना खूब आता है। और पुनः वे रामायण-पाठ में लग गये—'कामिहि नारि पियारि जिमि·····' फिर पढ़ते-पढ़ते यहीं अटक गये। मन-ही-मन विचार करने लगे—'ध्यान देने की बात है कि कामी पुरुष को स्त्री अत्यन्त प्यारी होती है— तो निष्कर्ष निकला—जिसको स्त्री अत्यन्त प्यारी होती है, वह 'कामी' होता है। झट बोल उठे, "अरे सुन रही हो विजय की मामी ? गोस्वामी जी यहाँ क्या कहते हैं।"

सावित्री अँगीठी के निकट बैठी जीरा बीन रही थी। पहले धीरे से बोली—"उँह, कहते होंगे।" फिर कुछ ज़ोर से बोली—"क्या कह रहे हैं, बताओ न !"

उपाध्याय जी ने चश्मा नाक के ऊपर खिसकाते हुए कह दिया—"बस, मैंने तय कर लिया कि आज से फिर कभी किसी काम से तुमको अपने पास न बुलाया करूँगा और कान के पास मुँह ले जाकर बात करना तो क़तई बन्द माई लार्ड। हाँ, 'कामिहि नारी पियारी जिमि, लोभी के जिमि दाम।' तो पैसे के साथ रहने वाले प्यार की कोटि को भी उन्होंने, राम के साथ प्रेम करने से कम महत्वपूर्ण नहीं समझा धन्य हो तुलसी बाबा।"

घोषणा सुनकर सावित्री मुस्करा उठी। उसी समय उपाध्याय जी बोल उठे—"धोती में एक दाग न रहने पाये सुखराम।"

नयनतारा दर्पण देख रही थी, खिलखिला कर हँसने लगी। और सावित्री बोल उठी—"तुमको ज़रा शऊर नहीं है। लड़के जब समझदार हो उठें, तब तुमको इस तरह की बातें प्रकट में कहनी ही न चाहियें। फिर कम-से-कम तुम में इतना विवेक तो होना चाहिये कि जो बात केवल मन के संकल्प की है, उसे मन में ही रख लो। कह डालने में क्या रस है।

फिर इन बच्चों के सामने कहने में संकोच नहीं होता; राम राम !"

"मेरा संकोच ? मैंने जैसे प्यार में कभी संकोच नहीं किया, वैसे वैराग्य में भी नहीं करूँगा। क्या कहने हैं—'तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोही राम।'"

यों तो उपाध्याय जी को छोटे-बड़े कई रोग थे, पर इस समय प्रधानता इस बात की थी कि वे विश्वास किसी का न करते थे। फलतः अविश्वास की नाना लहरें उनके मानस-लोक में डोलती ही रहती थीं।

वे बही के उस पन्ने पर दृष्टि गड़ाये हुए थे, जिसमें कई लोगों पर ब्याज की रक़में बकाया चली आ रही थीं। अकस्मात् ध्यान आ गया कि कहीं विजय कपड़ों का बहाना न कर बैठे। इसलिए तत्काल बोले—"सुखराम ! ए सुखराम !!"

सुखराम सामने आ गया। हाथों में साबुन का फेन, मुँह पर साबुन के छींटे। गले और मस्तक पर पसीने की बूंदें। उपाध्याय जी सहन न कर सके। भौंहें सिकोड़कर बोले—"बड़े गन्दे हो। बदन साफ़ करके क्यों नहीं आते माई लार्ड ?"

"बाबू जी, बदन साफ़ करने में देर न लग जाती !"

"हाँ, यह तो तूने ठीक कहा। अच्छा ख़ैर, वो···ज़रा मैं यही जानना चाहता था माईलार्ड, कि विजय के पास तो धुले हुए कपड़ों के कई जोड़े रक्खे हैं न ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि जब कमल बाबू के यहाँ चलने का समय हो, तब सुनने में आये कि उसके धुले हुए कपड़े तो आये ही नहीं माईलार्ड ?"

मुँह घुमाकर बड़ी कठिनाई से हँसी रोकता हुआ सुखराम बोल उठा—"नहीं बाबू, ऐसी क्या बात है ! और बाबू, उनके पास धुले हुए कपड़ों के दो ट्रंक भरे पड़े हैं।"

"तुझे ठीक मालूम है, या यों ही डींग हाँक रहा है माई लार्ड ?"

"अच्छी तरह मालूम है बाबू। आप बेफ़िकर रहें।"

सुखराम चला गया।

बही के सामने एक रकम पर पुनः दृष्टि गड़ गई। अलग एक चिट पर उनका नाम लिखते हुए सोचने लगे—"इस विश्वम्भर नाथ ने एप्रिल,

मई, जून तीन महीने से ब्याज नहीं दिया। छत्तीस रुपये हो गये।···लो, यह विष्णुदत्त और भी खरा निकला। पाँच बोरी सीमेंट गई थी। वादा था कि रुपये कल भिजवा देंगे माई लार्ड। उस कल के आज चार महीने बीत गये। मुझे ऐसे लोगों की शक्ल से नफ़रत है। मगर विकास-बोर्ड के बाबू ठहरे। कड़ाई के साथ उनसे कुछ कहा भी नहीं जा सकता। तो इनके साथ कुशलता से काम लेना होगा। सुखराम को भेजकर चाय पर न बुला लिया जाय ? इसी गद्दी पर बैठाना ठीक होगा। बही का यही पृष्ठ सामने रहेगा। इतना कहने में क्या लगता है कि 'अचानक आपका नाम सामने आ गया, तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि आप भूल कैसे गये माई लार्ड ! साथ में इतना और जोड़ दिया जायगा—हँ, हँ, समोसा ठीक रहा न, बात यह है कि यह नीचे बैठने वाला सिन्धी घी वाकई अच्छा लगाता है। आपको मालूम नहीं, इसने पाँच-सात भैंसें पाल रखी हैं माई-लार्ड। और इधर बहुत दिनों से चाय पर आपके पास बैठकर···जी, मगर किया क्या जाय माई लार्ड, चारों ओर न देखूँ तो सारा गुड़ चीटे खा जायँ। है कि नहीं ?'

इस प्रकार उपाध्याय जी अपनी मनोगत योजना की काल्पनिक सफलता पर आप ही आप हँस पड़े !

सावित्री चादर ओढ़कर जाने लगी तो नयनतारा को लक्ष्य कर बोली—"पड़ोस के मकान में बेचारे जनार्दन बाबू के यहाँ एक बच्चा बीमार है। महरी कहती थी कि सारा हास्पिटल मरीजों से भरा पड़ा है। जिस कमरे में लल्लन को पलँग दिया गया, उसमें पाँच पलँग और थे जिन पर बच्चे ही बच्चे थे। कोई भी दस वर्ष से ऊँचा न था। मेरी समझ में नहीं आता यह सब क्या हो रहा है। न जाने भगवान की क्या इच्छा है ?"

"पर मामी, तुम वहाँ कहाँ जा रही हो ?" नयनतारा ने पूछा।

"क्यों, मैं तनिक लल्लन को न देख आऊँ; मेरा जी उसके लिए बेचैन है; अभी आती हूँ।" सावित्री चादर ओढ़ती हुई बोली और द्वार की ओर चल दी। उपाध्याय जी सुखराम से कमरा धुलवाने में जुटे हुए थे। इसलिए तखत हटाया जा रहा था। वे निरन्तर मिनट-मिनट बाद कहने लगते थे—"सफ़ाई अजब चीज़ है।" पर जब वे कमरे का कोना

धुलवाने लगे तो बोल उठे—"साले लोग पान-तम्बाकू इस तरह थूक जाते हैं जैसे बाप का घर हो।"

इसी क्षण कहीं से नयनतारा उधर आ पहुँची। मामा की बात सुनकर हँसती-हँसती बोली—"मामा, शायद तुम्हें मालूम नहीं, पान की यह पीक है किसकी ?" कुछ आशंका के साथ दृष्टि स्थिर कर उपाध्याय जी ने कहा "किस की है ?" नयनतारा खिलखिल करती हुई बोली—"मामी की। होली के ठीक दूसरे दिन की बात है, जब कमल चाचा आये हुए थे और साथ में चाची भी थीं। खाना सबने यहीं खाया था।·····

तब उपाध्याय जी ने अनुकूल अवसर देखकर उपस्थित विषय को टालते हुए कह दिया—"होगा माई लार्ड। कल सब लोगों को उनके यहाँ एक मर्यादा के साथ चलना है। जगमोहन बाबू के घर के लोग भी आने वाले हैं। साथ में उनकी लड़की एला भी होगी माई लार्ड। किसी तरह विजय राज़ी हो जाय तो एक जिम्मेदारी से छुट्टी मिले। हो सकता है, कल वे लोग यहाँ भी आयें। जल्दी करो सुखराम।"

कमरा जब धुल चुका तो नयनतारा दक्षिण की ओर रखी आलमारी के पास चल दी। तभी उपाध्याय जी बोल उठे—"ठहरो—ठहरो, नयना ! अभी वहीं रहो। नहीं तो गीले फ़र्श पर सूखे पैरों के निशान बन जायँगे माई लार्ड।"

मामा की इस बात पर नयनतारा हँस पड़ी।

इतने में सावित्री ने अन्दर आकर कुछ हाँफते हुए और चादर उतारते हुए कह दिया—"लल्लन की तबियत तो कुछ ठीक भी है; पर अब उसकी बहिन उर्मिला को बड़े वेग से ज्वर आ गया है। न जाने क्या होनहार है। कहते हैं, यह बीमारी छूत की है। कोई घर ऐसा नहीं बचा, जहाँ इसकी पैठ न हो। ज़रा पानी गरम करके ले आ नयना तो हाथ-पैर धो डालूँ।"

उपाध्याय जी हँस पड़े। बोले—"बहुत अच्छा, मैं तो नहीं जाऊँगा। मगर विजय को भी समझा देना माई लार्ड, कहीं इधर-उधर न जाय।"

नयनतारा बोली—"जब बीमारी का इतना डर है, तो जाने की ही क्या ज़रूरत थी मामी !" और कथन के साथ अन्दर चली गई।

"यह तू अभी नहीं समझेगी नयना।" उत्तर के साथ सावित्री वहीं बैठ गई। इतने में सुखराम आ गया और बोला—"पानी अभी गरम करता हूँ माँ जी।" तभी उपाध्याय जी सावित्री के पास जा पहुँचे। कल के कार्य-क्रम के सम्बन्ध में वे वह कुछ कहने ही वाले थे कि सावित्री फिर बोल उठी—"दूर ही रहना, मैं कालरा के मरीज़ के घर से आ रही हूँ।"

विजय नौ बजे घूमकर लौटा तो उसने बतलाया कि मै कालरा वाले हास्पिटल से ही अभी लौट रहा हूँ।

नयनतारा ने आकर झट कह दिया—"भइया, वह लोग आ गये।" प्रश्न-सूचक भगिमा से विजय ने पूछा—"कौन लोग ?"

नयनतारा ने उत्तर दिया—"डाक्टर साहब के वे भाई जो अलीगढ़ में किसी कालेज के प्रिन्सिपल हैं।"

कल्याणी विजय की ओर देख कर यकायक बोल उठीं—"हाय! यह तूने क्या किया ?"

विजय ने हँसते-हँसते कह दिया—"मेरा यही कार्य मुझे जीवित रखेगा अम्मी, पाँच हज़ार रोगियो की दवा के लिए प्रबन्ध करके लौट रहा हूँ।"

कल्याणी की आँखें चमक उठीं। बोली—" विजय, यह काम तूने बहुत अच्छा किया। अरे सुनते हो भैया, इस काम में तुमको भी हाथ बटाना चाहिये।"

उपाध्याय जी और सावित्री दोनों परामर्श के लिए जो दूसरे कमरे में जाकर एक ही पलँग पर बैठने लगे, तो उपाध्याय जी बिचक कर अलग जा खड़े हुए। और बोले—"जो कुछ कहना है, दूर से कहो माई-लार्ड।"

तिनक कर सावित्री उठ कर चल दी। बोली—"मुझे कुछ नहीं कहना है।"

कल्याणी के यकायक बीच में बोल पड़ने से नयनतारा की जो बात अधूरी रह गई थी उसे पूरा करते हुए उसने विजय को बताया—"भैया, डाक्टर साहब का नौकर अभी-अभी बता गया है—रशीदा कल शाम की गाड़ी से चली जायेगी।"

"शाम की गाड़ी से !"

"हाँ दिल्ली एक्सप्रेस से जो रात को यहाँ से नौ बजकर दो मिनट पर छूटती है।"

विजय ने दोहराते हुए कहा—"नौ बजकर दो मिनट पर ?" उसने समझ लिया—"जिस समय कमल चाचा के यहाँ दावत का कार्यक्रम है। तब उसने साधारणतया तथा मन्द स्वर में कह दिया—"अच्छा।"

एक बार फिर किसी ने जैसे उसके कान के पास आकर कह दिया हो—"रशीदा कल चली जायेगी ?"

: ४ :

नगर से सौ मील दूर एक गाँव था और गाँव के दक्षिण-पश्चिम कोने में एक गढ़ी थी। अब उसका खण्डहर ही शेष रह गया था। इस खण्डहर के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की बातें प्रसिद्ध थीं। कोई उसे भूतही हवेली कहता था, किसी-किसी का मत था कि उसमें ब्रह्म राक्षस रहता है। गाँव की वयोवृद्ध नारियाँ अपने बच्चों को लेकर जब इस खण्डहर के राजमार्ग से आने-जाने लगतीं, तो अपने अञ्चल से उनका मुँह ढक देती थीं। देवर या बड़ा लड़का बैलगाड़ी पर साथ में होता, तो उसको यह आदेश दिये बिना सन्तोष न होता कि बच्चा ! उस गढ़ी की ओर देखना नहीं, पीठ करके बैठ जाना ! प्रौढ और वयस्क पुरुष सम्मान के भाव से उन माताओं और बहनों को कोई उत्तर न देते, पर एक बार सशंकित अवश्य हो जाते थे।

विजय को घूमने-फिरने का चस्का था। दूसरे-चौथे दिन जीवन के साधारण क्रम से उसका मन विद्रोह कर उठता और तभी वह कोई ऐसी योजना बना लेता, जिससे ब्रजमोहन सहमत न होते हुए भी उबर न पाता था। बारम्बार वह अपने मन में सोचने लगता—'मैं इसके साथ चला ही क्यों आया ?' कठिनाई यह थी कि विजय के पास उसके मामा की अपनी गाड़ी थी और ड्राइव भी वह स्वयं ही करता था। लेकिन इससे भी अधिक विचारणीय बात यह थी कि विजय जब गाड़ी पर जाने लगता, तब उस समय तक, ऐसा कोई कार्यक्रम वह बतलाता न था कि कहाँ जाना है और किस लिए जाना है।

गाँव की उस भग्नगढ़ी में एक-दो नहीं, दस-बारह मकान थे। किसी में एक दीवार गिर गई थी, अतः छत की धन्नियाँ लटककर तिरछी हो गई थीं। वर्षा, आतप और आँधियों ने उन पर टूटी-फूटी ईंटों के ढेर और झाड़-झंखाड़ डाल दिये थे। किसी-किसी कमरे में सड़े-गले काठ-कबाड़

और दीवार के खड़ंजों का ढूह बन गया था। उसके ऊपर पथरीली मिट्टी जम गई थी। काल के चरण बहुत आगे बढ़ आये थे और अब उस ढूह के ऊपर हरी दूर्वा, घमरा, आक और धतूरे के पौधे उगकर वयस्क हो चले थे। लुटे हुए वैभव के इस भग्न प्रासाद में कुछ कमरे ऐसे भी थे, जिनमें एक-एक ईंट खील-खील-सी बिखरी पड़ी रहती थी। कहीं नोना लग गया था, और कहीं सौ-सौ, पचास-पचास ईंटों का खडंजा ढहा पड़ा था। कहीं सियार और कुत्ते घूमते रहते, कहीं चिड़ियाँ आकर बैठतीं और चहचहातीं। कौवे ऊपर मंडराया करते। कहीं-कहीं बीच में नीम और आम के पेड़ अब बड़े हो गए थे, जिन पर कभी कोयल आकर बोलने लगती और कभी मोर और मोरनी का जोड़ा, तने के निकट सघन छाया-वितान के नीचे, मानो किसी अज्ञात अतीत की स्मृतिमात्र से विह्वल होकर नाच-नाच उठता।

एक दिन जब निरुद्देश्य विजय हवेली के निकट तक आ पहुँचा, तो अकस्मात एक किसान से पानी माँगकर पीने के क्षण भर बाद उसने पूछा—"सुनते हैं इस गाँव का इतिहास बड़ा विचित्र है।"

माखनलाल ने गमछे से मुँह का पसीना पोंछते हुए उत्तर दिया—"बाबूजी, गाँव का नहीं, इस हवेली का इतिहास जरूर विचित्र है।"

ब्रजमोहन साथ में था। सदा की भाँति अब उसे पता चला कि हो-न-हो यह विजय इस गढ़ी को देखने-दिखाने के लिए ही मुझे साथ ले आया है।

विजय ने उत्तर दिया—"अच्छा गढ़ी का ही सही, पर विचित्र कैसा ? यही जानना चाहता हूँ।"

माखनलाल थोड़ा पढ़ा-लिखा आदमी था। लोटा-डोर को कुएँ के एक पत्थर की शिला पर रखते हुए उसने उत्तर दिया—"विचित्र इस अर्थ में कि गढ़ी तो यह बहुत पुरानी है। हो सकता है, तीन-चार सौ वर्ष हो गये हों। पर कहते हैं, इसकी ऊँची चोटी पर आसपास की जमींदारियों के स्वामियों ने सौ-सौ, पचास-पचास वर्ष के अन्तर से अनेक बार अपने लिए मकान बनवाकर रहने का प्रयत्न किया है। परिणाम आपके सामने है। जो कोई भी आकर इसमें रहा और बसा, उसका वंश-

दीप कालान्तर में बुझता ही चला गया। मुझे तो ज्ञात नहीं और सच्ची बात है, मैंने देखा भी नहीं। पर सुनता अवश्य हूँ कि पूर्णिमा के दिन जब चाँदनी छिटकती है, तो वहाँ बैठने वाले लोगों को दस-ग्यारह बजे रात के समय वाद्य और संगीत की ध्वनियाँ स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं। मेरे एक चचा का तो यहाँ तक कहना था कि अँधेरी रात में कभी खिलखिलाहट और कभी सिसकियों की ध्वनि के स्वर तो उन्होंने भी सुने हैं। बाबूजी, आप लोग बहुत पढ़-लिख जाने के कारण इन बातों पर विश्वास नहीं करेंगे। लेकिन अल्प वय में जिन सुन्दरियों और तरुण, वयस्क, प्रौढ़ नर-पुङ्गवों ने अपने विवश प्राण इस हवेली के सुरम्य कक्ष में छोड़े हैं, उनकी असमय भग्न आशाएँ इस भूमि को कैसे छोड़ सकेंगी। कभी-न-कभी वे आत्माएँ यदि इधर फेरा करती हों, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?"

ब्रजमोहन बोला—"अब आज तो समय नहीं रह गया। क्योंकि घूमते-घूमते ही रात हो जायगी। देखना ही है तो फिर किसी दिन आयेंगे।"

परिहास के ढग से कथन को दोहराते और घोड़े जैसा मुँह चलाते हुए विजय बोला—"हाँ, फिर किसी दिन आयेंगे। अरे डरपोक, कोई संयोग दुबारा नहीं आता। हम इस गढ़ी को या तो आज ही देखेंगे या फिर कभी न देखेंगे !"

"देखो, विजय तुम ज़िद मत किया करो। मैं तुमसे उमर में ग्यारह महीने बड़ा हूँ, ग्यारह महीने।"

"ज्ञान और साहस के क्षेत्र में महीनों नहीं, युगों के व्यवधान की प्रभु सत्ता पर भी मै विश्वास नहीं करता। मैं इस गढी में आज ही जाऊँगा और अभी। तुमको मेरे साथ चलना ही पड़ेगा।"

ब्रजमोहन में यही कमी थी। उसका व्यक्तित्व आक्रमणात्मक न था। मित्र अथवा गुरुजन के सामने वह प्रायः अनुगामी और समर्पित हो जाता था।

सहमत न होते हुए भी उसके मुँह से निकल गया—"जैसी तुम्हारी इच्छा !"

गाड़ी की ओर चलते हुए ब्रजमोहन ने पूछा—"भाई माखनलाल, तुमने पानी पिलाया है। इसलिए तुम्हारा थोड़ा-सा ऋण तो हमारे ऊपर

हो ही गया है। वह ऋण थोड़ा मैं और बढ़ाना चाहता हूँ। इस भग्न-हवेली को मेरे साथ चलकर जरा दिखला ही दीजिये अब ! आप जानते ही हैं कि एक से दो भले होते हैं और जब दो से तीन हो जाते हैं, तब तो एक परिवार बन जाता है।"

पर माखनलाल ने टालते हुए उत्तर दिया—"बाबू साहिब, आप लोगों को कोई काम तो है नही। मटरगश्ती के लिए निकले हैं। नौ-दस बजे रात तक भी घर पहुँच जायेंगे, तो कोई कुछ नहीं कहेगा और यहाँ हालत यह है कि अगर मड़नी न की, तो बेभर कैसे उठेगा। और समय निकल जाने पर मिज़ाज गरम हो गया, तो भैंस दूध न देकर लात से बात करेगी, सो अलग। इसलिए जो कुछ देखना है, सो आप ही देखिये और मुझको माफ़ कर दीजिये।" और कथन के साथ सोचने लगे, 'हम ख़ुद ही ऋण के मारे दबे जा रहे हैं। क्या दुनिया है ? लोग अपना ही मतलब साधने की कोशिश करते हैं।'

माखनलाल खलिहान की ओर चलने लगा।

ब्रजमोहन ने सोचा, यह तो अच्छी मात दे रहा है। अतः उसके निकट जाते हुए बोला—"अरे सुनिये, सुनिये भाई साहब, ज़रा बात तो सुन लीजिये।"

माखनलाल ने लोटे में डोर की पिण्डी छोड़कर घूमते हुए उत्तर दिया—"सुन ली बात, सुन ली, जिनको कोई काम नही होता, बेमतलब का सैर-सपाटा उन्हीं को सूझता है।"

कथन के साथ माखनलाल खलिहान की ओर घूम गया और ब्रज-मोहन ने मुसकराते हुए कहा—"चलो, अब लौट चलो। अब फिर किसी दिन आयेंगे।"

"ऐसी-तैसी तुम्हारी। हम आज के काम को कल पर कभी टालते हैं ? मैंने अक्सर देखा है कि आदमी अपना निश्चय बहुत जल्दी बदलते हैं। ध्यान है कुछ। विलियम जेम्स ने क्या कहा है ?"

"क्या कहा है ?" मुसकराते हुए ब्रजमोहन ने पूछा।

"कहा है, जो कभी किसी निश्चय पर दृढ़ नहीं रहता, वही आदमी संसार में सबसे अधिक दुखी रहता है।" कथन के बाद विजय गाड़ी पर

जा पहुँचा। तब विवश होकर ब्रजमोहन को भी बैठ जाना पड़ा।

गाड़ी 'स्टार्ट' कर विजय आगे बढ़कर ठीक उसी स्थल पर जा पहुँचा, जहाँ एक घना और विस्तृत इमली का पेड़ था।

हवेली की चढ़ाई वहीं से प्रारम्भ होती थी।

गाड़ी से उतर कर विजय ने चाभी लगा दी।

अब आगे-आगे चला विजय और पीछे-पीछे ब्रजमोहन।

उपाध्याय जी ने कहा—"देखो भाई, कोशिश में पूरी करता हूँ। सफलता और विफलता भावी के हाथ है। इस काम में कितनी बड़ी चतुराई की आवश्यकता है, यह तुमसे छिपा नहीं है! तुम जगमोहन के साढ़ू भाई हो, इसलिए एला को सहज ही अपने यहाँ बुला सकते हो।··· तुम्हारे चिरंजीव कुमुद का जन्म-दिन कब है?"

अब कमल बाबू मुसकराने लगे।

"बोलो, बोलो, ठीक-ठीक बताओ, कब है?"

"वह तो अष्टमी को ही है।"

"तारीख़ कौन-सी है?"

कमल बाबू प्रसन्नता के साथ बोले—"तारीख़ इक्कीस और दिन है रविवार!"

"तो बस तय रहा। दावत ज़रा धूम के साथ होनी चाहिये। वैसे तो स्वयं तुम्हीं को करना चाहिये, लेकिन जब साढ़ू भाई का ही कार्य सिद्ध करना है, तो उस ख़र्चे को उन्हीं के निमित्त एक उपकार समझकर स्वीकार कर लो।···अरे दस-बीस रुपये का सवाल है। कहो तो मैं दे दूँ!"

कमलकिशोर बोले—"नहीं, नहीं, सब हो जायगा।" कथन के साथ उन्होंने धीरे से कहा—"तब तो फिर पत्र आज ही भेज देना चाहिये, जिसमें जगमोहन बाबू अपनी पत्नी आत्मा और पुत्री एला के साथ परसों ही आ जायँ!"

"हाँ, अभी लिखकर पोस्ट करवा दो।"

कथन के साथ उनके कुछ और निकट जाते हुए धीरे से कहने लगे—"सारी मुसीबत यह है कि अगर विजय को मन की कोई नौकरी मिल गई, तब तो वह एक स्थान पर स्थिर हो ही जायगा। यह तो तुम मानोगे ही कि ऐसा अवसर आने से पूर्व उसका विवाह कर देना कितना आवश्यक हो गया है।"

कमल बाबू ने उत्तर दिया—"ऐसी तो कोई बात नहीं है। कभी भी विवाह हो सकता है। मैं तो समझता हूँ कि नौकरी लग जाने पर ही विवाह करना अधिक उत्तम होता।···

"अरे तुम कुछ नही जानते कमल बाबू, समय बड़ा बलवान होता है। यह समय ही है जो मनुष्य को कभी चोटी पर चढा देता है और कभी उसे खन्दक में फेंक देता है। बाबू जी कहा करते थे कि हज़ार बरस जो बीत गये और आगे जो हज़ार बरस आने वाले हैं यह दोनों मिलकर दो हज़ार बरस भी उस समय की तुलना में हीन हैं जो समय हमारे सामने है।···हर समय का मूल्य होता है। अगर इस समय हम चूक गये तो रोने को मकान में कहीं ठौर न मिलेगा। स्वतन्त्र और स्वच्छन्द छोड़ देने में अब बुराई ही बुराई है। कौन जानता है किस अवसर पर विजय का मन डोल जाय और फिर उस नगर में जहाँ रूप और सौन्दर्य का प्रदर्शन जीवन-निर्माण में प्रमुखता प्राप्त कर रहा हो।"

"हाँ, यह तो आप ठीक कहते हैं!"

इतने में परदा हिल उठा और कमल बाबू की धर्मपत्नी शारदा ने हाथ जोड़ते हुए मन्द मुसकान के साथ कह दिया—"नमस्ते।"

"ओ: आप भी हैं, मुझे मालूम ही न था। पर अब तक आप कहाँ बैठी थीं?"—उपाध्याय जी बोले

शारदा जी हँस पड़ीं। बोली—"जब आपका ताँगा भीतर प्रवेश कर रहा था, तब मैं ट्यूब वेल के पास खड़ी थी। चाँदनी रात में, बगिया के भीतर घूमने में बड़ा आनन्द आ रहा था। मैंने सोचा, ऐसे समय पहुँचूँ जब आप लोगों की बातचीत की नाव एक किनारे लग जाय!"

उपाध्याय जी बोले—"क्या बतलाऊँ भाभी, अब तो मैं यहाँ तक

सोचने लगा हूँ कि मुझसे ग़लती हो गई, और भी दो-एक साल पहले विवाह हो गया होता, तो कहीं अच्छा होता ।"

"आपको स्मरण नही है, मैंने तो एक बार आपसे कहा भी था। खुद मेरी ही बुआ के एक लड़की थी—तारिणी । पर आपने यह कहकर टाल दिया कि विजय तो अभी पढ ही रहा है ।"

"मुझे अब बहुत खेद हो रहा है भाभी !"

"पर यह सम्बन्ध भी बड़ा उत्तम है भाई साहिब ! सबसे बड़ी बात यह है कि एला जितनी गुणवती है, उससे अधिक रूपवती ! चौड़े पाढ़ की हरी-हरी साड़ी तथा मूल्यवान रत्नाभरणों की अभिनव सज्जा में, एड़ियों में महावर लगाये, बिम्बा फल जैसे अधरों में लाली सजाये, झिलमिल-झिलमिल वेश-विन्यास में, जब उसे आप अपने आँगन में इधर-से-उधर आते-जाते लज्जा से ठिठुकते और प्रसन्नता से खिलखिलाते, विस्मय से चौंकते और कभी-कभी यकायक सामने देखते ही घूँघट के भीतर लजाते, तत्काल एक झटके के साथ मुँह फेरते हुए देखेंगे, तब प्रसन्नता के मारे फूले न समायेंगे ।"

"सुनता तो ऐसा ही हूँ भाभी । इसीलिए मैंने यह सम्बन्ध बिना विशेष छान-बीन किये आप लोगों के आग्रह से मन-ही-मन स्थिर कर लिया है । अब मैं चाहता यह हूँ कि विजय भी स्वीकार कर ले तो मेरी बहुत कुछ चिन्ता दूर हो जाये । वैसे कल्याणी का तो यही मत है कि जीजा को बिल्कुल पूछा न जाय । किन्तु सारी बातें स्थिर हो जाने पर उनको सब बातें बतलानी तो पड़ेंगी ही । किसी भी दशा में उन्हें यह सोचने का अवसर नहीं देना चाहिये कि हमें पूछा तक नहीं ।"

"इन्होंने मुझे उसी समय सूचना दे दी थी, जब आपसे फ़ोन पर बात हुई थी । उस दिन जीजी के साथ नयनतारा को भी अवश्य भेज दीजियेगा । माना कि आप आयेंगे समय पर ही, पर उसको पहले से ही भेज दीजियेगा । एला से परिचय हो जायगा, तो उस विषय में कुछ सहायता ही मिलेगी ।"

"हाँ यह आपने ठीक कहा ।"

इतने में कुमुद किशोर आ गया और झुककर उपाध्याय जी के

चरण छूने लगा।

"सुखी रहो, सुखी रहो। अब तक कहाँ थे ? पहले से क्यों नहीं आये ?"

"चाचा जी, मैं आपके मृगछौने से बातें कर रहा था। बहुत प्यारा लगता है मुझे।"

"हाँ, विजय का एक शौक ही तो है। अच्छा तो मुझे भी लगता है बेटा, पर इस तरह के शौकों में झंझट कितना है। एक आदमी तो इसी के लिए रखना पड़ता है। सबसे पहली बात है उसकी रुचि के खाने की। फिर उसके घूमने-फिरने की, वातावरण की। विजय का हाल तो यह है कि बिना दो-एक घण्टा यहाँ बिताये उसका जी नहीं मानता। तुम देख लेना दस-पाँच मिनट में आता ही होगा।"

"इन्हीं सब बातों ने तो जगमोहन बाबू और मेरी बहिन आत्मा को मुग्ध कर रखा है। आपको पता है, आये दिनों नित्य ही उनका पत्र आ जाता है। अभी कल भी उन्होंने पत्र में लिखा था कि मैं तो सीधी बातचीत के लिए भी तैयार हूँ। जब हमें सम्बन्ध करना ही है, तो परोक्ष रूप से इस विषय को उसके सामने प्रस्तुत करने की क्या आवश्यकता है ?"

"यहाँ मैं जगमोहन बाबू से सहमत नहीं हूँ। आज के युग में कोई भी उच्च शिक्षित लड़का यह कभी पसन्द न करेगा कि वर और कन्या दो में से किसी को भी जान-बूझकर इसी मन्तव्य के अनुसार उसके सामने उपस्थित कर दिया जाय। इसमें कोई सौन्दर्य नहीं, इसमें कोई कला नहीं, मैं उस सुन्दरता का प्रभाव कभी नहीं स्वीकार करता जो मेरे ऊपर लादी जाती है। अगर किसी भावना की सुन्दरता, चमत्कार की भाँति मुझे आश्चर्य में नहीं डाल देती, अलौकिक आनन्द के रत्नाकर में स्वच्छन्द सन्तरण के लिए विवश नहीं कर देती, तो मुझे ऐसा लगता है जैसे पेड़ा बहुत स्वादिष्ट होने पर भी मुँह में ठूंसा जा रहा है।"

"वाह ! क्या बात कही है आपने भाई साहब। जैसे आप हैं वैसे ही विजय भी है।"

"वैसा कहाँ है ?" कमल बाबू ने बीच से बात काटते हुए कह

दिया--"विजय का तो बात करना भी दुष्कर है। सारी बातों को वह अपनी एक मुसकराहट में उच्छिष्ट सिद्ध कर देता है। जैसे वह सब कुछ जानता हो और सोचता हो कि कहकर स्पष्ट कर देने में क्या मज़ा है ?"

अब अन्धकार कुछ सघन हो चला था। सीरी-सीरी पवन डोल रही थी। पीपल, आम और नीम के पत्ते हिलते हुए कुछ कहते-से जान पड़ते थे। विजय एक दीवार के ऊपर खड़ा होकर कहने लगा--"मैं तो पहले से ही जानता था, जाल है जाल। जिसमें राष्ट्र की इस धरोहर को कोई छू न सके। मुझे तो ऐसा लगता है कि यहाँ यदि मकान बनवाया जाय और इन झुकी हुई दीवारों को सहारा दे कर खड़ा कर दिया जाय; भूमिसात् धन्नियों को उन दीवारों पर जमा दिया जाय, थोड़ी-सी कंकरीट-और सीमेण्ट आदि का उपयोग करके दीवारों पर प्लास्टरिंग कर दी जाय, झाड़-झंखाड़, काठ-कबाड़, मिट्टी और खड़ंजों का ढेर, छोटे-छोटे पौदे और पेड़ काटकर सारी भूमि समतल बना ली जाय, तो यही हवेली पुराने इतिहास की कालिमा धोकर पुनः जगमगा उठेगी !···सुनाई पड़ती है कहीं किसी की हँसी ? आता है कानों में क्रन्दन का कोई स्वर ? कहाँ है वह अट्टहास, जिसको सुनकर सजग चेतन पुरुष भय से काँप-काँप उठते हैं ?"

ब्रजमोहन ने प्रकृतिस्थ भाव से मुसकराते हुए साधारण स्वर में कह दिया--"मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह खण्डहर एक रहस्य है। इतनी जल्दी इन थोड़ी-सी घड़ियों में न तुम कुछ समझ सके हो, न मैं। कुछ निश्चियात्मक रूप से न तुम कह सकते हो, न मैं। फिर अभी हमने इसको देखा ही कितना है ? जब हम पूरी तरह से इसे देखकर चप्पा-चप्पा इसका छान डालेंगे, तभी कुछ कहने की परिस्थिति में होंगे।"

अब विजय के दोनों होंठ फैल गये। उन पर ह्रास दौड़ गया। बोला "शायद तुम ठीक कहते हो।"

विजय के हाथ में टार्च था। और अब ज्यों ही वह आगे बढ़ा, त्यों ही

एक जगह उसे टूटी हुई चूड़ियों के टुकड़े, ढेर-के-ढेर, दिखाई पड़े।

ब्रजमोहन के मुख से निकल गया—"उफ़ ! इतनी चूड़ियाँ !"

विजय आगे बढ़ गया। बोला—"मैंने तुमसे पहले ही कहा था कि अपनी भावुकता पर थोड़ा नियन्त्रण रखना। पर तुम फिर बहकने लगे। जो खण्डहर सैकड़ों वर्षों के इतिहास को मुट्ठी में भर कर वर्तमान को चुनौती दे रहा है, उसकी केशराशि के एक टूटे हुए बाल पर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये।..." और कथन के साथ आगे पैर बढ़ाते हुए उसने टीन की एक चद्दर को बलपूर्वक उठाते हुए कह दिया—"देखो, देखो, यह शीशफूल। किसी सौभाग्यवती नारी की माँग का शृङ्गार।"

विजय ने उसे उठा लिया और ब्रजमोहन भावातिरेक से, निकट पड़ी हुई एक शिला पर बैठकर बोल उठा—"कहा मानो विजय बाबू, अब लौट चलो यहाँ से।"

विजय बोला—"अच्छा, इस समय कोई नारी पीछे से आकर तुम्हारी आँखों पर कोमल-कोमल उँगलियाँ रख दे, तो...?"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"तुम मुझको तंग मत करो विजय बाबू। इस समय लगता है मेरी भुजाओं के रोम-रोम खड़े हो उठे हैं।"

'अभी क्या हुआ है ?' मन ही मन कहता हुआ विजय बोला—"आ गये न तुम उन्हीं किंवदन्तियों के चक्कर में ?"

"चलो, बहुत हो गया, अब लौट चलें।" कथन के साथ ब्रजमोहन का हृदय धक-धक कर रहा था।

अब पूर्व दिशा की ओर चौथ का चन्द्रमा उदय हो रहा था। अँधेरा कम हो चला था, परन्तु हू-हू करती सिहरन करने वाली वायु के भयानक झकोरे बढ़ रहे थे। कुछ पत्ते बोल रहे थे, कुछ खड़खड़ाते हुए उड़ रहे थे।

"अच्छी बात है, बाक़ी कल सही, लेकिन शपथपूर्वक कहो कि कल अवश्य आओगे।" विजय ने उत्तर दिया।

ब्रजमोहन को विवश होकर कहना पड़ा—"आऊँगा, आऊँगा।"

दोनों लौट पड़े। परन्तु उस मार्ग से नहीं, जिससे आये थे, दूसरे मार्ग से।

तीन गज आगे बढ़ते ही सहसा ब्रजमोहन का पैर एक खोपड़ी से टकरा गया।

इसी समय विजय की टार्च ज्वलन्त प्रकाश के साथ उस पर जा पड़ा और उसके मुँह से निकल गया—"डरो नहीं, किसी मृतक की खोपड़ी है। दुःख इसी बात का है कि तुममें विष्णु भगवान् की शक्ति नहीं। वर्ना जिस मृतक की खोपड़ी है, वही सशरीर, सप्राण खड़ा होकर, हाथ जोड़ता हुआ कह उठता—क्षमा कीजियेगा, आपके चरणों को चोट लग गई होगी।"

बस, विजय का इतना कहना था कि ब्रजमोहन एक चीत्कार के साथ अचेत होकर वहीं गिर पड़ा!

ब्रजमोहन को ऐसा मालूम हो रहा था जैसे सुषमा उसके द्वार पर खड़ी है और भीतर नहीं आ रही है। वह जान तो गया है कि सुषमा ही है और कोई दूसरा नहीं और सुषमा संकोच में डूबी है। पैर आगे कैसे बढ़ाये! वे अप्रसन्न जो बहुत हैं।

ब्रजमोहन प्रतीक्षा करता रहा था। न सुषमा आई, न ब्रजमोहन ने ही यह कहा—"आ जाओ, डरो मत।" न वह पलँग से उठा था, न उसमें यही भावना जगी थी कि वह स्वयं द्वार तक जाये और बाँह पकड़कर उसे भीतर ले आये। परिणाम यह हुआ था कि सुषमा आँसू पोंछती हुई लौट गई थी।

बात यह थी कि ब्रजमोहन था रूप का लोभी और सुषमा कुछ साँवली थी।

ब्रजमोहन को ऐसा मालूम हुआ बिलकुल सुषमा है। वैसी ही छोटी-छोटी पतली-पतली अँगुलियाँ, वैसे ही पतले-पतले होंठ; अधरों की चीरन में पान की रेखाएँ, कानों में झुमके, और गले में कण्ठ-श्री। फिर एक निःश्वास सुनाई पड़ी। फिर एक मुस्कराहट, खुली अपलक दृष्टि, एक स्वर—"ओः तुम! आज यहाँ कैसे भूल पड़े।"

ब्रजमोहन सब सुन रहा था। उसमें इतना साहस नहीं था कि एक शब्द भी बोल सकता। यह उसकी प्रथम भार्या थी, जिसको दिवंगत हुए पाँच वर्ष हो चुके थे। उसे टाइफाइड हो गया था। मास के अन्तिम

दिवस थे और वह सोचता था, 'पहली तारीख आये, वेतन मिले, तब तो जाऊँ !'

और सुषमा पूर्व से आने वाली हर गाड़ी की प्रतीक्षा किया करती थी। 'सबेरे साढ़े सात पर पैसेंजर आती है। आते तो अब तक आ न जाते। फिर दो-तीन घण्टे बीते। पार्सल-एक्सप्रेस से चले होगे तो अब स्टेशन पर आ गये होंगे। नौ-पच्चीस पर गाड़ी छूटती है। टाइम-पीस घड़ी टिक-टिकू बोल रही थी और दस बज रहे थे। अब तक तो गाड़ी पहला स्टेशन पार कर चुकी होगी। फिर ग्यारह बजे, बारह बजे। हो सकता है गाड़ी लेट हो। तब तो अभी आने की आशा है।'

"अरे भाभी, ज़रा रन्नो को दरवाज़े तो भेजो। मुझे लगता है वह आ गये हैं।"

रन्नो दरवाज़े गई और देखकर लौट आई। आँगन से ही शोर मचा दिया "नहीं आये, नही आये, फूफा जी, बुआ ! फूफा जी नही आये।"

सुषमा की आँखों से आँसू बन्द नही होते थे। फिर तीसरी गाड़ी शाम को चार के लगभग आती थी। चार बज गये, पाँच बज गये—"अब क्या आयेंगे ! हो सकता है कल आयें !"

इसी तरह होते-करते कई दिन बीत गये। रोज़ गाड़ियाँ आती थीं, नित्य आठ, बारह और पाँच बजते थे। और बात कल पर टल जाती थी। आज नहीं कल आयेंगे। फिर माँ का समझाना प्रारम्भ हो जाता। "इस तरह रोज़-रोज रोया नहीं करते बेटी। नौकरी वाली बात है। कभी छुट्टी मिली, कभी नहीं मिली।"

लेकिन जी ही तो है। इन बातों से कही मानता है।

फिर सुषमा सोचने लगी—'लेकिन वे आने ही क्यों लगे ! इस दुनिया में प्यार तो उसको मिलता है जिसके रूप होता है।'

इसी प्रकार पहले तो कुछ दिनों तक सुषमा रोकर अपना जी बहला लेती, फिर मूर्छित हो-होकर प्रतीक्षा की घड़ियाँ किसी तरह बिताने लगी।

अन्त में ब्रजमोहन उस दिन पहुँचा, जब सुषमा इस संसार से विदा हो चुकी थी।

वही सुषमा है। कोई दूसरी थोड़ी ही है।

ब्रजमोहन को स्पष्ट सुनाई पड़ रहा था—"कभी मैं तुम्हारे पास आने से डरती थी और आज तुम मेरे पास आने से डर रहे थे। ऐसी क्या बात थी!"

लेकिन ब्रजमोहन की वाणी तो खो गई है। वह कहे भी तो क्या कहे। तब तक सुषमा फिर बोल उठी—"मैं प्यासी मर गई थी। भूल गये वह दिन। मेरे जी में आता है कि मैं अब तुमको छोड़ूं नहीं। साथ-साथ रहूँ तुम्हारी छाया बनकर। सुषमा को अपने से दूर रखा था—पर छाया को कैसे दूर करोगे अपने से? बोलो, उत्तर दो।"

बोलना दूर रहा, ब्रजमोहन तो टस-से-मस नहीं हो सकता। केवल कान हैं जिनसे सुन भर सकता है। कोई जो चाहे कह ले। सुनना तो पड़ेगा ही।

"अब तो अम्मा बहुत खुश रहती होंगी। एक दिन दाल में कहीं नमक ज्यादा हो गया था। तो चैला उठाकर मेरी पीठी में मार दिया था। वह दाग अभी तक बना हुआ है। देखोगे नहीं। डर के मारे तब नहीं बतला सकी थी। आज बतला रही हूँ। देखो, देखो यह है काला-काला दर्द अभी तक है। मरने पर भी नहीं गया। अब मैं तुमसे नहीं कहूँगी, तो फिर कहूँगी किससे? कौन सुनेगा मेरी पीड़ा की कहानी?"

अब ब्रजमोहन से नहीं रहा गया। वह अचेत पड़ा हुआ था। फिर भी उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। "लेकिन अब तो तुम मुझको भूल गये होगे। हाँ, ठीक भी है। मनुष्य का मन ठहरा। बहक जाता है, तो अपनों को भूल भी जाता है!"

अब स्वर बदल रहा था: "एक बात मैं कहे देती हूँ—तुमने मुझे प्यार नहीं दिया और मैं प्यासी रह गई। इसका यह मतलब तो नहीं है कि तुम अकेले मौज उड़ाओ और मैं निरन्तर उपवास ही करती रहूँ। मैंने भी मनुष्य का हृदय पाया था। तुम समझते हो प्रतिशोध की भावना मेरे मन में नहीं हो सकती? अब मेरा मुँह क्या देख रहे हो? उत्तरा को बहुत प्यार करते थे न? उसको सीढ़ी से मैंने ही गिराया था। अब तुमको चुनौती है, मुझसे घृणा कर लेना। मैंने उत्तरा को भी अपने में

मिला लिया है। उसने मुझे तुम्हारे प्यार की जो कहानियाँ बताई हैं, उनको सुनकर मेरे मन में इर्षा की आँधियाँ उठती रहती हैं। फिर एक प्रसन्नता भी होती है कि जिसको तुम प्राणों से अधिक प्यार करते थे उसी को मैंने तुमसे छीन लिया है। आख़िर ! बदला ले ही लिया न ! अ··· र र र र—उत्तरा आ गई। लेकिन उसको मै तुमसे मिलने न दूँगी। इसलिए जाती हूँ। जाती हूँ। कभी-कभी यहाँ एक फेरा डाल दिया करोगे न ?"

ब्रजमोहन को मालूम हुआ, वह मुसकराती हुई जा रही है—जा रही है। फिर उसने आँखें खोल दीं।

विजय ने कहा—"बड़े कमज़ोर दिल के हो। क्या हो गया था तुमको ?"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"यह मत पूछो !"

सारा खेल नीयति का है। उपाध्याय जी अगर उस समय घर पर होते, तो सम्भव था कि खाना ही न खाते। किन्तु वह तो कमल बाबू के यहाँ उनके चिरंजीव कुमुद की वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में दावत खाने गये थे।

दावत साधारण न थी। उसमें जगमोहन बाबू आये हैं, जिनके साथ उनकी पत्नी आत्मा और एकलौती पुत्री एला भी हैं और विजय आने का वचन देकर भी जो नहीं आया, वह अकारण नहीं है। माना कि कारण महत्वपूर्ण हो सकता है, पर उसका कोई पूर्वाधार होना चाहिये। बारम्बार उपाध्याय जी के मन में आता—इस प्रसंग में सबसे अधिक लज्जा का विषय तो यह है कि एला अपने मन में क्या कहेगी !

उपाध्याय जी ने थाली सामने आते ही नयनतारा से पूछा—"विजय नहीं आया ?"

"हाँ भइया ने तो कहा था कि मैं सीधा वहीं पहुँच जाऊँगा।" नयनतारा ने कुछ आशंका के साथ उत्तर दिया।

सावित्री बोली—"उसने मुझसे भी यही कहा था।"

कमल बाबू बोले—"कहिये तो थोड़ा और इन्तज़ार कर लूं ?"

चिन्ता के साथ आत्मा बोल उठी—"जब उसने आने के लिए कहा है, तो उसे आना तो चाहिये।"

उपाध्याय जी ने कोई उत्तर नहीं दिया। हाथ का जो कौर अभी रुका हुआ था उसे मुंह के अन्दर डालते हुए उनके मुंह से निकल गया—"केवल आने की बात ही नहीं है। बात असल में है मान जाने की माई-लार्ड।"

जिस समय उपाध्याय जी ने यह बात कही, एला उनकी ओर एक बार दृष्टि डालकर रह गई।

एक आशंका के साथ सावित्री ने उत्तर दिया—"सचमुच जीजी, यही बात है···और मुझे कहना ही पड़ता है कि यही बात थोड़ी कठिन है।"

नयनतारा ने इतने में कह दिया—"मगर अब तो नौ बीस हो रहे हैं मामा। भइया को याद न रहा हो, ऐसा तो नहीं हो सकता।"

सावित्री ने भी कह दिया—"हाँ, उसके काम में देर हो सकती है, अन्धेर नहीं। वह अपने वचन का पक्का है। उसकी 'हाँ' का मतलब 'हाँ' होता है, 'न' नहीं।"

विवश होकर उन्हें भोजन करना पड़ा। पर यह कैसी विडम्बना है, जो पदार्थ संतोष और तृप्ति देने में समर्थ थे, वे भी इस समय उनको फीके और रूखे जान पड़ते थे। वे मन-ही-मन सोच रहे थे—'विजय से एला का परिचय कराने के लिए आज का दिन रखना ठीक नहीं हुआ।'

कभी-कभी कमल बाबू सोचने लगते—'उपाध्याय जी का सारा अनुराग ही समाप्त हो गया जान पड़ता है। आदमी की जाति कितनी स्वार्थ-संलग्न होती है। अधिक न सही एक बार तो कहा होता कि परवल की कलौंजी बहुत बढ़िया बनी है।'

उपाध्याय जी के मन में कभी-कभी एक झुंझलाहट भी आती थी—'आखिर इस विजय को हो क्या गया माई लार्ड! वह समय पर आया क्यों नहीं? ऐसा तो नहीं हुआ कि वह सड़क पार करते कहीं किसी से टकरा गया हो? आजकल ये ट्रक वाले अन्धे होकर 'ड्राइव' करते हैं और मान

लो, रिक्शेवाला हो या ताँगे वाला, धपसट में आकर अगर कहीं कुचल भी जाय, तो इन ड्राइवरों को दण्ड भी क्या मिलता है माई लार्ड ! यह साबित करना बड़ा कठिन है कि उसने जान-बूझकर कुचल दिया है और अगर साबित भी हो गया, तो साल-छै महीने की सज़ा भुगतने में क्या लगता है माई लार्ड। किन्तु ऐसा अवसर भी कहाँ आता है ? सौ-दो-सौ रुपये जुर्माना दे दिया—चलो छुट्टी हुई। आदमी के जीवन का मूल्य क़ानून की दृष्टि में तुच्छ है माई लार्ड !'

शारदा परवल की कलौंजी परस रही थी। अंचल को कमरे में खोंसती हुई वह जो ठिठुक गई तो कमल बाबू बोले—"एक और रख दो। क्या कहूँ सारी योजना विफल कर दी इस लड़के ने।" और जगमोहन बाबू ने कटहल का बीजा छीलते हुए कह दिया—"मगर इसमें चिन्ता की क्या बात है ? फिर अवसर आयेगा, फिर देखेंगे।"

इस विषय को सबसे अधिक गोपनीय रखा गया था एला से। इस अवसर पर जगमोहन बाबू ने जो यह बात कह दी तो एला एकाएक गम्भीर हो उठी।

नयनतारा बोली—"मामी, रशीदा इस समय दिल्ली एक्सप्रेस से जा रही होगी।"

उसका इतना कहना था कि आत्मा ने शारदा की ओर देखते हुए कह दिया—"यह रशीदा कौन है दीदी ?"

उपाध्याय जी कुछ गम्भीर दृष्टि से सावित्री की ओर देखने लगे। इस समय यह भी उनके मन में आया—"कहीं वह भी उसी ट्रेन से···?"

शारदा बोल उठी—"मुझे नहीं मालूम।"

तभी सावित्री ने कह दिया—"हमारे पड़ोस में एक डॉक्टर साहब रहते हैं। उनके पूर्वज थे तो पहले मुसलमान पर फिर इसाई हो गये। रशीदा गोम्स उन्हीं की लड़की है। इस वर्ष उसने बी० ए० किया है। बचपन में मेरे घर आती-जाती रहती थी।"

एला विचार में पड़ गई—"एक तो क्रिश्चियन, दूसरे बी० ए०, फिर पड़ोस में रहना।"

उपाध्याय जी का भोजन अब समाप्त हो गया। वे हाथ में गिलास

लेकर पानी पीने लगे। अब सभी लोग अपना-अपना भोजन समाप्त कर चुके थे केवल कमल बाबू अभी जुटे हुए थे। पुरानी आदत थी कि सबके अन्त में वे एक कचौड़ी अवश्य खाते थे। इस समय कुमुद जो कुछ हँसता हुआ-सा एला के कान में फुसफुसाने लगा तो एला हंस पड़ी। कुमुद कह रहा था—"दीदी, बाबू के दाँत के प्लेट में धनियाँ था या मिर्च का बीज कहीं उसी तरह आ गया है जैसे रास्ते में सामने ही इटखुर्रा आ जाय। जीभ के द्वारा उसी को इधर-उधर किनारे पर फेंकने की चेष्टा कर रहे हैं।"

मुसकराती हुई एला ने मन्द स्वर में पूछा—"पर यह तुमने जान कैसे लिया ?"

कुमुद ने कहा—"बाबू स्वयं बतला चुके हैं। इसीलिए वे पान-इलायची कुछ नहीं लेते।···एऽऽऽ ये लो, गाड़ी रुक गई। दाँत उन्हें निकालने ही पड़े। मैं कह रहा था न ?"

इतने में एला बोल उठी—"क्या हुआ मौसिया ?"

उसके इस प्रश्न पर पहले शारदा हँस पड़ी, फिर आत्मा और जगमोहन बाबू।

एला ने निकट आकर कह दिया—"देखूँ ज़रा।"

तब कमल बाबू बोले—"मगर ये दाँत खाने के हैं दिखाने के नहीं। और कथन के साथ झट से उन्हें पुनः मुँह में खोंस लिया।"

जगमोहन ने घड़ी पर दृष्टि डालते हुए कह दिया—"दस बज गये।"

तब सभी लोगों ने कुमुद को पास बुलाकर उसे उपहार दिये और फिर क्रम-क्रम से सिर पर हाथ रखकर एक साथ आशीर्वाद देते-देते चल दिये।

एक दिन विजय अपनी नई माँ सत्यवती के पास जो गया तो वे प्रसन्नता से फूली न समाईं। उस समय उसके पिता कीर्तिदेव अपने कार्यालय में थे। सत्यवती जो फ़ोन से उन्हें सूचना देने लगी, तो विजय ने जान लिया कि वे और किसी को नहीं बाबू को ही मेरे आने की सूचना

दे रही हैं। तब उसने कह दिया—"यह तुम क्या कर रही हो अम्मा। जब उनकी दृष्टि में मेरे अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं है तब यह सब बेकार है।"

सत्यवती ने उत्तर दिया—"ऐसा मत कहो बेटा। तुम्हें मालूम नहीं, वे तुम्हारे लिये मन-ही-मन कितने दुःखी रहा करते हैं।"

विजय को विश्वास नहीं हुआ, उसने मुस्कराते हुए कह दिया—"स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि दुःख का कारण अज्ञान है।"

"हो सकता है बेटा। तुम्हारी बात सही हो; किन्तु अपने पिता को अज्ञानी बनाकर क्या तुम्हें सुख मिलता है? अच्छा लगता है?"

विजय विचार में पड़ गया।

सत्यवती ने उसे बड़े प्यार के साथ रखा। बढ़िया-बढ़िया चीजें खिलाईं, उसके लिए दो सूट भी सिलने को दिये, और फिर यह भी कह दिया—"जाड़े में आओगे, तो गर्म सूट भी बनवा दूंगी।"

उस दिन कीर्ति बाबू कुछ देर से लौटे। विजय उस समय घूमने निकल गया था। लौटते समय काफ़ी देर हो गई थी। सत्यवती ने बतलाया—कि बड़ी देर तक तुम्हारी प्रतीक्षा करते रहे। तुम्हारा हाल-चाल पूछते रहे। फिर दीदी के विषय में भी पूछा। अभी-अभी खाना खाकर सो गये हैं।

विजय को आश्चर्य हुआ, उसके मुंह से निकल गया—"सो गये हैं?"

सत्यवती ने उत्तर दिया—"हाँ। इस समय ज़रा जल्दी सो जाते हैं। जाओ, जाओ देख लो। मिल आओ। शायद जग ही रहे हों।"

विजय मन में सोच रहा था वर्ष-दो-वर्ष में कहीं एक-आध बार होता है, यह जानकर कि मैं आया हूँ मेरी अनुपस्थिति में खाना खा लेते हैं और इसके बाद सो भी जाते हैं। जिनको इस परिस्थिति में नींद आ जाती है वह ही मेरे पिता हैं। फिर भी माँ के कहने पर वह उनके पास न पहुँचा।

द्वार पर चिक पड़ी थी। बायें हाथ से उसे हटाकर अन्दर पैर रख दिया। देखा, फ़र्श पर नीली दरी बिछी है। बीच में दो पलंग पड़े हैं। दोनों ओर मसहरी लगी है। 'सीलिंग फ़ैन' मन्द गति से चल रहा है। सामने नीला 'बल्ब' जल रहा है। पलङ्गों के बीच में एक छोटी टेबिल है

जिसमें सुगन्धित पुष्पों का गुच्छा एक शीशे के पात्र में रखा हुआ है। चारों ओर ऊँचे स्टूलों पर कलात्मक मूर्तियाँ रखी हुई हैं। चित्र केवल एक है, एक प्रसिद्ध सौराष्ट्रीय कलाकार का। चित्र का भाव है राधा का वंशी वादन। उत्तर और दक्षिण सुलगती हुई धूप-बत्तियाँ सौरभ बिखेर रही थी। जिस पलंग पर वह लेटे हुए थे, उसके दाहिनी ओर एक बड़ी अलमारी है जिसका एक कपाट मनुष्याकार दर्पण से विजड़ित है। अलमारी के कपाट बन्द थे किन्तु उसके ताले में एक गुच्छा लटक रहा था। पलँग के नीचे श्वेत नागरा जूतियाँ पड़ी हुई थीं, जिनमें अन्तर एक फ़ीट से कम न था। एक जूती कुछ तिरछी रखी हुई थी। फूलों की गुच्छों वाली टिबिल पर कपड़े की जिल्द वाली कोई पुस्तक पेट के बल खुली पड़ी थी। एक अलमारी उत्तर की ओर भी थी, आकार में उतनी ही बड़ी। उसके ऊपर दैनिक और मासिक पत्र क्रम हीन दशा में रखे हुए थे। कमरे की दीवालों पर छोटे-छोटे छीटों की 'पेन्टिंग' थी, स्लेटी रंग की। सब मिलाकर वह कमरा वास्तव में एक गौरव की छाप डालने में समर्थ था।

विजय के आने की आहट पाकर कीर्ति बाबू ने पहले आँखें खोलीं और फिर बन्द कर लीं। विजय को यह सब कुछ नहीं मालूम हुआ। मालूम होता तो यही सम्भव था कि वह लौट जाता। क्षण भर वह रुका रहा फिर आगे बढ़ कर धीरे से बोला, "बाबू, सो गये क्या ?"

कीर्ति बाबू जग रहे थे। कुछ अचकचाकर बोले—"कौन ? विजय ?"

विजय ने उत्तर दिया—"हाँ बाबू।"

उत्तर के साथ विजय ने आगे बढ़कर पिता के चरण छू लिये।

कीर्ति बाबू ने कहा—"आओ, बैठो" कथन के साथ उन्होंने पैर समेट लिये। विजय उसी पलंग पर पैताने बैठ गया।

कीर्ति बाबू बोले—"मेरा पत्र मिला होगा ?"

"हाँ मिला था।"

"अपनी माँ को भी सुनाया होगा तुमने ?"

"सुनाया था।"

"पत्र सुनने के बाद कुछ कहा था उसने ?"

"कहा था कि अब इन बातों में क्या दम है। तीन-चौथाई आयु कट

ही गई। एक चौथाई जो बची है, वह भी कट ही जायगी किसी तरह।"

"तो वह यहाँ आने को तत्पर नहीं है।"

"हाँ बात तो ऐसी ही है बाबू।"

"और तुम्हारे मामा का क्या कहना है ?"

"वे इस विषय में तटस्थ रहना चाहते हैं।"

"ठीक। अच्छा, और तुम्हारे विवाह के सम्बन्ध में वो जो बात चल रही थी।"

"मुझे कुछ नहीं मालूम।"

"हूँ तुमको क्यों मालूम होने लगी, लेकिन मुझे मालूम है तुम तो शायद किसी क्रिश्चियन लड़की से विवाह करना चाहते होगे।"

विजय हक्का-बक्का-सा रह गया।

अभी एक भी क्षण नहीं बीता था, कि कीर्तिबाबू ने कह दिया—"मुझे सब मालूम है।" और कथन के साथ वे उठ बैठे, फिर पलंग के नीचे उतरकर बिजली का एक बटन दबाकर दूसरा उचका दिया। अब कमरे भर दूध के वर्ण का ज्वलन्त प्रकाश फैल गया, फिर उन्होंने अलमारी खोलकर एक फोटोग्राफ़ निकाला और कह दिया—"इस 'ग्रुप' में तुम्हारे बाद जो लड़का बैठा है, वह उसकी लड़की का भाई है, और उसके बाद वह लड़की स्वयं है।"

विजय ने अब भी कुछ नहीं कहा। लेकिन कीर्तिबाबू बोले—"मुझे यह भी मालूम है कि यह लड़की रूप और गुण में तुम्हारे सर्वथा योग्य है लेकिन—नियति का विधान यह है, कि पहले यह लड़की अलीगढ़ भेजी गई और अब समाचार मिला है, कि पाकिस्तान पहुँचने पर तीसरे ही दिन एक आर्मी आफ़िसर के साथ उसका विवाह हो गया है।"

विजय को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उसे साँप ने डस लिया हो। बिना कोई उत्तर दिये उसने जो उठने की चेष्टा की, कीर्तिबाबू ने कह दिया—"बैठो, बैठो, मुझे अभी तुमसे बहुत बातें करनी हैं।"

: ५ :

जब अपनी प्रतिक्रियाओं को विजय किसी प्रकार व्यक्त न कर पाता, तो उसके मन का क्षोभ और भी बढ़ जाता। जीवन के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नाना स्रोतों से बहती हुई युग की पीड़ा जब असह्य हो उठती, तब कुछ न कर सकने की स्थिति मे, उसका अन्तर्द्वन्द्व और भी प्रखर हो उठता। सम्पूर्ण समष्टि उसकी व्यष्टि पर केन्द्रित होकर केवल एक ही प्रश्न करती—सिद्धान्त या सिद्धि ?

तब एक से अनेक प्रश्न उठने लगते। अवसरवादिता, व्यावहारिकता एवं स्वार्थ की पृष्ठभूमि में पालित-पोषित सिद्धि क्या सामूहिक सिद्धि का प्रतिनिधित्व कर सकती है ? क्या वह जीवन का शाश्वत आधार बन सकती है ? क्या वह युग बदल सकती है; समाज में नूतन क्रान्ति कर सकती है ? क्या वह सिद्धि आत्मोत्सर्ग का कारण बन सकती है ?

और अन्त मे जब उसके मुखमण्डल पर व्याप्त विवर्णता का ज्वार धीरे-धीरे शमन होने लगता, जान पड़ता, मानो उसे कोई ऐसा उत्तर मिल गया है, जिससे उसकी सारी मनोव्यथा शान्त हो गई है। उसमें एक ऐसी दृढ़ता आ गई है, जो अणु-परमाणु में व्याप्त होकर चतुर्दिक यह घोषित कर रही है, कि जीवन पर्यन्त सफलता न मिले, बला से, लेकिन पद और अधिकार लोलुपता के नाम पर मै अपने सिद्धान्तों की हत्या कभी न होने दूँगा।

विजय के ऐसे मित्र दो-ही-एक थे, जिनके समक्ष वह अपने जीवन के नाना प्रयोगों को संयोजित आत्मीयता के साथ व्यक्त कर सकता। जब उसकी ऐसी मनःस्थिति होती, तो वह अक्सर ब्रजमोहन के यहाँ चला जाता।

ब्रजमोहन उन दिनों आय-कर-विभाग की एक शाखा के प्रधान लिपिक था। शरीर इकहरा और वर्ण उज्ज्वल। नित्य सवा नौ बजे पैंट के जेब में हाथ डाले हुए वे मकान से बाहर निकलकर, बायें कोने पर स्थित पान

की दूकान पर जा खड़ा होता। उस दिन का दैनिक पत्र उसे वहीं देखने को मिल जाता था। जितनी देर में पानवाला उसके लिए पान लगाता, बस उतनी ही देर में वह उस समाचार-पत्र के मुख्यस्तम्भ और समाचार सरसरी दृष्टि से देख लिया करता था। धीरे-धीरे यह अभ्यास इतना बढ गया था कि कार्यालय के साथी लोग संसार की राजनीति की जानकारी के विषय में उसको एक अधिकारी व्यक्ति मानने लगे थे।

ब्रजमोहन बाबू के माता-पिता, भाई-बहन सब कुछ थे, किन्तु रहते वे कानपुर नगर में अकेले थे। उनकी पहली पत्नी का स्वर्गवास तो वर्ष भर के अन्दर ही टाइफाइड से हो गया था। दूसरी पत्नी भी मुश्किल से छै मास उनके साथ रह पाई थी। पेट में बच्चा आ चुका था। मकान की सीढ़ी कुछ ऐसी चिकनी हो गई थी कि पैर रखते ही फिसल गया। फलतः एक बार जो गिरी, तो फिर लुढ़कती ही चली गई। चोट इतनी अधिक आ गई कि पहले गर्भपात हो गया, फिर सन्निपात।--और दूसरे दिन प्रातःकाल होते-होते वह भी सदा के लिए इस संसार से विदा हो गई।

इस प्रकार उन दिनों ब्रजमोहन विधुर जीवन व्यतीत कर रहा था। कुछ दिन तो दुःख-शोक के वातावरण में व्यतीत हुए, फिर धीरे-धीरे साथ उठने-बैठने वाले लोग विवाह की चर्चा चलाने लगे। ऐसे अवसरों पर ब्रजमोहन बाबू अन्यमनस्क हो उठता। कभी कुछ जवाब ही न देता। कण्ठ के उतार-चढ़ाव से लगता, जैसे भीतर-ही-भीतर कुछ पी रहा हो।

प्रातःकाल उठते ही ब्रजमोहन अपने हृदय में एक आघात का अनुभव करता। एकाकी जीवन का हरक्षण एक इसी स्मृति के रूप में समक्ष आ जाता कि मेरी दुनियाँ उजड़ गई है। उत्तरा का स्वप्न ही केवल शेष है, जो फिर कभी साकार न होगा।

जिस मकान के ऊपरी भाग में वह रहता था, उसके ठीक नीचे एक जलपान-गृह और होटल था। प्रातःकाल उस 'रंजना' का ब्वाय चाय-टोस्ट दे जाता और नौ बजते-बजते भोजन-सामग्री का थाल रख जाता। उसके बाद फिर वही कार्यालय और फिर वही कार्य। दोपहर को लञ्च के समय जब चाय पीने बैठता, तो साथियों का मनोविनोद प्रारम्भ हो जाता--"आक्खाः, ब्रजमोहन बाबू हैं? कहो यार, कहीं से कोई पतंग कटकर

तुम्हारी सूनी अटरिया पर आई या नहीं ?"

ब्रजमोहन जैसे कटकर रह जाता । उसके होंठों पर एक ऐसी मुस्कराहट झलक उठती, जिसमें मिठास के स्थान पर एक मृदुल निर्वचनीयता होती ।

'सुन रही हो उत्तरा ! यह वही व्यक्ति है जो तुम्हारे हाथ की बनाई मिठाइयों की निरंतर प्रशंसा किया करता था । आज तुम नहीं हो, तो तुम्हारा वह संसार भी नहीं रहा इसके लिए ?'

कार्यालय के साथियों में कुछ लोग ब्रजमोहन की मनःस्थिति से परिचित भी थे । एक थे मुरलीधर । कभी-कभी सहानुभूति प्रकट करते हुए कह देते—"देखो भाई, और सब कुछ कहो, पर ऐसी कोई बात मत कहो, जिससे बिरजू बाबू के मन को दुःख पहुँचे । अभी ताज़ा घाव है । भरते-भरते भरेगा ।"

एक थे रजनीकान्त । उनको महापुरुषों के आदर्श वाक्य रटे हुए रहते । एक दिन कहीं उन्होंने कह दिया—"इसी अवसर के लिए लाङ्ग-फेलो ने कहा है—दिवा स्वप्न में बैठ और उन लहरों के बदलते हुए रंग को देख, जो मन के अलस किनारों पर आ-आकर टकराती है ।"

मुरली बाबू बोल उठे—"वाह रजनी, बेटा चिड़िया बड़ी दूर की लाते हो ।"

इतने में कहीं सुदामाचरण बोल उठे—"आप लोगों को शायद यह बात नहीं मालूम कि रजनी बाबू का घोंसला अभी नया है ।"

इस पर सब लोग एक साथ हँस पड़े ।

इस प्रकार कार्यालय में ब्रजमोहन बाबू की तबियत तो किसी तरह बहल जाती थी, पर मकान का वातावरण सदा एक सूनापन लिये रहता । कुछ अजीब-सी हालत थी; न मकान में रहते बनता, न उसे छोड़ते बनता ।

उस दिन जब बोझिल मन उदास आकृति लिए हुए विजय उसके यहाँ आया, तो ब्रजमोहन भी उसे खोया-खोया-सा लगा । पीड़ित मन को पर पीड़ा का परिचय तत्काल मिल जाता है, जब उसमें सहानुभूति उतनी ही प्रबल होती है ।

अवसाद से थकी वाणी में विजय बोला—"जिन लोगों के प्रसन्न

चेहरों को देखकर थोड़ी देर के लिए मैं जीने की घड़ियाँ निकाल लेता हूँ ——जब उनपर भी विषाद की खल रेखाओं को कौतुक करते देखता हूँ, तो मर जाने की-सी स्थिति में हो जाता हूँ। कभी-कभी तो यह दाह इस सीमा तक पहुँच जाता है कि सोचता हूँ—संसार के समस्त दुःखियों को मार डालूँ, ताकि उन्हें देखकर सुखी लोगों की अन्तश्चेतना को अपराधी अनुभव करने का अवसर ही न मिले। तुम्हारे मुख पर भी आज कोई पीड़ा उभड़ी-सी जान पड़ती है ?"

"पीड़ा तो जीवन में शाश्वत होती है विजय भाई। प्रश्न केवल उन अवसरों और संयोगों का है, जो उसे नाना रूपों में उभाड़ते रहते हैं। आज कार्यालय में कुछ सहयोगियो ने प्रहसन के रूप में जो दो-चार छींटे मार दिये, तो एकाएक धुँधली पड़ती स्मृतियाँ धुलकर निखर उठीं।"

सामने के कपाट की ओर स्थिर ब्रजमोहन की आँखों के सामने एक बार फिर एक स्वप्न-चित्र स्पष्ट हो उठा।——'इसी कपाट पर हाथ रखकर चुपचाप खड़ी हुई उत्तरा कभी-कभी मेरी पतलून और टाइयाँ निरखा करती थी !'

क्षणभर बाद ब्रजमोहन स्नानागार के निकट जा खड़ा होता। तुरन्त उसे ध्यान आ जाता——'उत्तरा यहीं बैठकर दाँतों में ब्रश करती——फिर स्नान करते समय अपने गुलाबी चरणों की एड़ियाँ इसी शिला पर घिसा करती थी। उस समय वह कभी-कभी गुनगुनाने भी लगती थी—— म्हाने चाकर राखो जी ! चाकर रहसूँ, बाग लगासूँ, नित उठ दरशन पासूँ——'और इतने में जेब से रूमाल निकलकर ब्रजमोहन की आँखों से लग जाता।

प्रातःकाल उठते ही ब्रजमोहन अपने हृदय में एक आघात का अनुभव करता——'ओह ! उत्तरा अब इस संसार में नहीं है। मुझे वह अकेला छोड़ गई है।'

फिर वही दैनिक जीवन-व्यापार प्रारम्भ हो जाता।

इन्हीं दिनों की बात है। एक दिन आ गये ब्रजमोहन के बड़े भाई, शिवमोहन। रात का समय था। भोजन से निवृत्ति पाकर जब दोनों एक ही कमरे में लेट रहे, तो शिवमोहन ने विवाह की चर्चा छेड़ दी।

बोले—"देखो बिरजू, जो कुछ हुआ सो हुआ। पर अब तो तुमको ब्याह करना ही पड़ेगा। मैंने सभी बातों की जानकारी प्राप्त कर ली है। लड़की परम सुन्दरी और ग्रेजुएट है। सब तरह से तुम्हारे अनुरूप। और हाँ, अच्छी याद आई। संगीतकला में भी बहुत दक्ष है। आकाश वाणी से उसको गायन के अवसर मिलते रहते है। शायद तुमने उसका नाम भी सुना हो, राजेश्वरी ? सवेरे मै चला जाऊँगा। तब तक तुम इस प्रस्ताव पर विचार कर लेना। अच्छा !"

ब्रजमोहन ने उस समय बड़े भाई के इस कथन का कोई उत्तर नहीं दिया सिवाय इसके कि उसने करवट बदल ली।

दूसरे दिन जब शिवमोहन चलने लगे तो प्लेटफार्म पर पहुँचते ही उन्होंने फिर वही प्रश्न कर दिया—"हाँ बिरजू, तो मै बाबू से क्या कह दूँ ?"

यकायक ब्रजमोहन गम्भीर हो गया। बोला—"इतनी जल्दी में मै कुछ निर्णय नही कर सका भैया। दस-पाँच दिन में जैसा कुछ तै करूँगा, पत्र में लिख दूँगा।"

ब्रजमोहन ने बड़े भाई के पैर छुए। शिवमोहन ने आशीर्वाद देते हुए कह दिया—"मगर दस-पाँच दिन में पत्र ज़रूर लिख देना। लग्न के दिन है। लड़कीवालों को अधिक समय तक लटकाना ठीक नहीं।"

ब्रजमोहन चिन्ता में पड़ गया। उदासीनता के साथ उसने इतना ही कह दिया—"अच्छा !"

गार्ड ह्विसिल देता हुआ हरी झंडी दिखा रहा था। फिर एंजिन ने सीटी दी और क्षणभर बाद गाड़ी चल दी।

अब ब्रजमोहन जब स्टेशन के बाहर चलने लगा तो उसे फिर उत्तरा का ध्यान हो आया। 'भाई को विदा करते समय भी वह उदास नही हुई थी। इसी तरह मैं उस दिन भी उसे भेजने आया था। घर लौटने पर भी वह प्रसन्न दिखलाई पड़ी थी। मैंने जब कहा कि मै एक दिन भी तुम्हारे बिना नहीं रह सकता, तब वह हँसती-हँसती कहने लगी थी—"अच्छा तो मुझको भी न लगता। सदा यही सोचा करती—कौन जाने खाना क्या बनाया हो ! तबियत भरी हो—न भरी हो !"—मैंने कह दिया—"बस केवल खाने की बात को लेकर स्मरण आता ! जीवन में अगणित

प्रसङ्ग होते हैं। उनमें से एक भोजन को ही तुम सर्वाधिक महत्व देती हो!" इस पर वह हँस पड़ी थी। आः वह ऐसी हँसी थी, जिसे मैं आज भी भूल नहीं पाया हूँ।'

ब्रजमोहन इसी स्वप्न-स्मृति में आँसू पोंछने लगा।

विजय अक्सर ब्रजमोहन के यहाँ घंटों पड़ा रहता, ब्रजमोहन को यह पता ही न हो पाता कि वह चुपचाप पड़ा क्यों है? घंटे-दो-घंटे बाद जब वह चाय या नाश्ता ग्रहण करने बैठता, तब दो-चार दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी वाले मुँह में बिस्कुट या पकौड़ी का टुकड़ा डालते हुए मुस्करा उठता और साथ में बस इतना कह देता—"आज मैंने खाना नहीं खाया।"

ऐसे अवसर पर ब्रजमोहन अगर थोड़े आश्चर्य के साथ यह पूछ बैठता "क्यों?" तो विजय कोई-न-कोई नया और विचित्र कारण बतला देता।

होते-करते ब्रजमोहन को उसके सम्बन्ध में इस बात का पूर्ण अनुभव हो गया था कि वह भावुक व्यक्ति है। इच्छा के प्रतिकूल कोई छोटी बात भी सहन नहीं करता। न तो यह भविष्य की चिन्ता करता है, न उसके प्रलोभन में पड़कर अपनी अन्तश्चेतना का हनन।

उस दिन कुछ ऐसा हुआ कि ब्रजमोहन ने पूछा—"आज खाना खा आये हो कि नहीं, यह बतलाओ पहले।"

विजय चाय का पहला घूँट कण्ठगत करते हुए पहले मुस्करा उठा, फिर बोला—"जानकर क्या करोगे?"

ब्रजमोहन विचार में पड़ गया। सोचने लगा—'जान पड़ता है आज भी इस मूर्ख ने उपवास ही किया है।'

तब उसने कह दिया—"क्यों, आज फिर किसी से झगड़ा हो गया?"

विजय ने उत्तर दिया—"बस, अब आज के बाद जीवन में कभी उसकी शकल न देखूँगा।"

"क्यों, क्यों! आखिर बात क्या हो गई!" ब्रजमोहन ने पूछा। पर उसी समय उसे छींक आई। विजय के हाथ में प्याला था। छींक के

कारण हाथ से गिरते-गिरते बचा। अतएव सम्हल कर उसने कह दिया—"बात केवल सिद्धान्त की है। उस प्रिंसिपल के पास बी० ए० परीक्षा की उत्तर-पुस्तके जाँच के लिये आई है। मुझसे बोला—ख़ाली बैठे हो, मेरी उत्तर-पुस्तकें ही जाँच दो। अंक-पत्र भेजने का समय निकट आ गया है।—फिर बेशर्म की तरह दाँत निकालता हुआ कहने लगा—क्या बताऊँ, कुछ ऐसी मुसीबत है मेरे साथ कि प्रतिवर्ष इस काम के लिये मुझे किसी-न-किसी का मुँह ताकना पड़ता है।"

"मैंने कहा, यह मुझसे न होगा। परीक्षक तुम हो, पारिश्रमिक तुम्हें मिलेगा। इसलिए उन्हें जाँचना भी तुम्हीं को चाहिये। यह सरासर बेईमानी है कि रक़म तो तुम ऐंठो—और बेगार दूसरों से लो।"

विजय कथन के क्षणभर बाद रुका, फिर बायें हाथ की अँगुलियाँ चटकाता हुआ बोला—"बस, इसी बात पर तू-तू मैं-मैं हो गई। उसने कहा—इन्हीं अवगुणों के कारण तुम्हें कहीं नौकरी नहीं मिलती और इसी कारण जीवनभर तुम सदा असफल रहोगे। अन्त में उसने यहाँ तक कह डाला कि अगर मुझे पहले से यह मालूम होता कि तुम इतने अव्यावहारिक और अकर्मण्य निकलोगे, तो अपने मकान में शरण देना दूर, कमरे के भीतर पैर तक तो रखने देता नहीं।"

"मैंने कहा, मैं संसार की उस अभागी जाति का व्यक्ति हूँ, जो सफलता के नाम पर न कभी ईमान छोड़ती है और न कभी किसी के साथ विश्वास-घात करती है। मैं जानता हूँ कि तुम्हें दुर्बुद्धि का बड़ा अभिमान है। पर तुम धोखेबाज़ और बेईमान हो। मुझे अपने स्वाभिमान की हत्या कर तुम्हारे यहाँ टिकने की आवश्यकता ही क्या थी? मैं तुम्हारी प्रार्थना पर यहाँ आया था। तुम्हारी बीवी बीमार थी और तुम अकेले थे। जब ठहर जाने के लिए तुम मेरे सामने गिड़गिड़ाये तब मैंने केवल मानवता का ध्यान रख-कर अपनी सेवाएँ तुमको अर्पित कर दीं। और अब, जब तुम्हारा काम निकल गया, तब तुम इस रूप में अपनी कृतघ्नता का परिचय दे रहे हो। तुम मुझसे वह काम कराना चाहते हो, जो मेरे सिद्धान्त के प्रतिकूल ही नहीं, देश के होनहार नवयुवकों के प्रति जघन्य अपराध भी है। मेरा बस चले, तो मैं ऐसे भ्रष्टाचारी शिक्षकों को गोली से उड़ावा दूँ।"

मुस्कराते-मुस्कराते ब्रजमोहन ने कह दिया—"बात तो तुमने बड़ी कड़ी कह दी। इस बात का भी ध्यान नहीं रखा कि वह तुम्हारा मित्र है। खैर.....हाँ, फिर उसने क्या कहा।"

"कहा क्या ?" विजय गरज कर बोला—"आप चले जाइये यहाँ से। इसी दम, इसी वक्त। जब आप तमीज़ से बात नही कर सकते, तो मेरे साथ रह भी नही सकते।"

"बात तो उसने ठीक कही थी।" ब्रजमोहन बोला।

"पत्थर ठीक कही थी! जानते हो, मैंने क्या उत्तर दिया ? मैंने कहा—हाँ, मै बेईमान लोगों के साथ बात करने की तमीज़ नहीं रखता। जब मै ऐसे पतित लोगों की शकल देखता हूँ तभी मेरी वाणी का संतुलन नष्ट हो जाता है। बस, यही मेरी कमज़ोरी है।"

ब्रजमोहन हँसने लगा। बोला—"खाना बनवाने में तो देर होगी। अच्छा, तुम मेरे भाग की ये सब पकौड़ियाँ खा लो। तब तक के लिए कुछ आधार हो जायगा। पर यह कमज़ोरी वाली बात तुमने खूब कही। इस बात को तो उसे एक मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में रखना चाहिये था।"

"कौन ख़याल करता है इन बातों का!" विजय इस तरह बोलने लगा, जैसे कुछ हुआ ही न हो। ब्रजमोहन ने कहा—"हाँ, बात तो कुछ ऐसी ही है वास्तव में।"

क्षणभर बाद फिर विजय स्वत: अपना समाधान-सा करने लगा—"बात यह है कि जब दो व्यक्तियों में एक बार झगड़ा उत्पन्न हो जाता है, तब सत्य और सुहावनी बातें भी क्रोध अग्नि में स्वाहा हो जाती हैं।"

ब्रजमोहन ने चाय का प्याला समाप्त करते हुए कह दिया—"चलो, यह अच्छा हुआ कि तुम उनके यहाँ से चले आये। किसी स्वाभिमानी व्यक्ति को ऐसे व्यक्ति के यहाँ नहीं जाना चाहिये, जो इस सीमा तक स्वार्थी हो!"

विजय के आगे की पकौड़ियाँ अभी समाप्त भी न हुई थीं कि वह तुरन्त उठ खड़ा हुआ। बोला—"एक आवश्यक काम याद आ गया। अभी आता हूँ, एक-आध घण्टे में!"

सुनकर ब्रजमोहन हक्का-बक्का रह गया। फिर रात को विजय जब

सोते समय आया तो बहुत आग्रह करके ब्रजमोहन ने पूछा--"क्या बात थी ? कहाँ गये थे उस समय ?" विजय ने हँसते-हँसते कह दिया--"कुछ नहीं, योंही, प्रिसिपल साहब के एक नौकर कालियादीन के झोंपड़े में, उसकी घरवाली के बच्चा होने वाला था । उसने मुझसे पहले से कह रक्खा था--'उस वक्त मेरी मदद करनी होगी बाबूजी' वह मुझे भी बड़ा आदमी समझता है । उसी के घर कुछ रुपये पहुँचाने थे ।"

"पहुँचा दिये ?" ब्रजमोहन ने पूछा ।

विजय ने उत्तर दिया--"हाँ, थोड़ी रद्दी इकट्ठी हो गई थी दैनिक पत्रों की । उसी को बेचकर जो आठ रुपये सात आने मिले, वही दे आया हूँ । यद्यपि उसके जीने का भरोसा नहीं है । रुपये गुड़ तथा मसाले में न लगकर उसके कफ़न के ही काम आयेंगे ।"

और ब्रजमोहन ने लक्ष्य किया--विजय का कण्ठ भर आया है !

: ६ :

पण्डित बिहारीलाल पुरानी पीढ़ी के व्यक्ति थे। अवस्था यद्यपि पचास पार कर गई थी, किन्तु काँठी उत्तम थी और केश भी बहुत कुछ काले बने हुए थे। वर्ण गेहुँआ, नाक लम्बी, और आँखे प्रभावशाली थीं। जब गंभीर हो जाते, तो मस्तक पर तीन रेखाएँ बन जाती। जब हँसने लगते तो मुँह में भरी हुई तम्बाकू का एक-आध बूँद टपक जाता और बायें कन्धे पर पड़े हुए गमछे का उपयोग मुँह पोछने के लिए अनिवार्य हो उठता। आगे के दाँत और दायें ओर की दाढ़ गिर गई थी। खाना खाने में तो कोई कष्ट न होता था; किन्तु इतना वे अनुभव करने लगे थे कि यमराज के घर से पहला सूचना-पत्र तो मिल ही गया है।

बिहारी पण्डित अधिक पढ़े-लिखे न थे, यद्यपि बचपन में लघु सिद्धान्त-कौमुदी 'भ्वादि' तक पढ़ डाली थी। वे प्रातः-सायं सन्ध्या अवश्य करते थे। द्वार पर ही मंदिर था। घर से मंदिर की सीढ़ियों तक खड़ाऊँ पहने हुए जाते, तो उनके पदक्षेप के स्वर गूँजते रहते। उनका कहना था—"जो आदमी ब्राह्मण होकर संस्कृत नहीं पढ़ता, प्रातः-सायं सन्ध्या नहीं करता, उसे मैं ब्राह्मण नहीं बैल समझता हूँ।" जब कोई ब्राह्मण युवक उनके घर आता, तो उससे यह पूछे बिना न रहते कि सन्ध्या करते हो। उत्तर में यदि वह कहीं सत्य-ही-सत्य बतला देता कि दादा सन्ध्या तो नहीं करता, तो उनका प्रवचन प्रारम्भ हो जाता था—"अगर तुम सन्ध्या नहीं करते, तो तुम्हारी सारी आशाएँ वन्ध्या रहेंगी।"

यह अभ्यास यहाँ तक बढ़ गया था कि बिहारी पण्डित कभी-कभी अपने निश्चित कार्यक्रम को भूल जाते और जब तक उससे संध्या करने की प्रतिज्ञा न करवा लेते, तब तक उन्हें संतोष न होता था। इतना ही नहीं, वह जब कभी मिलता, तो उससे पुनः यही प्रश्न होता। वे यह जानने को सदा उत्सुक रहते थे कि मेरी शिक्षा का कुछ प्रभाव पड़ा है या नहीं।

संतान तो उनके कई हुई थीं, किन्तु जीवित दो ही थीं। बड़ा लड़का राजकिशोर सुलतानपुर जिले में थानेदार था। उससे छोटी थी राजेश्वरी। वह इलाहाबाद में पढ़ रही थी। वहाँ बिहारी पण्डित के बहनोई रहते थे। राजेश्वरी रहती तो लड़कियों के छात्रावास में थी, पर जब उसका मन होता, तब वह एक-आध दिन को अपनी बुआ के यहाँ भी चली आती थी।

राजेश्वरी संगीत कला में बड़ी दक्ष थी। मर्यादा के विचार से हो या कि संकोच के भाव से गाँव में दो-चार घर ही ऐसे थे जहाँ आवश्यकता पड़ने पर, सो भी बहुधा कई स्त्रियों के बीच में ही, वह आती-जाती थी। अकेली तो कभी घर से बाहर निकलती ही न थी। उसके सम्बन्ध में गाँव भर में नाना प्रकार की बातें उठती रहती थीं। कोई कहता—"उसकी बात ही दूसरी है। आपको पता नहीं, अगर दिन में वह तीन बार स्नान करती है, तो पाँच बार साड़ियाँ बदलती है।" कभी-कभी कुछ ग्राम्य महिलाएँ मुँह बनाकर कह उठतीं—"जीजी न जाने दादा को क्या हो गया है, जो विवाह नहीं कर देते! मेरा विवाह तो तेरहवीं बरस लगते-लगते हो गया था और यह तो बीस बरस की हो गई है।" इसी प्रकार की तरह-तरह की निराधार कल्पनाएँ पारस्परिक कानाफूसी में व्यक्त की जातीं और वयस्क लड़कियों के कालेज-जीवन की रंगीनियों पर छींटे कसे जाते।

इस परिस्थिति का सबसे दुःखद रूप तब होता, जब कौशल्या कभी रात में, कभी दिन में, कभी घर और कभी पास-पड़ोस में साधारण वार्तालाप के बीच आर्द्र कण्ठ तथा गीले नयनों से कह उठतीं—"क्या करूँ, जब राज के अनुरूप कहीं कोई सुन्दर वर ही नहीं मिलता!"

ऐसे अवसरों पर कभी-कभी बिहारी पण्डित कौशल्या को समझाने की भी चेष्टा करते। कहते—"राज की माँ, रोने-धोने से कहीं दुख दूर होता है? असल चीज़ है कर्म-लेख। अगर राज को राजरानी बनना है, तो साधारण घर में उसका विवाह हो ही कैसे सकता है?"

किन्तु कौशल्या इसके उत्तर में यही कह देती—"तुम कुछ भी कहो राज के बाबू, मेरा जी नहीं मानता। न जाने वह दिन कब आयेगा।"

इस पर बिहारी पण्डित फिर यही कह देते—"वह दिन आयेगा राज की माँ, अवश्य आयेगा। भगवान के बड़े-बड़े हाथ हैं। वे सब कुछ कर

सकते हैं।"

कौशल्या का शरीर अब टूट गया था। आधे दाँत गिर गये थे। जो शेष बचे थे, वे भी हिलने लगे थे। इस कारण वे पेट भर भोजन न कर पाती थीं। जब कभी मसूड़े सूज जाते, तब तो रहा-सहा भोजन भी न कर पातीं। दूध मात्र आधार रह गया था। जब कोई कुछ कहता —"चाचो, तुम दाँत क्यों नहीं बनवा लेतीं ?" तो वह उत्तर यही देतीं—"किस दिन के लिए ?" और अचानक ही अत्यधिक व्याकुल हो उठतीं।

ऐसी परिस्थिति में कभी-कभी वे दिन भी आ जाते, जब राज दिन भर अपने कमरे में पड़ी रहती। राजकिशोर की दुलहिन आकर कह उठती—"बिटिया, अब झट से स्नान कर लो। खाना तैयार है।"

राज जो चद्दर ओढ़े रहती, करवट बदलकर उसको और भी ऊपर तक खींच लेती। मन्द स्वर में एक वाक्य फूट पड़ता—"अभी भूख नहीं है भाभी। तुम जाओ, अम्मा के साथ भोजन कर लो।"

राजकिशोर बाबू की दुलहिन भी समझाने की चेष्टा करती हुई कह देती—"नहीं-नहीं बिटिया, ऐसे कैसे हो सकता है ? कैसा भी जो हो, खाना कभी छूटता है ? पेट तो भरना ही पड़ता है। चलो उठो। ग्यारह बज गये। दादा खाना खा चुके हैं। अम्मा पूजन से उठने वाली है। तुम न उठोगी तो वे कौर-घूँट जो ग्रहण करती हैं, नहीं करेंगी।"

तब विवश होकर राजेश्वरी को उठना ही पड़ता।

बिहारी पण्डित के छोटे भाई का नाम था गिरधारी लाल; पर पण्डित के रूप में उनका नाम विख्यात न था। पास-पड़ोस के लोग उनको 'गिरधारी भाई' कहा करते थे। उनकी अवस्था अभी पैंतीस वर्ष की थी। वर्ण कुछ श्याम था और शरीर के भी वे ठिगने थे। कहते हैं, मूँछ के बाल ठीक कराने में उनको पूरा आध घंटा लगता था। पर यह बात सर्वप्रथम उस व्यक्ति के मुख से निकली थी, जो उनके घर जाता-आता था। वह जानता था कि गिरधारी भाई जीवन में भी हिसाब-किताब का ध्यान रखते हैं। जिस पत्नी के साथ उनका दूसरा विवाह हुआ है, वह अभी अठारह की ही है।

पान खाने की उनको लत थी। भोगे हुए पनकपड़े में दस-बीस लगे

हुए पान, चाँदी के पनडब्बे में रखे हुए, उनकी सदरी की जेब में पड़े ही रहते थे। देर से उठने की उन्हें आदत पड़ गई थी। बिहारी पंडित उनकी इस दुर्बलता पर सदा कुढ़ते रहते, पर कहते कुछ न थे।

जिस घर में राजेश्वरी बीस वर्ष की हो रही थी, फिर भी अब तक अविवाहित थी, उसी घर में उसकी चाची अठारह वर्ष की थी। उधर राजकिशोर की दुलहिन, राजेश्वरी की भाभी, उससे कुछ ही बड़ी थी, यद्यपि वह दो बच्चों की माँ बन चुकी थी। लगभग समवयस्क चाची और भाभी के बीच राजेश्वरी के मन पर समय-समय पर जो प्रतिक्रियाएँ होतीं, उन्हें छिपाने और दबाने की लाख चेष्टा करने पर भी वे कभी-कभी झलक ही उठती थीं।

बिहारी पण्डित इस मर्म से अवगत न थे, ऐसी बात न थी। वे राजेश्वरी का विवाह तत्काल कर देना चाहते थे। इस विषय में वे गिरधारी से तो विशेष कुछ न कहते, पर राजकिशोर से सदा झगड़ते रहते। उनका कहना था कि इसी ने उसे उच्चशिक्षा की ओर प्रेरित किया है और अब इसी के कारण राजेश्वरी के विवाह में कठिनाई उपस्थित हो रही है। वह पुलिस विभागीय किसी अधिकारी से ही उसका विवाह करने को उत्सुक हैं; पर राजेश्वरी के विचार इसके विपरीत हैं। और नियति का व्यंग यह है कि राजकिशोर जो शिक्षा-क्षेत्र के किसी विद्वान अध्यापक से उसका विवाह करने की चेष्टा भी करता, तो एक थानेदार की बहन से नाता होने की कल्पना पर सम्बन्धित लोग मुस्करा देते थे!

बिहारी पण्डित के इस घर में दो नौकर भी थे। उनमें एक थी चन्दनियाँ। वह जात की कहार और श्याम वर्णा थी। उसका एक लड़का तालाब में सिंघाड़े की बेल लगाता और धान-काकुन की खेती करता था। गाँव के सम्पन्न घरों में पानी भरता और उससे जो पैसा मिलता, उससे घर का ख़र्च चलाता। दीवाली के दिनों में जुआ भी खेलता और अपनी उमर के कोरी-चमार साथियों में पड़कर कभी-कभी दारू भी पी लेता। अगर कभी कोई चन्दनियाँ से पूछता—"गोपलू कहाँ गया री, जो आज तू पानी भर रही है?" तो चन्दनियाँ की मुखाकृति विकृत हो उठती। गर्दन के एक झटके के साथ कह देती—"कहीं अपनी ठठरी बँधवा रहा होगा।

कलूटा कल दुपहर को खाना खाकर गया था, फिर बड़ी रात तक नहीं लौटा। मुआ नया-नया जवान हुआ है, धरती पर पाँव कैसे धरेगा। कब आया, कब गया, पता ही नहीं चल पाता। सबेरे जब मैं घर से निकली तो मुँह बाये चारों खाने चित्त पड़ा खर्राटा भर रहा था। कहीं-न-कहीं बाप की सराध करके आया होगा।"

गली भर में एक छोर से दूसरे छोर तक उसकी गालियों का स्वर और कभी-कभी सुनने वालों के क़हक़हे गूँजते ही रहते थे।

कहते हैं, यह गोपलू जब पैदा हुआ था, तब चन्दनियाँ की उमर बाईस वर्ष की थी। गोपलू का बाप एक बार चोरी में पकड़ा गया था, तो उसको साल भर की क़ैद हो गई थी। पर जेल से छूटने के बाद फिर वह घर नहीं लौटा। पता नहीं वह इस समय कहाँ है! यह भी पता नहीं कि वह इस संसार में है भी या नहीं!

ऐसी अनिश्चित दशा में चन्दनियाँ सोहागिन होते हुए भी विधवा थी। पैरों में चाँदी के कड़े और बिछुवे और हाथों में काली-काली काँच की चूड़ियाँ वह अब भी पहने रहती है। सम्बन्धित घरों में जब कभी कोई मांगलिक कार्य होता, तो वह कभी-कभी माँग में सिन्दूर भर लेती और पैरों में महावर लगा लेती है। पागल मन की बात ठहरी। उसे भरोसा था कि वह कभी-न-कभी ज़रूर आयेगा। यद्यपि उसे लापता हुए अठारह-बीस वर्ष बीत चुके हैं।

चन्दनियाँ की उमर ढल रही थी, लेकिन अभी शरीर की गठन उस हिसाब से नहीं ढली। ऐसे भी दिन आये हैं, जब फलगू कहार ने रात-बिरात में निकट आकर कह दिया है—"अरी चन्दनियाँ, कभी-कभी मेरे घर भी झाँक जाया कर। मैं कोई बाघ तो हूँ नहीं कि तुझे खा जाऊँगा?" और चन्दनियाँ ने उत्तर में कह दिया है—"हूँ, तलैया में मुँह धो आ। मुआ मुझ पर आँख लगाये हुए है। खबरदार जो फिर कभी ऐसी बात कही! गोपलू से कह दूँगी, तो आँखें निकाल लेगा।"

कोई नहीं जानता कि उस समय चन्दनियाँ ने फलगू को ऐसा मुँह तोड़ उत्तर तो दे दिया, पर बड़ी रात तक वह चारपाई पर पड़ी-पड़ी करवटें बदलती रही। एकबार तो सिसकियाँ भर-भरकर ख़ूब रोई भी!

बिहारी पण्डित के घर में दो गोई की खेती होती थी। बड़ी गोई सवारी के काम में अधिक रहती थी। छोटी गोई के बैल यद्यपि अभी अल्हड़ थे, किन्तु खेती का काम देने लगे थे। सड़क पर जाते हुए यदि कभी हाथी या मोटर आगे से आते दिखाई देते, तो उनकी प्रतिक्रिया देखते बनती थी।

खेती के इस काम के लिए दो-तीन आदमी सदा लगे रहते थे। ये आदमी जाति के कोरी-चमार ही विशेष रूप से हुआ करते थे। एक बार कहीं बचान उनके सामने आ गये। दुलारे ने बतलाया कि नौकरी के लिए आये हैं। बिहारी पण्डित यह जानकर कुछ विचार में पड़ गये कि यह आदमी हमारे यहाँ नौकरी करने तो आ नहीं सकता? ज्योंही उन्होंने बचान को सामने खड़ा पाया, त्योंही उनके मुँह से निकल गया—"तुम तो ठाकुर हो बचान?"

"जी, पण्डित जी। आपके परताप से हूँ तो ठाकुर ही।"

"तब इस काम के लिए तुम हमारे यहाँ कैसे आ गये?"

बचान ठाकुर ने सिर नीचा कर लिया। आँखों में आँसू डबडबा उठे। गला भर आया। बोला—"अब यह मत पूछो पण्डित जी।"

"अच्छा, अच्छा। मैं समझ गया। सब समय की बात है।" और बिहारी पण्डित तम्बाकू की चुटकी मुँह में रखते-रखते सोचने लगे—'आज इस आदमी के ऊपर कोई भारी संकट आ पड़ा है। तभी यह हमारे यहाँ आया है।' फिर एक आह भरकर मन-ही-मन कहने लगे—'हे भगवान! सबकी लज्जा रखो।' क्षणभर बाद बचान ठाकुर को लक्ष्य कर बोले—"अच्छा ठाकुर, जब तुम हमारे यहाँ आ ही गये हो, तो मैं तुमको विमुख भी न करूँगा। तुम जिस श्रेणी के व्यक्ति हो, उसकी मर्यादा मेरे यहाँ की नौकरी में भी बराबर बनी रहेगी। उसके निर्वाह का मैं सदा ध्यान रखूँगा। मैं तुमको काम भी वैसा ही सौंपूँगा जिसमें तुम्हारी तबियत लगे। तुम्हें पता ही होगा कि इधर हमारे छोटे भाई कुछ लेन-देन का काम भी फैला

रहे हैं। तुम जानते हो, यह विषय ऐसा है कि बिना त्योरियाँ टेढ़ा किये काम नहीं चलता। तगादगीर की आवाज़ भड़कीली न हुई, तो आसानी से रुपया वसूल नहीं होता और उधर तो बहुत-सा रुपया हमारा लहना हो गया है।"

"पण्डित जी, मैं भी अपने मन में बहुत कुछ समझ करके ही आया हूँ। गिरधारी भैया से बातचीत हो गई थी। उन्होंने यही कहा था कि जो कुछ करेंगे बड़े भैया ही करेंगे। उन्हीं से मिलना ठीक होगा।"

"ठीक है, ठीक है। मगर ठाकुर, हमारे यहाँ तनख्वाह तो बहुत कम मिलती है। खाने के सिवा हम बारह रुपया ऊपर से देते हैं। इतने में तुम्हारा काम चल जायगा?"

बचान ठाकुर ने सोचने में समय नहीं लगाया। तुरन्त बोला—"पण्डित जी, मैंने भी मन-ही-मन यही तय कर लिया था कि आप जो देना चाहेंगे, वही मैं मान लूँगा। रह गई गुजर-बसर की बात, सो वह तो भगवान कराता है।"

"हाँ ठाकुर, कराता तो भगवान ही है। अच्छा तो फिर किसी शुभ दिन चले आना।"

इस बातचीत के बाद भी तुरन्त चल देने के बदले जब बचान ठाकुर कुछ सोच-विचार में पड़ गये तो बिहारी पण्डित समझ गये। बोले—"वैसे चाहो तो आज से ही काम शुरू कर सकते हो।"

बचान ठाकुर ने समय का सदुपयोग करते हुए उत्तर दिया—"उबार लिया आपने पण्डित जी।"

इतने में बिहारी पण्डित बोल उठे—"देखो ठाकुर, भगवान न करे कि कभी किसी के आगे जाकर हाथ पसारना पड़े। जब तुम मेरे पास आये तभी मैंने समझ लिया कि आज का दिन तुम्हारे लिये जीवन में एक महत्व का दिन है। यहाँ मेरे पास आओ।"

बिहारी पण्डित ने बचान ठाकुर को पास बुलाकर धीरे से उनसे पूछा—"अगर कुछ खास जरूरत हो, या कोई काम अटका हो, तो बतलाने में संकोच मत करना, ठाकुर। समझ गये कि नहीं?"

बिहारी पण्डित का इतना कहना था कि बचान ठाकुर ने उनके पैर

पकड़ लिये । उनकी आँखों में आँसू आ गये । हाथ जोड़कर वे बोले—"पण्डितजी, मैं आपकी बड़ाई अक्सर लोगों से सुना करता था, पर आज सैंतुक देख लिया कि आप साधारण आदमी नहीं देवता हैं ।"

बिहारी पण्डित पैसे के सम्बन्ध में सदा सर्तक रहते थे । उनका विचार था कि पैसा अपने मान-अभिमान की रक्षा तभी करता है जब वह अपने पास अपने अधिकार में रहता है । उनकी यह सावधानी इस सीमा तक बढ़ गई थी कि वे कभी-कभी सोचने लगते थे—'अगर कमरे, आलमारी और बक्स की ताली अपने पास नहीं है, तो अपना पैसा भी समय पर धोखा दे सकता है ।' इसलिए उनकी टेंट कभी खाली न होती थी; दस-बीस रुपये वे हर समय अपनी धोती की मुर्री में कागज़ की पुड़िया बनाकर लपेटे रहते थे ।

बचान ठाकुर का इतना कहना था कि बिहारी पण्डित की टेंट खुल गई । पाँच रुपये का नोट निकालकर उन्होंने बचान ठाकुर के आगे करते हुए कहा—"लो, इस समय इतने से काम निकालो । आगे ज़रूरत पड़े तो फिर माँग लेना, भला ।"

रुपये लेकर बचान ठाकुर विदा हुए ही थे कि लाला चन्द्रमाप्रसाद आ पहुँचे । धोती ढीली-ढाली, न सिर पर टोपी, न पैरों में जूता । कोट बहुत लम्बा, बाहें हथेली तक, सिर के बाल खड़े, दाढ़ी सात दिन की बढ़ी हुई । आते ही बोले—"पाँय लागन पण्डित जी ।"

"आशीर्वाद-आशीर्वाद । आओ चन्द्रमा, बहुत दिनों में दिखाई पड़े ?"

"पण्डित जी, होते-कहते महीना भर लग गया हमको । आपके चिरञ्जीव हैं न कानपुर में । नाती भी अब घुटनों के बल चलने लगा है । बहू ने कहला भेजा था कि दादा आम खा जायँ आकर । दशहरी आजकल इफ़रात से आ रहा है ।"

"अच्छा, तो यह कहो कि बहू-बेटा के पास से आ रहे हो । सुनते हैं,

कचहरी में डिप्टी साहब के यहाँ पेशकार है। तब तो आमदनी अच्छी होती होगी ? पेशी की तारीख़ बढ़वाने या जल्दी मामला पेश करवा देने में दस-पन्द्रह रुपये रोज तो हिस्से में पड़ जाते होंगे ?·····हाँ, अच्छी याद आई। हमने सुना है, मकान भी बनवा लिया है तुम्हारे चिरञ्जीव ने ? क्या तनख्वाह मिलती है ?"

"तनख़्वाह तो कोई विशेष नहीं है, मगर हँसी-खुशी से जो आदमी कुछ दे जाय, तो आप तो जानते है पण्डित जी, कि पैसा किसी को काटता तो है नहीं ?"

"वही-वही। और कहो क्या हाल-चाल है ?"

आले में रखी तश्तरी में कटा हुआ दोहरा रखा था, उसी को उठाकर लाला चन्द्रमाप्रसाद के सामने रखते हुए वह बोले—"लो, दोहरा खाओ !···· और ले लो, और ले लो।·····हाँ, अब बतलाओ, हमारे लायक कोई काम तो नहीं है ?"

चन्द्रमा ने मूँछों पर हाथ फेरते हुए कहा—"वो अऽऽ पण्डित जी, अभी हमने बचान ठाकुर को इधर से ही जाते देखा था। शायद आप ही के यहाँ आये थे ?"

"हाँ, अभी, यहीं थे।"

"मै जान गया था।····जरा बच के रहियेगा इनसे। आजकल हालत ज़रा ख़स्ता है। वो, जो तुलसीराम की भैंस चोरी हुई थी, उस मामले में इनका भी हाथ था ! वह तो यह कहो कि बहुत बच गये, नहीं लद जाने में कोई कसर नही रह गई थी। थानेदार साहब तो किसी तरह नहीं छोड़ रहे थे। हम अगर बीच में न पड़ते, तो अब तक जेल में चक्की पीसते होते। बड़ी मुश्किल से मैंने, चोफ़ साहब को समझा-बुझाकर, साठ रुपये पर मामला तय किया।····पैसा इसके पास था नहीं। रुक़्क़ा लिखा है।"

"रुक़्क़ा लिखा है ? अच्छा ! कहाँ ?"

"कल्लू महाजन के यहाँ। दो रुपया सैकड़ा सूद पर।"

"चन्द्रमा भाई, कहो मुकाबले में खरो-खरी सुना दें और कहो मुँहपर चिकनी-चुपड़ी कहते रहें, और पीठ पीछे बुराई करना शुरू कर दें। हम

इसी गाँव में पैदा हुए, पनपे और बड़े हुए। फिर बाल-बच्चे हुए और अब भगवान की दया से पड़े-पड़े पलँग तोड़ रहे हैं। न किसी के दबैल हैं; न किसी का दिया खाते हैं। बचान ठाकुर को हमने शरण दी है। आज, अभी। बेचारा मुसीबत का मारा आदमी है और मैं कहूँगा कि सच्चा आदमी है। मुझे विश्वास है, भैंस के मामले में उसका बिलकुल हाथ नहीं होगा। यह दलबन्दी का विष है लाला चन्द्रमाप्रसाद! जो आदमी होकर भी आदमी को ही खाये जा रहा है। मालूम है गेंदासिंह के मामले में शिवनारायण के विरुद्ध किसने-किसने गवाही देने से इन्कार कर दिया था? तुम मानो चाहे न मानो, यह उसी का बदला चुकाया गया है।"

"देखो पण्डित, बुरा मत मानना। गाँव में सिर्फ़ दो दल हैं। एक गेंदासिंह का और दूसरा पण्डित शिवनारायण का। और पण्डित शिवनारायण के साथ तुम्हारी लड़ाई आज की नहीं तीन साख की है। तो इस तरह सबसे अलग-अलग रहकर तुम जाओगे कहाँ? किसी-न-किसी पार्टी की तरफ़ ढुलकना ही पड़ेगा। तटस्थ रहना चाहोगे, तो जानते हो उसका क्या नतीजा होगा?"

"नतीजे का नाम लेकर मुझे डराओ मत लाला चन्द्रमाप्रसाद। मैं कायर नहीं हूँ जो मैदान छोड़कर भाग खड़ा होऊँगा। मैं शिवनारायण भैया से मिल सकता हूँ, मगर जीते जी अन्याय नहीं सहन कर सकता। तुम गेंदासिंह से जाकर कह देना। मुझे मालूम है कि तुम्हारी बैठक आजकल वहीं जमती है। मुझे यह भी मालूम है कि तुमको कानपुर से आये हुए दस दिन हो गये।"

लाला चन्द्रमाप्रसाद बत्तीसी निकालकर हँसने लगे। बोले—"दादा, तुमसे पार पाना बड़ा कठिन है। अच्छा, तो अब मैं चलता हूँ। पाँय लागन।"

"अरे, बैठो-बैठो, चन्द्रमाप्रसाद। कौन तुमको भैंस दुहाने की देर हो रही है? लो, अब पान खाओ।" कहते-कहते बिहारी पण्डित तकिया के पास रखा हुआ पनडब्बा खोलने लगे।

चन्द्रमाप्रसाद सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"पान तो खाये लेता हूँ पण्डित जी, पर अब चलूँगा।"

"जाओगे ? मगर तुमने असली बात नहीं बताई कि तुम आये किस बहाने ? क्योंकि बेमतलब तो तुम आने से रहे ?"

"बस पण्डित जी, इसी जगह हमारा सिर नत है ! जोड़ नहीं है तुम्हारा!"

"अच्छा-अच्छा, बहुत हो गया।" बिहारी पण्डित ने कहा—"बतलाओ, बतलाओ !!"

"पण्डित जी, थोड़े भूसे की हमें ज़रूरत है। कुछ मेहमान आ गये हैं और उनके साथ दो परोहन भी हैं।"

बिहारी पण्डित ने सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"बस, इतने-से काम के लिए इतनी बड़ी भूमिका ? अरे, आते ही कह देते। मगर कह कैसे देते ! आदत से जो लाचार हो। दुनिया भर की पंचायत की क्या ज़रूरत थी ?·····दुलरवा ! ओ दुलरवा !!"

"आया, आया दादा !"

"अच्छा-सा छै झउआ भूसा, इनके यहाँ छोड़ आओ।"

दुलरवा जब भूसा निकालने लगा तब चन्द्रमाप्रसाद जी उठकर उधर जाने लगे। बिहारी पण्डित ने कह दिया—"बैठो-बैठो। तुम वहाँ कहाँ जाओगे ?"

"हमारे मतलब का जो होगा वही बँधवा लूँगा।"

बिहारी पण्डित बोल उठे—"मैं समझ गया कि तुम्हें गेंहू का भूसा चाहिये। सो कम-से-कम इतना ध्यान तुम्हें रखना चाहिये कि जब मैं तुमको दे रहा हूँ तो अच्छा ही भूसा होगा !"

"हाँ, सो तो ठीक है।" लाला चन्द्रमाप्रसाद कुछ सोचते हुए बोले।

लाला चन्द्रमाप्रसाद अपनी जगह पर पुनः ठीक से बैठे ही थे कि बिहारी पण्डित ने पूछा—"और कुछ ?"

"बस पण्डित जी, और सब इन्तज़ाम पक्का है। बड़ी कृपा हुई। अच्छा, पाँय लागन।"

"जियो-जियो। हमारे लायक जिस सेवा की आवश्यकता हुआ करे, निःसंकोच चले आया करो, चन्द्रमा ! अच्छा !"

अब लाला चन्द्रमाप्रसाद आगे-आगे जा रहे थे और पीछे-पीछे गठरी में भूसा लादे हुए दुलरवा। उस समय लाला चन्द्रमाप्रसाद मन-ही-मन

सोच रहे थे—'काश, यह आदमी थोड़ा दुनियादार होता ! आज गाँव में इसकी तूती बोलती होती। मगर यह बात मेरी समझ में न आई कि भुसौरे में जाने से इन्होंने मुझे रोक क्यों दिया। कुछ-न-कुछ भेद की बात इसमें ज़रूर होगी।'

दूसरे दिन लाला चन्द्रमाप्रसाद, ठाकुर गेंदासिह की बैठक में उपस्थित थे।

गेंदासिह के पास सब मिलाकर कोई अस्सी-पचासी बीघा ज़मीन थी। छै बैलों के बीच तीन हल की खेती होती थी। दो भैंसें और तीन गाएँ थी। हल पीछे एक-एक आदमी लगा रहता था। ये लोग सबसे पहले खेती का काम करते, उसके बाद घर-गृहस्थी का। महँगू लोध को तो गाय-भैंसों से ही छुट्टी न मिलती। एक था सोल्हर। वह पानी भरने में रहता। दरवाज़े वाले कुएँ का पानी कुछ खारी था, इसलिए पीने के लिए पण्डित शिवनारायण के कुएँ से मीठा पानी आता था। तीसरा था खैराती। वह घर का सौदा-सुल्फ़ लाने में व्यस्त रहता। वह हकलाता बहुत था। कभी-कभी यदि कोई अक्षर अटक जाता, तो उसे लौटने में इतनी देर लगती कि सुनने वाला बजाय हँसने के झुँझला उठता। चौथा था जालिम। उसकी भौंहें तनी ही रहती। अगर कोई कुत्ता द्वार पर दिखाई पड़ जाता, तो उसका अंग-भंग किये बिना उसके जी को संतोष न होता था।

गेंदासिह पुराने रईस थे। यद्यपि वह बात अब न रह गई थी, फिर भी आदत से लाचार थे। मकान बनवाने का काम सदा छिड़ा ही रहता। जब देखो तब कभी लकड़ी पर आरा चलता रहता, कभी किवाड़ बनते रहते—आलमारियों, पलँग, तखत, कमरों की कड़ियाँ, खूँटियाँ, रोशनदान के फ्रेम आदि का काम जारी ही रहता। कमरा बन गया तो अब जीना बन रहा है। जीना के नीचे कुछ स्थान खाली छूट गया था, तो सटर-पटर सामान रखने के लिए एक छोटी-सी कोठरी निकाल ली। वैसे, आँगन के एक ओर, नहाने के लिए, वर्गाकार छोटा-सा चबूतरा सीमेन्ट की पुट

देकर बना लिया गया था। मगर देखा गया कि सयानी बहू-बेटियों को नहाने में संकोच होता है, यही डर लगा रहता है कि कहीं कोई आ न जाय, अतएव तय हुआ कि स्नानागार ही बना देना चाहिये। फिर क्या था। राज बुला लिया गया और कन्नी-बसूली चलने लगी। पुराना मकान था। वर्षा आने से पहले या तो नये छप्पर डालने पड़ते थे या पुराने छप्परों में यत्र-तत्र तिन की दाग दोजी करनी पड़ती थी। इस बार ऐसा हुआ कि टीन की चद्दरें मँगवा ली गईं; मकान भर में छप्पर हटवा दिये गये और टीन छवा दी गई। जब सब काम पूरा हो गया तब लाला चन्द्रमाप्रसाद नज़र पड़ते ही मुँह बनाकर बोले—"ऊँहूँ, ठाकुर साहब, यह किफ़ायत-शारी मुझे कुछ जँची नहीं। बैशाख-जेठ के महीनों में इस टीन के नीचे खड़ा होना कठिन हो जायगा। ऐसी आग बरसेगी कि खोपड़ी चटक जायगी; भेजा फट जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। आपको मालूम होना चाहिये कि छोटे बच्चों को शीतला की महामारी अक्सर जेठ के महीने में होती है। जानते हैं क्यों? क्योंकि गर्मी उनसे बर्दाश्त नहीं होती।"

ठाकुर साहब एकदम गुम-सुम होकर विचारों के चक्कर में पड़ गये। फिर बात के मर्म को व्यक्त करते हुए बोले—"लाला, बात तुम सदा पक्की कहते हो। हमारे पास बैठने वाले जितने लोग हैं, सच पूछो तो, सब साले खुशामदी टट्टू हैं। ठीक राय देना किसी को आता ही नहीं। और तुम्हारा यह हाल है, कि हफ्तों शकल दिखाई नहीं देती।····अच्छा, इन बातों को अब गोली मारो, बताओ, यह कि होना क्या चाहिये?"

चन्द्रमाप्रसाद बैठक में पड़े हुए पलँग पर बैठ गये। पहले थोड़ा मुस्कराये, फिर बोले—"पहले कुछ खिलाओ-पिलाओ, तब बतायेंगे, ठाकुर साहब।"

गेंदासिंह ने बड़े सोच-विचार के बाद सिर खुजलाते हुए उत्तर दिया—"इस वक्त मट्ठा तैयार है, और गुड़ की कतरियाँ मैंने स्पेशल बनवाई हैं। कहो लाला, क्या राय है? खाओगे तो तबियत हरी हो जायगी।···· अरे, खैराती, लाला जी को बड़े वाले हरियाना गिलास में मट्ठा और वह जो गुड़ की कतरियाँ मैंने बनवाई हैं, वह भी दो ठो ले तो आओ।"

चन्द्रमाप्रसाद ने गिलास आते ही मुँह से लगाया और साँस तब ली,

जब आधा डकार गये। फिर बीच-बीच में कतरी खाते और घूंट लेते-लेते तीन मिनट में सबका सब मट्ठा चढ़ा गये। रूमाल जेब में ज़रूर था, मगर मैला इतना था कि मारे संकोच के उसे ठाकुर साहब के सामने निकाल न सके। ज्योंही ठाकुर साहब ने जरा नज़र फेरी कि वही रूमाल निकालकर एक ही सपाटे में मुँह पोंछ लिया और पुनः उसे जेब में रखते हुए प्रसन्न मुख सोचने लगे अब मैदान मार लिया।

इतने में ठाकुर ने पूछा—"अब बताओ लाला, क्या होना चाहिये ?"

चन्द्रमाप्रसाद ने उत्तर दिया—"ऐसा करो कि इसके नीचे लकड़ी के तख्ते जड़वा दो। खर्च तो एक बार हो जायगा, मगर फिर सौ-पचास बरस के लिए छुट्टी भी हो जायगी।"

चन्द्रमाप्रसाद का इतना कहना था कि ठाकुर साहब ने लखन बढ़ई को बुलाकर कहा—"तुमने बड़ी गलती की लखन। मुझे तुमसे ऐसी उम्मीद न थी। टीन छवाते समय तुमने मुझे यह क्यों नहीं बताया कि इसके नीचे लकड़ी के तख्ते लगने चाहियें ?"

लखन पहले तो सिटपिटा गया, फिर सहसा सँभलकर बोला—"हज़ार रुपया आपका अभी बिगड़ गया; दो-चार सौ रुपया लकड़ी को नीचे लगवाने में भी बिगड़ जाता। इसलिए मैंने किफ़ायत के ख्याल से कुछ नहीं कहा था।"

"मरी किफ़ायतशारी ! किफ़ायतशारी मैं अपने लिए अपमान समझता हूँ। किफ़ायतशार ही होता तो तुमको दो रुपये रोज़ और साथ में चबेना कौन देता ! ऐसा आदमी न सहृदय हो सकता है न उदार। जाओ, दरवाज़े के पास सहन में जो शहतीरें पड़ी हुई हैं, उन्हें चिरवाने का प्रबन्ध करो।"

"मालिक, वह तो शीशम की हैं। इतनी कीमती लकड़ी से क्या फायदा ?"

ठाकुर साहब ने डाँटते हुए कह दिया—"बको मत। तुम चाहते हो कि मैं अपने जीवन-काल में ही अपना अधःपतन देख लूँ ? पानी न नीम सहन करता है न आम। और यह टीन तो कहीं-न-कहीं से टपकेगी ही। नहीं टपकेगी, तो पानी की छोटी-छोटी बूंदें ही इससे झरेंगी। जाओ,

जैसा मैं कहता हूँ, वैसा करो।"

"अच्छा-अच्छा, सरकार" मिस्त्री कहकर चला गया।

"और कहो लाला, गाँव-बस्ती के क्या समाचार हैं?"

लाला बोले—"समाचार सब बदस्तूर हैं, लेकिन देखता हूँ इन बिहारी पण्डित को बड़ा घमण्ड हो गया है।"

ठाकुर गेंदासिंह हँस पड़े। बोले—"मैं जानता था। अब पण्डित जी को आई-गई न सूझेगी, वह दिन आ गया।....मगर तुमको उनके घमण्ड का पता कैसे चला? कोई बातचीत हो गई क्या?"

"कोई बात हो गई! अरे बात तो ऐसी हुई कि मुझे ताव आ गया, मगर मैंने बुद्धिमानी इसी में समझी कि इस समय टाल ही जाओ।"

"तुम ऐसे आदमी के यहाँ जाते ही काहे को हो?"

"ठाकुर साहब यह गिरिस्ती चीज़ ही कुछ ऐसी काजल की कोठरी जैसी है कि लाख बचकर चलो, कपड़ों में रेख लग ही जाती है।"

"देखो लाला, न तो हमसे कोई नीति-वचन कहो और न सिद्धान्त-चर्चा करो। साफ़ बात करो साफ़।"

"आपको पता नहीं कि जब कभी मैं गाँव में आता हूँ, तब मुझे अपने पास-पड़ोस वालों के सिवाय बस्ती के लोगों से भी कोई-न-कोई चीज़ माँगने की ज़रूरत पड़ ही जाया करती है। कल और कुछ न हुआ मेहमान ही आ गये; सो भी परोहन लेकर। अब आपही बतायें, भूसे के लिए मैं कहाँ जाता?"

"तो तुम हमारे यहाँ क्यों नहीं चले आये? बड़ी ग़लती की तुमने।"

"भाई, माफ़ करना मुझको ठाकुर साहब। नित्य ही तो मैं आपके दरवाज़े खड़ा रहता हूँ। ऐसी दशा में हर ज़रूरत के लिए मैं आपके आगे जबान डालूँ, तो एक-न-एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि आप भी मुँह फेर लें और यह तो आप मानेंगे कि मैं बहुत सोच-समझकर क़दम रखने वाला आदमी हूँ।"

"यह तुम्हारी ग़लती है, लाला। तुम हमको अभी तक समझ नहीं पाये। मैं तो चाहता हूँ, तुम हमारे यहाँ चले आओ। पड़े-पड़े खाओ। जैसे बावन, तैसे तिरपन। मुझे कभी आपत्ति नहीं हो सकती।"

"दूसरों की मैं नहीं जानता, पर कम-से-कम अपने सम्बन्ध में इतना तो कह ही सकता हूँ कि सूर्य पूर्व के बजाय पश्चिम में उदय होने लगे, तो भी आप मेरी बात नहीं टालेंगे।

"ख़ैर, तो भूसा उन्होंने दिया ?

"भूसा तो उन्होंने दिया, पर भुसौरे से बड़ी दूर रखा और दुलरवा से कह दिया कि भूसा इनके घर पहुँचा दो।" और इसके बाद चन्द्रमा-प्रसाद ठाकुर साहब के बिलकुल निकट आ गये। धीरे बोले—"मगर यह बात मेरी समझ में नहीं आई कि भुसौरे में जाने से उन्होंने मुझे रोक क्यों दिया ?"

ठाकुर साहब उतने सम्पन्न नहीं थे जितने बनते थे। लेकिन बुद्धिमान अवश्य थे। जरा चलता हुआ आदमी हो, संकट के समय सहायता कर देना उनकी लोक-प्रियता का एक गुण बन गया था। यह एक ऐसी नीति थी कि गाँव का कोई भी आदमी उनके किसी काम से इन्कार न कर सकता था।

एक ओर उनमें यह गुण था, दूसरी ओर वे इतनी शक्ति भी रखते थे कि जिसको चाहें दिन-दहाड़े बाजार में पिटवा दें। कहते हैं, एक बार तो उन्होंने लाँक में आग लगवाकर एक दुश्मन को, जो उस पर पड़ा हुआ सो रहा था, जलवाकर समाप्त करवा डाला था। हज़ार-पाँच सै लाँक के गट्ठों के ढेर में सौ-पचास गट्ठे इधर से उधर करवा देना उनके बायें हाथ का खेल था। पका हुआ खेत खड़ा था और शाम को किसान उसे देख गया था। पर दूसरे दिन जब वह आदमी लेकर खेत पहुँचा, तो दूर से ही सफ़ाई देखकर ढाढ़ मारकर रो पड़ा। और तारीफ़ यह कि थाने में रिपोर्ट होने पर भी न कोई विशेष जाँच हुई, न कोई आदमी पकड़ा गया। पड़ोस के गाँवों में प्रायः चोरियाँ होती ही रहती थीं, लेकिन पुलिस गिरफ़्तार उन लोगों को करती थी जो या तो निरपराध होते, या पहले किन्हीं मामलों में पुलिस को गवाही देने से इन्कार कर चुके रहते। कभी-कभी कुछ अपराधी पकड़े भी जाते थे। उनसे सौ-दो-सौ रुपये दण्ड स्वरूप ले लिये जाते। इन कार्यों में जो लोग मध्यस्थ होते, उनमें से एक ठाकुर गेंदासिंह भी थे।

अतएव लाला चन्द्रमाप्रसाद की बात सुनकर ठाकुर गेंदासिंह ने एक तेवर के साथ कह दिया—"हूँ, तो यह बात है ! पर भाई, मैं किसी के मन की बात क्या जान सकता हूँ ? और कहो ! चन्दनियाँ के लड़के का कुछ पता चला ?"

"कौन, गोपलू ? वह तो घर में ही है । क्यों, कोई काम था उससे ?"

"नहीं-नहीं, यों ही पूछा मैंने ।"

"अब चलूँगा, ठाकुर साहब ।"

"जाओगे ? मगर तुमने यह नहीं बतलाया कि तुम आये किस काम से ?"

"अ, वो कुछ नहीं । अऽ, यों ही चला आया ।"

"तुम कुछ कहो लाला, बात पचती नहीं है । अभी न बतलाओगे, तो दुबारा फिर आना पड़ेगा । काम हमीं से चलेगा तुम्हारा । इसलिए···

अब चन्द्रमाप्रसाद हँस पड़े और बोले—"बस आपके इस स्वभाव का जोड़ नहीं है, ठाकुर साहब । मैं तो कहता हूँ कि भाई चाहे न हो, पर आप जैसे सहायक मित्र ज़रूर हों । वोऽ बात यह है कि, मैंने तो सोचा था कि मेहमान आज सबेरे चले जायँगे, पर जहाँ विवाह की बात पक्की करने वह लोग आये हैं, वहाँ किसी बात में झमेला पड़ गया है । इसलिए वे हमारे यहाँ आज भर और ठहरेंगे और इसे संयोग ही कह लीजिये कि लकड़ी हमारे यहाँ चुक गई है और पाँच आदमियों के लिए खाना पकवाना है ।"

"तुम बूढ़े हो गये लाला, मगर तुम्हारी यह आदत न गई ।···अरे सोल्हरवा, गट्ठरभर चिरी हुई सूखी लकड़ी तो लाला के घर दे आना ।"

लाला सोल्हर के साथ हो गये और सोल्हर जब लकड़ी भरकर उनके साथ चलने लगा, तो ठाकुर साहब बोले—"शाम को तो घर पर ही रहोगे ?"

"जी, अगर कोई काम न लग गया ।"

"यह अगर-तगर मैं नहीं जानता । या तो तुम खुद घर पर रहो, या मेरे यहाँ चले आओ ।"

तब लाला चन्द्रमाप्रसाद बोले—"अच्छा, मैं ही चला आऊँगा ।"

इतने में एक सिपाही ने साइकिल से उतरते हुए सलाम बजाई और कह दिया—"आपको दरोगा जी ने याद किया है ।"

ठाकुर साहब बोले—"बैठो-बैठो, उस्ताद। साइकिल पर आ रहे हो धूप में।.... अरे खैराती, ज़रा उस्ताद के लिए दो गिलास नींबू का शरबत तो बना लेना।"

"मगर दो गिलास क्यों, एक ही गिलास काफ़ी होगा।"

"नहीं-नहीं, ऐसी भी क्या बात है? जवान आदमी हो। जब मैं तुम्हारी उमर का था, तब बरात में पौनछक आने पर पाँच गिलास शरबत पीता था—पाँच गिलास। हँ, हँ मगर वह भी एक दिन थे उस्ताद।"

खैराती चला गया और उस्ताद खाँ हँसते हुए बोले—"हँ, हँ ठाकुर साहब, वह तो आपका बदन ही कह रहा है।"

: ७ :

धीरे-धीरे यह विचार विजय के मानस में स्थिर होता जा रहा था कि इस संसार में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है, जिसे वह सोलह आना अपना कह सके। साथ ही अपने विषय में सदा यही सोचा करता कि मुझमें जो विलक्षण प्रतिभा है, कभी-न-कभी तो संसार उससे प्रभावित होगा ही। स्वीकार करना तो दूर वह कभी यह सोचना भी न चाहता था कि मैं जीवन से हार गया हूँ। यद्यपि वह यह बात कभी भूल न पाता था कि उसके अपने ही मित्र उस पर हँसते हैं। ऐसे क्षण वह मन-ही-मन कह लेता—'उँह, उन्हें हँसने दो। वे सब मूर्ख हैं। उनके साथ मेरी कोई तुलना नहीं।'

कभी-कभी विजय को अपने अभिमान के विषय में शंका भी हो उठती। ऐसा प्रतीत होता जैसे उसका सारा अहंकार खोखला हो गया है। जो व्यक्ति स्वयं तिरस्कृत है, परिवार से ही नहीं समाज से भी, उसके अभिमान का मूल्य ही क्या है! पर तभी तत्काल वह अपनी इस बात पर हँस पड़ता : 'यही तो मज़े की बात है। मैं ही अकेला अपने ढंग का व्यक्ति हूँ जो अपने अधःपतन पर हँस सकता है। मैं अपनी उन प्रतिक्रियाओं से भी लाभ उठाना जानता हूँ, जिनमें दूसरे व्यक्ति या तो विष खाकर या ट्रेन से कटकर सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं। मैं प्रत्येक अवसर से लाभ उठाना जानता हूँ। मैं परिस्थिति का दास नहीं हूँ, मैं तो उनका विचारक और आलोचक हूँ। भले ही संसार मेरी परख न करे, पर मैं अपनी परवा करना जानता हूँ।'

ऐसे समय उसे एक विचित्र प्रकार के सुख का अनुभव होता। यह सोचते उसे देर न लगती कि जिस प्रकार की असफलताओं पर दूसरे लोग घरों में मृतवत् पड़े रहते है, मैं उन्हीं के भीतर से प्रेरणा और नवपथ खोज निकालता हूँ।

एक दिन वह ऊपर वाले कमरे में सिर पर फरफराते हुए पंखे के नीचे चुपचाप बैठा हुआ सामने खुली छत की ओर देख रहा था। आकाश

मे बादल घिरे हुए थे और नन्हीं-नन्ही बूंदों की फुहार गिर रही थी। कल्याणी गंगा-स्नान को गई हुई थीं। एकाएक कपोत का एक जोड़ा आकर सामने की मुंडेर पर बैठ गया। कपोत पहले कपोती की चोंच में अपनी चोंच डालकर प्रेम-क्रीड़ा करने लगा। फिर थोड़ी देर में पंख पसारकर दोनों उड़ गये।

विजय ने अनुभव किया—'जिस जीवन में इतना रस, आनन्द, सौख्य और सुन्दरता है, उसे वह कैसे छोड़ सकता है!'

नयनतारा उन दिनो होस्टेल में रहने लगी थी। पर एक विजय के विचार से उसे आना पड़ता। वह कभी न चाहती कि उसे कोई कष्ट हो। अतः जब कभी वह आता, नयनतारा भी आ जाती। वह उसके वस्त्रों की स्वच्छता का ही नही, उसकी कमी का भी ध्यान रखती। वह उससे यह पूछना कभी न भूलती कि किसी चीज़ की आवश्यकता तो नहीं है। और विजय जब प्रतिक्रियाओं से घिर उठता, कही जाने का उसका मन न होता, किसी से मिलने की उसकी इच्छा न होती, तब वह घर में ही पड़ा रहता।

उस दिन कपोती और कपोत के इस मिलन-विश्रंभण को देखकर उसके मन में एक हिलोर-सी आ गई—'प्रत्येक प्रभात सुनहले रंगों के साथ आता है और मेरी स्थिति यह है कि मैं उससे कोई लाभ नहीं उठाता। यही गति रही, तो मै कहीं उस शक्ति को ही न खो बैठूं, जिससे जीवन को पोषण मिलता है। खोई हुई सम्पदा तो अध्यवसाय और मितव्ययिता से पुनः अर्जित हो जाती है, खोया हुआ स्वास्थ्य औषधोपचार और संयम से पुनः लौट आता है, पर खोये हुए संगोग की घड़ियाँ पुनः लौटकर नहीं आती; सदा-सदा के लिए चली जाती हैं।'

विजय अपनी माँ के यहाँ जब कभी आता, तब वहाँ के वातावरण में उसे वे समस्त घटनाएँ स्मरण आने लगतीं, 'जिनसे वह कभी लाभ नहीं उठा सका। इसी क्रम में उसे स्मरण हो आया, नयनतारा के पास उसकी एक सखी प्रायः आया करती है। उसके सघन केशों के बीच की माँग इतनी सीधी रहती है, उसके नयनबाणों की कोर इतनी पैनी, उसके हास-परिहास की छवि इतनी मोहक कि मन होता है, उसे देखता ही रहूँ। जबकि

मैंने आजतक उसे जी भरकर कभी नहीं देखा। वह भी केवल इस संकोच के कारण कि वह अपने मन में न जाने क्या कहेगी।'

पर उस दिन उसने इसी बात को इस ढंग से सोचने की चेष्टा की कि वह जो कुछ कहेगी, कह लेगी। भला न कहेगी, बुरा तो कहेगी। कुछ न कहने से तो यही उत्तम है कि बुरा ही कहे। कोई सम्मति न रखना तो और भी मरण है।

तब सहसा एक पुकार उसके भीतर जग उठी। एक ऐसा स्वर फूट उठा, जो सुनाई तो नहीं पड़ता, पर जिसकी गुदगुदी हृदय में स्पष्ट जान पड़ती है। एक ऐसा माधुर्य, जो अन्तस में केवल घुलना जानता है।

स्पष्ट था कि विजय उन परिस्थितियों का सामना करने को तत्पर था, जो केवल प्रयोग से उत्पन्न होती हैं। वह यह अनुभव कर रहा था कि मुझे आवेगों की आवश्यकता है। मैं अब बिना सोचे-समझे कुछ कर बैठने की स्थिति में आ गया हूँ। अब तक मै बेकार भटक रहा था। किसी विशेष प्रयोजन को लेकर प्रवृत्त हो जाने में जो सुख है, वह और कहीं नहीं है। मैं एक ऐसी पुकार सुन रहा हूँ, जो और कोई नहीं सुन सकता। उसके आह्वान में मद है। वह मुझसे सदा कुछ कहती रहती है। मैं उस चितवन को पहचानता हूँ, जो केवल मेरे लिए बनी है। मै उससे परिचय प्राप्त करके रहूँगा। विधि के विधान से जीवन में एक-न-एक दिन ऐसा अवश्य आता है, जब किसी प्रकार प्रबल शक्ति के द्वारा, कोई किसी के निकट खिंचा चला आता है। वही दिन मेरे सामने उपस्थित है।

राजेश्वरी जब नयनतारा से मिलने आती, तो घंटा-आध घंटा अवश्य बैठती थी। नयनतारा का विवाह होने वाला था और राजेश्वरी उसके विषय में वार्तालाप करके नयनतारा से भाँति-भाँति के मनोविनोद किया करती थी। वह पूछती कि कैसे हैं जीजा जी? सावित्री उत्तर देती—"जैसे भले घर के लड़के होते हैं, वैसे यह भी हैं। होठों के ऊपर रेख अभी आ ही रही है। गोरा-छरहरा बदन है; लम्बी नाक; भरा हुआ शोभन मुख।" और एक दिन उसने कह दिया—"ए३ यह लो—फ़ोटोग्राफ़ ही न देख लो।"

राजेश्वरी उस फोटोग्राफ़ को देखती रही—देखती रही और झट उसे लेकर नयनतारा के पास आ पहुँची। फ़ोटोग्राफ़ एक मासिक पत्र में

छिपाकर रख लिया। बोली--"मिठाई खिलाओ, तो एक उपहार भेंट करूँ।"

जान-बूझकर नाक सिकोड़ती नयनतारा ने उत्तर दिया--"कैसा उपहार?"

"मिठाई खिलाने को कहो तो दिखलाऊँ।"

नयनतारा बोली--"बहुत घिसी-पिटी बात है। उस उपहार का मूल्य ही क्या, जो मिठाई के दोने पर तुल जाय। फिर उपहार के बिना क्या मिठाई खाने को नही मिलती?"

"सब उपहार एक-से नहीं होते। कोई-कोई तो ऐसा मूल्यवान होता है कि जीवन उसके संकेतों पर नाचता रहता है। लेकिन ऐसे संयोग पर मै मिठाई से भी जाऊँ, ऐसा मै नहीं पढ़ी।"

नयनतारा समझ गई। बोली--"तो ऐसे उपहार को तुम्हीं रख लो अपने पास। समय पर काम देगा।"

"वाह, उपहार तुम्हारा और ले उसे मै लूँ, यह मुझसे न होगा।··· ज़रा देखो, देखो। पहचानती हो? कौन हैं ये तुम्हारे? सच-सच बता दो नयना।"

नयनतारा उसे देख चुकी थी। बोली--"इसमें बताना क्या है?"

"ओः, समझी। जान पड़ता है, मिल चुकी हो, बातचीत कर चुकी हो।"

नयनतारा राजेश्वरी की आँखों में आँखें डालकर मुसकराने लगी। तब राजेश्वरी बोली--"आज जवाब नहीं दे रही हो। कुछ दिनों के बाद भविष्य में उनकी उपस्थिति में हमसे बात करने को समय न निकाल सकोगी। इसी फ़ोटोग्राफ़ को टेबिल पर सजाकर रखोगी। ज़रा देखो न, सचमुच नाक कितनी सुन्दर है! होंठों में कितनी प्यास भरी है! चितवन से ऐसा जान पड़ता है कि कह रही हो--कोई मिले, आपत्ति नहीं।"

नयनतारा कृत्रिम गम्भीर बनकर बोली--"देखो, चुपचाप इसे मामी को वापस दे तो आओ। न जाने अपने मन में क्या कहती हों? कहीं यह न समझ बैठें कि मैंने ही तुमसे कहकर यह फ़ोटोग्राफ़ मँगवाया है?"

"कहें, तो कहने दो। जो बात निश्चित है, उसको कोई लाख बार कहे; उसमें किसी प्रकार की आपत्ति करने का स्थान कहाँ रह जाता है?"

"जाओ-जाओ। काफ़ी चुहलबाजी हो चुकी।"

"जाती हूँ; लेकिन इस फ़ोटो को एकबार छाती से लगा लो, मेरे सामने।"

आँखे तरेरते हुए नयनतारा बोली—"देखो राज, ठठोली मुझसे मत करो। जाओ, दे आओ।"

विजय चिक के उस पार खड़ा क्षौर-क्रिया के बाद, तौलिया से अपना मुँह पोछ रहा था कि इतने में रूपराशि की राजेश्वरी उधर से निकल पड़ी। वार्तालाप वह सुन ही चुका था। अनुकूल अवसर जानकर बोल उठा—"ज़रा इधर लाना राज, मुझे भी दिखाना। साले की शक्ल तो देख लूँ।"

राजेश्वरी चौक पड़ी। एक तो ऐसे प्रसङ्ग की बात, फिर अयाचित, अप्रत्याशित, अपरिचित का एक सुपरिचित जैसा सम्बोधन! एकाएक भृकुटियाँ बंकिम हो गईं और मुँह से निकल गया—"मुह तो धो लीजिये पहले!"

उत्तर सुनकर विजय अवसन्न हो उठा। ध्यान में आते देर न लगी कि वाक्य के अन्त में—'तालाब में' शब्द छोड़ दिये गये है।

मर्मस्थल पर एक सूचि-वेधन-सा हो उठा। एक निःश्वास के साथ उसके मन में आया—'हूँ! इसने जानबूझ कर मेरा अपमान किया है।'

वह भूल गया कि यह उसकी मामी का घर है। वह यह भी भूल गया कि राजेश्वरी नयनतारा की सखी है, उसके सम्मान का ध्यान तो उसे रखना ही चाहिये। वह यह भी भूल गया कि उसने यहाँ तक सोच लिया था—'भला न कहेगी तो बुरा तो कहेगी।' उसे केवल इस बात का ध्यान रह गया कि इसे अपनी रूप-राशि का बड़ा अभिमान है।

राजेश्वरी उत्तर के साथ आगे बढ़ गई थी, फिर भी क्षुब्ध होते-होते विजय ने आवेश में आकर कह दिया—"मैं तुमसे ऐसी अशिष्टता की आशा नहीं करता था, राजेश्वरी।"

उत्तर सुनकर पहले राजेश्वरी ठिठुक गई। "लो इस बार तो 'तुम' पर भी आ गये।" फिर क्षिप्रगति से लाल होकर बोल उठी—"आपको मुझसे किसी प्रकार की आशा करने का प्रयोजन?"

विजय को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उसे साँप ने डस लिया हो। आँगन से चलकर कमरे के भीतर जाना दुष्कर हो उठा।

राजेश्वरी कथन के पश्चात् बिना रुके भीतर चली गई थी।

विजय उदास-उदास, मरा-मरा-सा, ननशिर होकर भीतर जाते हुए सोचने लगा--'इसमें अमृत नहीं विष है; संस्कृति नही उद्दण्डता है; शोभा नहीं, फूहड़पन है। यह इस योग्य भी नहीं कि कभी इससे बोला भी जाय। एक पन्ना है, जो बात करती है, तो ऐसा जान पड़ता है, मानो फूलों के दल बिखर रहे हों!'

दिनभर विजय पर एक प्रतिक्रिया छाई रही।--कहीं खड़े होने की जगह नहीं है। सारा-का-सारा पथ कंटकों से घिरा हुआ है। माना कि राज-पथ नहीं, पगडंडी है, फिर भी इतनी ऊँची-नीची भूमि कि पैर ऊँचा-खाली पड़ ही जाय।

नयनतारा भोजन के समय सदा साथ देती थी। कभी वकील साहब भी साथ बैठ जाते थे। किसी तरह दिन पार हुआ। खोया-खोया-सा विजय जब किसी अवसर पर न बोला, तो नयनतारा ने पूछा--"भैया बात क्या है, जो तुम आज कुछ बोल नहीं रहे हो?"

इस समय विजय को अपना सिर बड़ा भारी लग रहा था। जान पड़ता कि जैसे उसकी आँखें ज्योति-विहीन हो गई हों। अवसादसिक्त वाणी में अपने मन को समझाता-सा बोला--"कोई बात नही, सोना परखने में कभी जो मुलम्मा सामने आ जाता है, तो मान्यताओं के साथ-साथ चित्त की वृत्तियों और रुचियों में भी विपर्यय हो ही उठता है।"

कहने को तो विजय कह गया, किन्तु इससे उसकी पुरुष-प्रकृति को संतोष न हुआ। उसकी अवमानना प्रतिकार चाहती थी। उसका पुरुष-स्वभाव समर्पण का भूखा था। उसे अपने चारों ओर प्रश्न-ही-प्रश्न दिखाई पड़ने लगे। एक ही प्रकार के, एक-सी ही शब्दावली में, जिनका एक मात्र भाव होता--प्रतिकार, प्रतिकार।

नयनतारा विजय के उस घायल क्रोध की मूक अभिव्यक्ति से सहमती-सी बोली--"आज फिर कहीं कोई ऐसी बात हो गई क्या भैया?"

निःश्वास दबाते हुए विजय बोला--"नित्य ही होती रहती है; आज

कोई विशेष बात नहीं है।"

उपाध्याय जी को इधर कुछ दिनों से उपस्थित प्रसङ्ग के विपक्ष में बोलने का अभ्यास पड़ गया था। खाते-खाते यकायक मुँह उठाकर बोले—"मुलम्मा भी अपना एक महत्व रखता है, माई लॉर्ड। यह मुलम्मा ही है जो सोना धारण करनेवालों को उत्साह, संतोष और गर्व प्रदान करता है। स्वर्ण जहाँ पारस्परिक स्पर्धा, वैमनस्य, विश्वासघात और द्वेष का मूलाधार है, मुलम्मा वहाँ पर शान्ति-सहयोग, सख्य और एकता का। सोना अगर मुलम्मा पर हँस सकता है, तो मुलम्मा भी इस जनवादी युग में सोने पर हँसने का अवसर पा सकता है। सच पूछिये तो, माई लॉर्ड, मुलम्मे ने साधारण जनता को संतुष्ट कर उसके विद्रोह को दबाने में बड़ी सफलता प्राप्त की है।"

"पर मामाजी, यहाँ आप यह भूल रहे हैं कि साधारण जनता के विद्रोह को दबाते रहने की यह प्रवृत्ति ही मध्यमवर्ग का वह कोढ़ है, जो किसी इन्जेक्शन से शान्त नहीं हो रहा है। और तमाशा यह है कि निरन्तर संयम, त्याग और सेवा का कोरा उपदेश देने वाले हमारे नेतृत्व पंथी अधिनायक भी कार्य-कुशलता पर उतना विश्वास नहीं करते, जितना अपनी उस सफाई पर, जो केवल यह व्यक्त करती है कि अपनी असफलताओं से हम अपरिचित नहीं हैं। अन्यथा जो अपराधी नहीं है, अथवा जिसको भविष्य में अपराधी प्रमाणित होने की आशंका नहीं है, उसको निरन्तर डंका पीटते रहने की क्या आवश्यकता है कि देखो हमने कितना बड़ा काम कर डाला है।"

"संसार में दोनों का अस्तित्व है, माई लॉर्ड।....और यह जो विभेद की लकीर है वह कसौटी की देन ही नहीं, उसका दोष भी है। रुचियों और मान्यताओं की सहृदयता विहीन कठोर दृष्टि का ही दुष्परिणाम है, जो मुलम्मा घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। नहीं तो, जिसको तुम टाँका कहते हो, माई लॉर्ड, वह भी मुलम्मों का ही गुण और कर्म है। टाँका यदि न हो तो सोने का सारा व्यापार ही चौपट हो जाय। नयनतारा से पूछो, उसकी मामी के लिए बिना टाँके के मैंने जो भी आभूषण बनवाये उन्होंने समय-समय पर कितना मज़ा पैदा किया?" फिर यकायक सावित्री

की ओर देखते-देखते बोले—"क्यों माई लॉर्ड ?"

इतने में कौर निगलती हुई सावित्री हँस पड़ी। बोली—"मेरे कान की एक झुमकी तीन बार टूटी और गले की एक जंज़ीर यकायक उस समय टूटकर रास्ते में गिर पड़ी थी, जब मैं एक सखी के यहाँ निमन्त्रण में जा रही थी।"

मामी की बात सुनकर उबलते हुए मन से विजय ने केवल इतना कह दिया—"हो सकता है।"

विजय पुनः अपने में डूब गया; उसने कहा था—'आपको मुझसे किसी प्रकार की आशा रखने का प्रयोजन ?—ठीक है। मेरी कोई आशा नहीं है; मैं आशाहीन व्यक्ति हूँ। मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, मैं प्रयोजन-हीन व्यक्ति हूँ। मेरी कोई आवश्यकता नही है; मैं आवश्यकताहीन व्यक्ति हूँ।···तब तो अब आगे मुझे भोजन करने की भी आवश्यकता नहीं है।'

एकाएक गिलास विजय के हाथ मे आ गया। खाना बन्द कर दिया उसने। आश्चर्य के साथ नयनतारा बोली—"भैया, तुमने तो खाना बन्द कर दिया ?"

आचमन के लिए तुरन्त उठकर विजय ने उपाध्याय जी के मुँह पर कह दिया—"क्योंकि मुलम्मे का सोने से कहीं अधिक मूल्य है। क्योंकि बहस में ज़ोर कम और माई लॉर्ड में अधिक है।"

उसका इतना कहना था कि उपाध्याय जी, सावित्री और नयनतारा सबके सब एकदम से हँस पड़े।

विजय जब आचमन कर रहा था, हँसी का स्वर तब भी उसके कानों में गूंज रहा था।

अप्रतिभ उपाध्याय जी झेंप मिटाने के लिए कौटुम्बिक पद-मर्यादा की घिसी-पिटी प्रभुसत्ता जन्य कृत्रिम गम्भीरता ज्ञापित करते हुए बोले—"बस, यही इसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है कि अपने विरुद्ध यह कोई बात सहन नहीं कर सकता। यह दुर्गुण है, माई लॉर्ड।"

नयनतारा को विजय की इस स्थिति पर तरस आ गया। उसने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"आप भी तो मामा सदा विपक्ष में ही बोलने

लगते हैं।" सावित्री का हँसना अपनी मुस्कान पर आ गया था। उसने कह दिया—"अगर कोई भगवान राम की महिमा गाने लगे, तो ये झट रावण की प्रशंसा के पुल बाँध देंगे। मगर विजय को बुरा तो न मानना चाहिये था। क्या वह इनके स्वभाव को जानता नही ?"

"जानने-न-जानने का विजय भैया पर कोई प्रभाव नही पड़ता।" नयनतारा ने भोजन समाप्त करते हुए उत्तर दिया—"वे तो केवल चित्त की वृत्ति को देखते हैं।"

सावित्री और उपाध्याय जी उठ खड़े हुए। नयनतारा आचमन के पश्चात् विजय के निकट जाती हुई सोचने लगी—'पता नहीं किस प्रसङ्ग से भैया ने यह बात कही कि सोना परखने में कभी जो मुलम्मा सामने आ जाता है····· ! पता नही, आज ऐसा कौन-सा मुलम्मा उनके सामने आ गया ! कोई ऐसा बाहरी व्यक्ति भी मेरे घर नहीं आया जिसके विषय में कहा जा सके कि वह सोना नहीं, मुलम्मा है।' फिर वह जो विजय के निकट जा पहुँची, तो यह देखकर स्तम्भित हो उठी कि वह अपना होल्डाल ठीक कर रहा है ! आश्चर्य्य के भाव से उसने कह दिया—

"अरे तुम तो होल्डाल सम्हालने लगे भैया !"

"हाँ, सोचता हूँ, अब मैं चला ही जाऊँ।"

"तुमने तो कहा था कि इस बार सात-आठ दिन ठहरूँगा। इसीलिए मैंने राजेश्वरी का कोई संगीतात्मक कार्य-क्रम नही रक्खा। मैं सोचती थी—आगामी रविवार को रखना ठीक होगा।"

"पर तुम यह नहीं सोच सकतीं कि मेरे साथ जिस व्यक्ति का कोई प्रयोजन नहीं, उसके किसी कार्य-क्रम के साथ मेरा क्या प्रयोजन हो सकता है।"

अब नयनतारा का संदेह दृढ़ हो गया कि ग्रन्थि कहीं है अवश्य। विश्वविद्यालय के अनुभव से वह जानती थी कि राजेश्वरी कभी किसी छात्र की ओर दृष्टि नहीं डालती। उसे इस बात का भी ज्ञान था कि अप्रासंगिक रूप से बीच में बोल उठने पर वह कितने ही छात्रों को निरुत्तर, अवाक् और हतप्रभ कर चुकी है। अतएव यह समझने में उसे देर न लगी कि इस प्रतिक्रिया के मूल में राजेश्वरी का कोई कटु व्यवहार अवश्य है।

यह एक ऐसा विषय था, जिसमें नयनतारा विवश थी। एक राजेश्वरी की बात न थी। यह तो उन सम्पूर्ण नवयुवतियों का वर्गगत प्रश्न था, जो वयस्क हो जाने के कारण अपने व्यक्तित्व को अति आरक्षित विषय बनाये हुए थीं। स्वयं अपने सम्बन्ध में भी उसकी यही नीति थी।

अब नयनतारा को धीरे-धीरे उन सभी प्रसंगों का स्मरण हो आया, जिनमें उसने कभी-कभी विजय के सम्बन्ध में उससे थोड़ी-बहुत चर्चा की थी।

एक बार उसने कहा था—'वे हैं तो ठिगने क़द के दुबले-पतले, एक साधारण स्तर के युवक मात्र, पर हैं अत्यन्त मेधावी। आँखें बहुत बड़ी नहीं, फिर भी उनकी दृष्टि-शक्ति बड़ी अन्तर्मुखी है। उनमें सामञ्जस्य नहीं, पर व्युत्पन्न मति बड़ी प्रखर है। मेरी इस बात को वह धैर्य पूर्वक सुनती रही, जब मेरी बातें पूरी हो लीं, तब उसने केवल इतना कह दिया था—होंगे।

'फिर कुछ दिनों के बाद उसने टंकित पाण्डुलिपि में एक पुस्तक देखी; 'ट्रायल्स एण्ड टारचर्स'। वह उसे पाकर पढ़ने में आत्म विभोर हो उठी। जब मैंने उसे खाना खिलाया, तब भी उसके वह एक पृष्ठ पर दृष्टि गड़ाये रही। उसके बाद मेरे पलँग पर लेटी हुई उसे पढ़ती रही। धीरे-धीरे रात के साढ़े आठ का समय हुआ। चलने लगी, तो पूछा—"मैं इसे लेती न जाऊँ? कल वापस कर दूँगी।" मैंने यह जानते हुए भी मना नहीं किया कि भैया सुनेंगे तो क्या कहेंगे। पता नहीं किस समय माँग बैठें। पर वह दूसरे दिन ही पुस्तक साथ ले आई। घंटे भर बैठी मनोविनोद करती रही। अन्त में जब चलने लगी, तो बोली, —"अगर इस पुस्तक को मैं अपने पास रख लेती, तो?" तो मैंने कह दिया था—"मैं जानती थी, राज अपने वचन का मूल्य जानती है।" इस पर वह कहने लगी—"अगर आज फिर लेती जाऊँ, तो?" मैंने कह दिया—"लेती जाओ न।" इस पर वह हँस पड़ी थी और कटाक्ष करती हुई कहने लगी—"फिर अगर इसको सदा के लिए अपने पास रख लूँ—लौटाने का नाम न लूँ, तो?" मुझे कहना पड़ा—'तब मुझे भैया से पूछना पड़ेगा।" बस इसी बात पर वह गम्भीर हो गई। उसने उत्तर दिया—"किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं।'

नयनतारा सोचने लगी--'जिस लड़की को किसी की इतनी कृतज्ञता भी स्वीकार नही, किसी के साथ सम्पर्क स्थापित करने की बात उससे कैसे की जा सकती है। उसे ध्यान हो आया, 'इतने पर भी मैंने कहा था--"पर जब वे मेरे भाई हैं, तब उनसे पूछने में क्या बुराई है ?" तब उसने मुँह बनाकर कह दिया था--"पर ऐसा प्रयोजन ही क्यों उठे ?" स्वयं मुझे उसकी यह अहम्प्रेरित अन्यमनस्कता अच्छी नही लगी। मेरे मन में आया भी कि यहीं चुका दूँ--'तब फिर उस व्यक्ति की पुस्तक को हाथ से छूने का ही क्या प्रयोजन था ?' पर शिष्टाचार के विचार से मैंने ऐसा नहीं कहा··· तो इस व्यवहार के मूल में अवश्य कोई रहस्य है।'

नयनतारा ने उत्तर दिया--"मेरा ऐसा अनुमान न था। पर अब वस्तुस्थिति मेरी समझ में आ गई।"

इतने में सावित्री आ पहुँची। विजय सूटकेस हाथ में लिये तैयार खड़ा था। झुककर उनको नमस्ते करने लगा। नयनतारा बोली--"मैं भैया से अभी यही कह रही थी कि ऐसी जल्दी क्या है ? दो-एक दिन तो और ठहरो।"

विजय के सिर पर हाथ रखती हुई सावित्री बोली--"सुखी रहो। और हाँ विजय बेटा, बुरा न मानना। उनकी बातें सदा ऐसी ही विरोध-मयी होती हैं। वे सदा उल्टा ही पक्ष लेते हैं। हमको तो सुनने की आदत पड़ गई है। वैसे आज फिर उन्होंने कहा कि अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। दो वर्ष मात्र लगेंगे कानून की पढ़ाई में। उसके बाद जीवन भर ही आनन्द-ही-आनन्द भोगना है।"

'जीवन भर आनन्द-ही-आनन्द भोगना है'--मामी के मुख से मामा की आश्वासन वाणी सुनकर विजय मर्माहत हो उठा। चमेट खाकर गिरता-गिरता बचता पीड़ा से तिलमिलाता हुआ विजय सिर ऊपर उठाकर बोला--"ऐसा भाग्यशाली मैं कहाँ हूँ मामी ! ऐसा ही कुछ बनना होता, तो क्या बाबू का स्नेह खोकर दर-दर मारा-मारा फिरता ? लेकिन फिर यही सोचकर संतोष कर लेना पड़ता है कि मुलम्मा होकर निरन्तर प्रवञ्चना को कमाई खाने की अपेक्षा यह आवारगी फिर भी अच्छी है। शरीर का सुख न सही, पर आत्मीय संतोष रहता ही है।"

सुनकर सावित्री अवाक्-अवसन्न हो उठी। तत्काल समझ गई कि विजय स्वामी की बात का ही ऐसा तीव्र उत्तर दे रहा है।

बड़ी अम्मा, मामी और मामा का संरक्षण उसका अवलम्ब था। उन्हीं के विश्वास पर उसके पिता कीर्तिदेव और माँ ने वहाँ पढ़ने के लिये छोड़ रखा था। अतः भाई का यह कथन सुनकर नयना यकायक घबरा उठी। बोली--"तुम कुछ भी कहो भैया, पर कल राखी का दिन है और आज तुम यहाँ से चले जाओगे तो मामी और मामा को तुम्हारी ज़िद पर भले ही समझौता कर लेना पड़े; बड़ी अम्मा, माना कि तुम्हारे मामले में कभी दखल नहीं देतीं, पर मैं किसी प्रकार अपने आपको न समझा सकूँगी।" कथन के साथ नयनतारा की आँखों से दो बूद छलक पड़े।

यह एक ऐसी बात थी जिसने विजय को विचार में डाल दिया।

सावित्री को भी बोलने का अवसर मिल गया--"मुझे तो ऐसा दिखाई दे रहा है विजय कि तुम ऊपर-ही-ऊपर तैरते रहते हो, गहराई की ओर तुम्हारा ध्यान नहीं जाता। वे तुमको कानून की पढ़ाई में स्वयं खर्चा देने तक को तैयार हैं और तुम्हारा यह हाल है कि तुम सोना और मुलम्मेवाली बातचीत में अपने मानसिक द्वन्द्व से ही मुक्ति नहीं पा रहे हो। छोड़ो इस निकम्मी बहस को। खाना खाकर आये हो, अब आराम करो। ऐसा ही है, तो कल नयनतारा की राखी का सगुन करके चले जाना।"

और भी एक बात थी। विजय ने चलने की तैयारी तो कर डाली थी, पर मार्ग-व्यय के लिए भी उसके पास रुपये न थे। इधर कुछ दिनों से नयनतारा ही उसका खर्च चला रही थी। जब कभी वह जाने लगता, तब वह एक हरा-नीला नोट उसके जेब में चुपचाप डाल देती थी। विजय ने एक बार जो लेने से इन्कार किया, तो उसने कह दिया--"लड़ाई-झगड़ा तुम्हारा बाबू से है। लेकिन मैं ठहरी तुम्हारी बहन, सो भी एकमात्र। अतः मैं अगर तुम्हें कोई वस्तु देना ही चाहूँगी, तो तुम इन्कार कैसे करोगे भला?"

उस समय वही बहिन एक ऐसे दिन की प्रतीक्षा में जाने से रोक रही थी, जो उसी के लिए बनाया गया है। सहस्रों वर्षों से चली आ रही पावन राखी-परम्परा के महत्व की उपेक्षा वह कर ही कैसे सकता था। अतः

चारों ओर से वह इतना घिर गया कि उसे पलँग पर लुढ़कते हुए मन मारकर कहना ही पड़ा—"अच्छी बात है। कल ही सही।"

तब सावित्री प्रसन्न मुख बोली—"हाँ, यह एक बात हुई भले और बुद्धिमान लड़कों की-सी। आज अगर तुम कहीं ज़िद में आकर चले जाते, तो सच कहती हूँ विजय सबसे अधिक दुःख उन्हीं को होता। रात में किसी तरह उन्हें नींद न आती। अरी नयना, भैया के लिए दूध का ध्यान रखना। जाती हूँ अब; शान्त मन से एक माला और फेर डालूँ।"

कथन के साथ सावित्री चल दी। तभी नयनतारा उसे सौ रुपये का नोट देती हुई बोली—"देर से मैं यही सोच रही थी भैया कि कब मैं ये रुपये तुम्हें देने का अवसर पाऊँ।"

इस बार विजय के होठों पर भी मुस्कराहट झलक उठी। बोला—"पर ये सारे के सारे रुपये तो कल तुम्हारी राखी पर चढ़ जायँगे नयना। मैं फिर मोची-का-मोची रह जाऊँगा।"

"ऐसा न कहो भैया; भगवान चाहेगा, तो बहुत कमाओगे। उस समय मैं स्वयं तुमसे माँग लूँगी। इतना मुझे विश्वास है कि तुम इन्कार न कर पाओगे।"

इतने में बड़ी देर का अवरुद्ध आँसू एकाएक विजय की दायीं आँख से ढुलक पड़ा। तभी उसने रूमाल से पोंछते-पोंछते आर्द्र कण्ठ से प्रश्न कर दिया—"ऐसा दिन आयेगा भी या नहीं, कौन कह सकता है?"

"मैं कह सकती हूँ भैया। मुझे पूरा विश्वास है कि वह दिन आकर रहेगा।"

नयनतारा का इतना कहना था कि कल्याणी ने आकर कह दिया—"कोई ठाकुर कर्त्तारसिंह हैं, विजय?"

"हैं तो अम्मा। मिलने का पता देते समय शिकार के लिए मैंने उनके साथ चलने का वचन दिया था।"

आश्चर्य्य में हास का पुट देकर कल्याणी बोली—"तो अब तुम शिकारी बनोगे! ठीक है। जीवन में कोई प्रयोग बाक़ी न रखना। खैर वे बाहरी बैठक में हैं। उनसे बात कर लो।"

विजय जब कर्त्तारसिंह से मिलने को बाहरी बैठक में जाने लगा तब

वह पुनः मन-ही-मन अपनी मूल समस्या पर आ गया––'मैंने किसी का अपमान कभी सहन नही किया। मै इस अपमान को भी किसी प्रकार सहन न करूँगा। मुझे प्रतिकार चाहिये––मै प्रतिकार का पक्षपाती हूँ।'

राजेश्वरी का निर्माण कुछ ऐसे ढंग से हुआ था कि वह जब कोई एक निश्चय कर लेती, तो उससे विरत होना उसके लिए दुष्कर हो जाता था। अपने आचार्य शिक्षकों तक का पक्षपात तो वह चाहती न थी, फिर छात्रों की परवाह वह क्यों करती। एक दिन कहीं प्रोफ़ेसर एस० लाल ने उससे कह दिया––"आपका निबन्ध मनुष्य की साधारण दुर्बलताओं पर अच्छा प्रकाश डालता है, इसमें सन्देह नही। पर जब तक कोई व्यक्ति किसी से कोई आशा रखता-रखता निराश नहीं हो जाता, तब तक उसके प्रति विरक्ति अथवा उपेक्षा तभी प्रकट करता है, जब अपनी मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा को उसकी सामर्थ्य की सीमा से कही उच्च, यहाँ तक कि सर्वथा अक्षुण्ण समझ बैठता है। यही वह स्थिति है, जब वह अहंवादी हो उठता है। और उस स्तर का अहंवाद तो प्रकारान्तर से हिंसा की उस श्रेणी में आ जाता है, जो मानवीय समवेदनाओं तक की उपेक्षा केवल इस आधार को लेकर करता है जो उस समय के वातावरण का ही नही, अगम वर्जनाओं और कुण्ठाओं को प्रतिक्रिया को तृप्ति देने का कारण हुआ करती है।"

राजेश्वरी प्रोफ़ेसर एस० लाल की इस टिप्पणी पर मर्माहत हो उठी थी। कपोलों पर लाली छा गई और अधर फड़क उठे थे। बायीं ओर की भृकुटि, प्रत्यञ्चा-सी तन गई थी और उसने उत्तर में कह दिया था––"अहंकार चाहे योग्यता का हो,चाहे रूप और प्रतिभा का, पद का हो या पृथुल वैभव का, कभी अव्यक्त होकर नहीं रह सकता। यदि एक ओर वह मानवीय समवेदनाओं की उपेक्षा के कारण हिंसा की संज्ञा पा सकता है, तो दूसरी ओर उसकी तेजोमयी उदात्त और ज्वलन्त प्रकृति का पृष्ठ-पोषक भी होता है। अहंकार के बिना न कोई प्रतिभा पनप सकती है।––न कोई प्रबुद्ध

अभिजात्य सुरक्षा का पावन संबल पा सकता है।"

तब उसे विजय के प्रति अपने व्यवहार के औचित्य पर एक गर्व का अनुभव हुआ। उसका मन जो थोड़ा-बहुत कुण्ठित हो गया था, उस पर आत्मतुष्टि की एक लहर दौड़ गई। वह अपने आप मुस्करा उठी। उसे बोध होने लगा—'मैंने आज एक ऐसे व्यक्ति को अभिभूत किया है, जो पुंगवता में अपने आपको अर्जुन से कम नहीं समझता।'

टेबिल पर लैम्प जल रहा था। उसके बुक-शेल्व में टाइप की हुई 'ट्रायल्स एण्ड टारचर्स' पुस्तक रखी जगमगा रही थी। पलँग पर लेटकर एक बार उसने अपने पैर एकदम सीधे कर लिये। करवट बदलकर उसने बायी ओर की पाटी पर हाथ रख लिया। ब्लाउज का चुटपुटिया बटन एकाएक जो चटक गया, तो वह अपने आप मुस्करा उठी। झट उसने उसे पुनः यथावत् जोड़ लिया। पद-नख लालिमा से रंजित हुए कई दिन के हो गये थे। उठकर उनपर पुनः पालिश कर ली। स्कन्धमूल में लोमावलि कुछ स्पष्ट हो उठी थी, उसे साबुन से तुरन्त स्वच्छ कर लिया। फिर उसे सुगन्धपूरित पाउडर से सुवासित कर एकदम से दर्पण के सम्मुख हो मन-ही-मन कहने लगी—'आज उसे पता चला होगा कि प्रथम साक्षात्कार के क्षण राजेश्वरी को 'राज' मात्र कह डालना सभ्यता नहीं धृष्टता है।—मैं तुमसे ऐसी आशा नहीं रखता था।—वह मुझसे कोई आशा रखने वाला होता कौन है! राजेश्वरी किसी साधारण स्तर के व्यक्ति की आशा बनेगी! छिः!'

: ८

ब्रजमोहन ने विजय के आगे एक सिगरेट उपस्थित करते हुए कहा—"यहाँ इस मुहल्ले में कैसे·····?"

विजय ने निःश्वास दबाते हुए उत्तर दिया—"अपना कोई जहाँ होता है वहाँ जाना ही पड़ता है। यहाँ मेरे एक आर्थिक जीवन के मित्र रहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर अगर कभी हाथ उठाकर कुछ दे देते हैं, तो न फिर उसे वापस चाहते हैं और न उसका किसी रूप में कोई प्रतिदान। आप उन्हें नहीं जानते।····सिगरेट दे दिया मगर जलाया नहीं।"

ब्रजमोहन के होंठों पर मुस्कराहट खेल गई। उसने लाइटर का बटन दबाते हुए उसकी लौ को सिगरेट के छोर पल लगा दिया। इसके बाद उसी से उसने अपनी सिगरेट भी सुलगा ली।

विजयदेव ने मुस्कराते हुए कह दिया—"एक ही लौ इसी तरह न जाने कितनी सिगरेटें जला सकती है। लाइटर में शक्ति भर होनी चाहिये।"

ब्रजमोहन ने कहा—"अब चलोगे या यहीं खड़े-खड़े भाषण देना शुरू कर दोगे?" फिर बायीं ओर संकेत कर पूछ दिया—"हरी-हरी घास की यह सुगन्ध, जान पड़ता है, बड़ी प्यारी लगती है तुमको?"

विजय धुआँ छोड़ता हुआ आगे बढ़ गया। ब्रजमोहन ने कहा—"मुझको तो आज दौरे पर जाना है, इसलिए मैं तो यहाँ इस चौराहे से अलग हो जाऊँगा। नौ की गाड़ी मुझे पकड़नी है। तुम ज़रा गोबिन्दबाबू के यहाँ हो लेना। तुम जब चले गये, तो पन्ना तुम्हें पूछने आई थी।"

सदा की भाँति विजय ने किसी आकर्षणवश साधारण बात से भी प्रभावित हो उसका कोई अर्थ लगाते हुए तुरन्त यह नहीं कह दिया—'अच्छा! पन्ना मुझे देखने आई थी?' वरन् एक उचटती हुई भावना से बोला—"आई होगी। मैं अब उन लोगों के साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखूँगा।"

ब्रजमोहन बिगड़ उठा। बोला—"देखो विजय, हमसे बहुत बना न करो। बाप से लड़ाई, पूत से सगाई। गोबिन्द से तुम्हारे लाख मतभेद हों, लेकिन पन्ना और शची दोनों तुम्हारा कितना आदर करती है, इसको मैं जानता हूँ, गोबिन्द जानता है और तुम भी जानते हो। जाओगे तुम ज़रूर, चाहे मेरे कहने से न जाओ। मुझे सब पता है।"

कथन के साथ ही अपने आवास की चाभी विजयदेव को देता हुआ ब्रजमोहन पुनः बोला—"लो यह चाभियाँ, जब तक मैं न लौटूँ, तुम वहीं विश्राम करना।" और दायें ओर एक सजा हुआ, बिल्कुल नया रिक्शा देखकर कह दिया—"ठहरो।"

रिक्शा ठहर गया और ब्रजमोहन उस पर बैठता हुआ बोला—"स्टेशन।"

विजय अब चौराहे पर चुपचाप खड़ा था। लगातार मोटर, ट्रक, इक्के, और रिक्शे आ-जा रहे थे। पुलिस कांस्टेबिल एक इक्के वाले को गाली देकर हलके से उसकी पीठ पर बेंत जमा रहा था। फुटपाथ पर टीन की पालिश्ड पुरानी तश्तरियों में रमजानी अपने ग्राहकों को फिरनी दे रहा था। बस-कन्डक्टर द्वार के पास खड़ा ह्विसिल दे रहा था, और रास्ते का अंधा भिखारी लकड़ी से सड़क की ज़मीन टोहता हुआ पूछ रहा था—"परेड को किधर से मालिक?"

विजय ने देखा, भिखारी का पैर एक भोगी और मरी हुई बिल्ली पर पड़ जायगा तो झट से आगे बढ़कर उसकी लाठी पकड़कर ऐसे स्थल पर कर दिया, जो सम्यक् निरापद था। साथ ही कह दिया—"बहुत बच गये भाई, नहीं तो मरी बिल्ली पर पैर जा पड़ता।"

भिखारी लाठी आगे बढ़ाता हुआ आश्चर्य्यमयी वाणी में बोला—"मरी बिल्ली पर?" फिर स्थिर होकर कहने लगा—"तो क्या होता? एक जानवर मर गया है, दूसरा भी अधमरा है। हम लोगों की ज़िन्दगी कोई ज़िन्दगी है?"

विजय उसे देखता रह गया। मन में आया—'हमें इस वर्ग की ओर भी देखना है।' अब वह अपने आपसे पूछने लगा—'गोबिन्द के यहाँ जाऊँगा, तो मेरा मन फिर दुखी हो जायगा। लेकिन ऐसा भी तो हो सकता

है कि मैं साफ़-साफ़ कह दूँ कि मैं आपसे नहीं पन्ना से मिलने आया हूँ—और हाँ, शची भाभी से भी ।'

इतने में नम्बर नौ की बस दिखाई पड़ गई। तब लपककर वह उसी में बैठ गया ।

विजय सदा कर्मशील क्षणों में अपनी आर्थिक गति-विधि के प्रति सजग रहता था । अतः बैठते ही उसने पैन्ट के बायें जेब में हाथ डालते हुए देखा कि एक चवन्नी के साथ खाली पेटवाला एक पैसा पडा है । मन में आया—'एडवर्टाइजिंग एजेन्सी से एक विज्ञापन की बनवाई के जो बीस रुपये मिलने वाले थे, आज अगर वही मिल जाते तो लॉण्ड्री से कपड़े ले लेता और जूते का घिसा हुआ तल्ला भी बनवा लेता । लेकिन उस बड़ी नाक वाले ने पहली तारीख पर टाल दिया । खैर, चार दिन बाद पहली तारीख भी आती है । इस बार भी अगर न दिया तो देखूँगा ।'

इतने में कन्डक्टर आ गया । टिकट की गड्डी सामने करता हुआ बोला—"कहाँ जाइयेगा ?"

विजय ने उसे चवन्नी देते हुए उत्तर दिया—"बटरा ।"

कन्डक्टर ने चिह्नित स्थानों को फाड़कर टिकट दे दिया, तो विजय उसे जेब में रखते हुए बोला—"बाक़ी के मेरे छै पैसे, मुझे अभी लौटाल दीजियेगा ।"

"अभी लीजिये, साहब । थोड़ा तअम्मुल कीजिये । छै पैसे अपने पास रखकर जायदाद न खड़ी कर लूंगा ।"

विजय ने उत्तर दिया—"ज्यादा पैसे इस वक़्त जेब में है नहीं, कामरेड । नहीं तो माफ़ कीजियेगा, आप न सही, आपके दूसरे साथियों को दो-चार बार पैसे रख लेने का मौका जान-बूझकर दे चुका हूँ । आदाबअर्ज़ ।"

कन्डक्टर ने पैसे वापस देते हुए उत्तर दिया—"हो सकता है, हो सकता है । जिस तरह कभी-कभी मुझे दो-चार आने अपने पास से दे देने पड़ते हैं ।"

इतने में बड़ा चौराहा आ गया । बस खड़ी हो गई । सलवार और चुन्नी की वेश-भूषा में कई नारियाँ एक साथ आ पहुँचीं । विजय की भूखी आँखें क्रम-क्रम से सबके मुखों को देखने लगीं । पहली एक तो

कलूटी, दूसरे स्थूलकाय थी। दूसरी देह-यष्टि में सम्यक् तन्वंगी, किन्तु कल हासिनी; अपनी जगह स्थापित होती हुई भी हास बिखेरती जान पड़ी। तीसरी श्वेत-केशिनी-गोरी। चौथी पूर्ण रूप से सुगृहणी। कदाचित् पहला बच्चा गोद में।

विजय सोचने लगा—'उहँ, दुनिया है। अपने को क्या ?···फिर मुझे कमी क्या है ? अन्तर इतना ही है कि किसी के हाथ की चाय पीने को मिल गई, किसी ने पकौड़ियाँ खिला दीं; किसी ने भोजन के लिए पूछ लिया और किसी ने यह कहकर टाल दिया कि भाई साहब घर में नहीं हैं।···प्रश्न यह है कि मेरे लिए दुनियाँ में क्या है ?'

जैसे रील चल रही हो। कई साथी आये और गये। एक सफ़ेद-पोश जो पहले डंडा थामे खड़े थे, जगह पाकर बैठे, तो सिनेमा की एक मासिक पत्रिका के पन्ने उलटने लगे।

कन्डक्टर ने पास आकर कहा—"कहाँ जाना है ?"

"अरे साहब मैं टिकट ले चुका हूँ।"

"दिखलाइये ?"

उन्होंने यह जेब देखा, वह जेब देखा। एक बार देख लेने पर फिर दुबारा देखने लगे। कन्डक्टर यह कहकर आगे बढ़ गया कि इतमीनान से खोज लीजिये।

विजय बोल उठा—"जान पड़ता है, कहीं गिरा दिया श्रीमान् ने।" और कथन के साथ एक दुअन्नी भर मुस्कराहट भी उसके होठों पर आ गई।

वे महाशय बोले—"मुझे भी ऐसा ही जान पड़ता है।" और कथन के साथ फिर मासिक पत्रिका के पन्ने उलटने लगे।

इतने में कन्डक्टर पुनः निकट आकर बोला—"कहिये साहब, टिकट मिला ?"

उन महाशय ने उत्तर दिया—"टिकट तो नहीं मिला।"

कन्डक्टर बोला—"फिर लाइये, चार आने पैसे दीजिये।"

आश्चर्य्य के साथ वे महाशय बोले—"चार आने ?"

"जी, स्टेशन से चार्ज होगा आपका।"

"स्टेशन से ?"

"जी, यही क़ायदा है। लाइये-लाइये, ज़ल्दी कीजिये।"

"मगर मेरे पास अब न पैसे है, न रुपये है; सौ रुपये का नोट है।"

कन्डक्टर ने सीटी दी। बस खड़ी हो गई, तो उसने कह दिया—"तशरीफ़ ले जाइये। आप जैसे लोगों के लिए घर की या किराये की कारें बनाई गई है। बस में बैठियेगा, तो शान चली जायगी।"

महाशय उठ खड़े हुए। बोले—"क्या कहा, फिर तो कहना ?"

कन्डक्टर बोल उठा—"बस, अब चुपचाप चले ही जाइये।"

सहयात्री आपस में कानाफूसी करने लगे—"सौ रुपये का नोट जेब में डालकर चलते हैं और इसी धौंस में टिकट भी नहीं लेते।"

एक कहने लगा—"अरे साहब, सौ रुपये का नोट हो भी जेब में ! कोरी रंगबाजी है।"

वे महाशय बस से उतरते हुए भी जेबें टटोलने में लगे थे। विजय ने इसी समय पूछ दिया—"आपका शुभ नाम बाबू साहब ?"

वे महाशय घूरकर उसे देखने लगे। तपाक से बोले—"आपसे मतलब ?"

"आ, यों ही याददाश्त के लिए कि शायद फिर कभी मुलाकात हो जाय।"

इस पर कई सहयात्री विजय के साथ ठट्ठा मारकर हा-हा-हा-हा हँस पड़े।

अब आ गया था बस-स्टाप। कई लोग उतरने लगे। उधर से आ गई पन्ना—हँसमुख, आँखें नवल उत्साह से भरी हुईं। माँग इतनी सीधी कि देर तक देखते रहो, केश इतने घने और चिकने कि दृष्टि फिसल जाय।

पन्ना को टिकिट देता हुआ कन्डक्टर विजय को लक्ष्य करके बोला—"लेडीज़ सीट खाली कर दीजिये महाशय।"

विजय सीट खाली करने के लिए जो उठकर खड़ा हुआ, तो पन्ना ने उसे पहचान लिया। बोली—"बैठे रहो—बैठे रहो विजय बाबू। दो की जगह है। मैं भी बैठ जाऊँगी।"

निकट स्थान ग्रहण करते-करते आश्चर्यमयी दीप्ति, फिर सहसा प्रश्न—"कहाँ जा रहे हैं ?"

मन-ही-मन मुस्कराता विजय सोच रहा था—'वाह क्या बात कही है !—दो की जगह है, मैं भी बैठ जाऊँगी ।'

विजय ने जरा घूमकर धीरे से उत्तर दिया—"आपके ही यहाँ । ब्रजमोहन से मालूम हो गया था कि कोई मुझे पूछ रहा था ।"

"कोई । खूब ।" 'खूब' शब्द के कथन के साथ ऊपर के अधर पर ज़ोर । फिर कहने लगी—"सुनती हूँ, आजकल लडाई-भिडाई का अभ्यास बहुत बढ़ गया है ?" कथन के साथ नीले-हरे-कत्थई वर्णो की छीट का रेशमी रूमाल मुँह पर आ गया । फिर साडी से शरीर-सम्पदा को कुछ और अधिक ढकने की चेष्टा मे अंचल की खीच-तान ।

विजय यकायक गम्भीर हो गया । बोला—"हो सकता है, आपका आरोप सर्वथा निराधार न हो ।····मगर आप यहाँ कैसे आ गई ?"

पन्ना पहले मुस्कराई, फिर संकुचित होती हुई बोली—"यहाँ एक मकान में श्रीमती पद्मा कौल रहती है । उन्हीं से मिलकर आ रही हूँ ।"

"श्रीमती पद्मा कौल ? मैंने कभी उनका नाम नही सुना ।"

पन्ना ने यह नही बतलाया कि श्रीमती पद्मा कौल लड़कियों के एक विद्यालय मे प्रिंसिपल है ।

विजय ने कहा—"पर आपको तो गाड़ी में आना चाहिये था ? आपके लिए इस तरह बस में आना·····?"

"बस में आना ही ठीक है । गाड़ी पर अपना वश क्या ? खाली मिली, न मिली । फिर हमको इसी समय मिलना था ।···

"मगर आप भैया से भिड़ क्यों गये, यह मेरी समझ में नहीं आया ।"

"सब समझ में आ जायगा । हाँ, थोड़ी देर लग सकती है । लोगों को इस बात की परवाह नहीं है कि दूसरे कैसे रहते हैं, कैसे जीते हैं । मैं अगर मर भी जाऊँ, तो मुझे पक्का विश्वास है, ऐसे लोग अपने सायंकालीन भोजन में एक भी टुकड़ा कम न खाएँगे । जब पारस्परिक मानवीय सहानुभूति इस सीमा तक गिर गई हो, तब जीवन का प्यासा मानव चुप कैसे रह सकता है ? जैसा व्यवहार उसके साथ किया जायगा, वैसी ही उसकी प्रतिक्रिया होगी ।"

विजय इतने धीरे-धीरे कह रहा था कि ज़रा भी उत्तेजना उसकी भाषा में लक्षित नहीं हो रही थी। तर्क के क्षण अवश्य उसका स्वर तीव्र हो उठता, पर विचार-विमर्श में ऐसा कुछ जान ही नही पड़ता था कि उसके भीतर कहीं अँगीठी भी धधक रही है।

"यहीं आप भैया के साथ अन्याय कर रहे हैं। आपको पता नही, वे आपका कितना आदर करते है। जब आप बिगड़कर चले गये, तब देर तक आप ही के विषय में चर्चा होती रही। आपने मेरी बात का भी कुछ ध्यान नहीं रखा। सेवइयाँ आपके भाग की बड़ी रात तक रखी रही। मुझे तो उनके खाने में कोई रस ही न मिला।"

पन्ना अपने कथन के अन्तिम वाक्य पर किञ्चित संकुचित भी हो पड़ी।

"तब तो मुझे यह समझ लेने का अवसर है कि मै बडा भाग्यशाली हूँ।···पर संसार ऐसा बन नही पाया कि जो इतना निकट हो, वह अपना बन सके। बहुत-सी बाते है, जो कहते नही बनती और यदि कभी वाणी पर आ ही जायँ, तो जीवन की मर्यादाएँ कुण्ठित हो-होकर मन और प्राणों को नोचना प्रारम्भ कर देती है!"

"आपतो मुझे लज्जित कर रहे है।"

"मै स्वयं लज्जित हूँ। पर मुझे विश्वास है, आप बुरा न मानेंगी। आपका ही ऐसा एक घर था, जहाँ मुझे थोड़ी शान्ति मिलती थी। कभी जो लुढ़क रहता, तो नीद आ जाती थी। अब वह भी छूट रहा है।"

"यह आप क्या कह रहे है?"

"बिल्कुल ठीक कह रहा हूँ। 'चले फिरे कुछ पाइये बैठे देता कौन?'··· लेकिन ये पद्मा कौल कौन है? उनसे क्या कार्य था आपका? अनुचित न हो तो, बतलाने में कोई हानि न होगी। बातों को पचा लेना मुझे आता है।"

"चलिये, अपना बस-स्टाप आ गया। रास्ते में बता दूंगी।"

बस खड़ी हो गई। दोनों आगे-पीछे होकर उतर पड़े।

पन्ना विजय को सुन्दर लगती थी। एक तो वह उतनी ही दुर्बल थी, जितनी दुर्बलता विजय को शोभन प्रतीत होती। यद्यपि उसकी हँसलियाँ

किञ्चित उभरी हुई थीं, किन्तु यौवन-सम्पदा में वह इतनी अग्रसर थी कि विजय अपना अस्तित्व ही नहीं, शिष्टाचार तक भूल जाने को अधीर हो उठता था। उसकी वाणी बड़ी संयत रहती थी, फिर भी वह सोचता रहता था—'अगर कभी असंयत भी हो जाऊँगा, तो यह मेरा अपमान नहीं करेगी।'—सदा उससे साक्षात्कार होते क्षण वह सोचता—'स्वप्न है। देखो, कितने दिन तक चलता है।'—किन्तु अब जीवन के सम्बन्ध में उसकी मान्यताएँ एकदम से बदल रही थीं। वह मानने लगा था कि अमर और अनिवर्चनीय जीवंत सौख्यानुभव के क्षण जीवन में होते ही कितने हैं। जो थोड़े-से हैं भी, उनकी भी यदि उपेक्षा करता रहूँ, तो फिर जीवन का अर्थ ही क्या है ?

किन्तु जब विजय बस से उतरकर राजमार्ग पर आ गया, तब तक वह मन-ही-मन सोच यही रहा था कि प्रत्येक विषय में सफलता का एक समय होता है। जब लोग असफल होते है, तब इसी कारण कि या तो बात समय से पहले कह डाली जाती है, या उचित समय के बाद—जब अवसर आगे बढ़ जाता है। कदाचित् इसी कारण उसने कह दिया था कि आपका ही घर एक ऐसा था, सो भी अब छूट रहा है।

पन्ना उपस्थित विषय में कुछ कहने की स्थिति में नहीं थी। पद्मा कौल ने तब तक कोई स्पष्ट आश्वासन न दिया था। इतना ही कहा था—मैं प्रयत्न करूँगी।—अनेक बार उसके मन में आया था—'विजय के साधारण खर्चे का कोई स्थायी प्रबन्ध होना चाहिये।' पर अब तक वह कुछ कर न सकी थी। इस बार जून मास के प्रथम सप्ताह में जब पत्रों में – कन्या माध्यामिक विद्यालय के लिए अँग्रेजी विषय की अध्यापिका की 'आवश्यकता' निकली, तो पन्ना ने आवेदन-पत्र भेज दिया था। बात अभी पक्की न हो पाई थी। इसलिए इस विषय में कोई निश्चित आश्वासन वह देना न चाहती थी। अतः जब पन्ना सड़क पर आकर विजय के साथ चल पड़ी तो वह असमंजस में थी। उसकी समझ में नहीं आ रहा था—क्या कहे, क्या न कहे।

इतने में विजय ने कह दिया—"बातें तो सब मेरा खयाल है, हो चुकीं। अब मैं लौट जाऊँ, तो आपको बुरा तो न लगेगा ?"

पन्ना स्तम्भित हो उठी। ठिठुककर बोली—"क्या कहा आपने ?"

विजय ने गर्व से मस्तक ऊँचाकर उत्तर दिया—"यही कि मुझे अब आज्ञा दीजिये। मैं कुछ कारणों से आपके यहाँ जा न सकूँगा।"

"पर आप जा तो रहे थे मेरे ही घर ?"

"जिसके लिए जा रहा था, उससे मिलना हो गया। जितना और जहाँ तक अपने आपको गिरा सकता था, गिरा लिया। अब और ऐसा क्या शेष रह गया है, जिसके मोह में विजड़ित होकर अपने को कृतार्थ समझने लगूँगा ?"

पन्ना एक बार विजय को एकटक देखती रह गई। एक क्षण···दो क्षण ! अन्त में बोली—"अगर आप जाना ही चाहते हों, तो मैं रोकूँगी नहीं ! इस अवसर पर कहने योग्य मेरे पास अगर कुछ होता भी, तो मुझसे रहा न जाता। केवल एक बात कहना चाहती हूँ कि जहाँ कहीं भी रहें, मुझे अपना कुशल-समाचार देते रहें।"

विजय ने तब अत्यन्त संक्षिप्त भाषा में कह दिया—"यद्यपि मैने किसी को आज तक कभी कोई वचन नहीं दिया। अगर कभी भूल से या प्रमाद से उल्टा-सीधा कह भी दिया है, तो उस पर बाद में कभी पश्चाताप भी नही किया। फिर भी मै तुमको पत्र लिखता रहूँगा।"

तब पन्ना ने अत्यन्त विनीत और संकुचित होकर एक चिट में अपना पता इस भाँति लिखकर दे दिया—

द्वारा श्रीमती पद्मा कौल,
एम० ए०; एल० टी०,
१७८ ए, लूकर गंज,
इलाहाबाद।

विजय प्रसन्न था कि वह गोबिन्द बाबू के घर नहीं गया। उसे इस बात पर भी कम प्रसन्नता नहीं थी, कि पन्ना ने कहा था कि आप जब नहीं आये, तो सिवइयाँ बड़ी रात तक रखी रहीं।—अकेली इस बात का मेरे लिए विशेष महत्व नहीं है। पर इससे संलग्न जो दूसरा वाक्य था—मुझे

उनके खाने में कोई रस नहीं मिला। उसको सुनकर अवश्य ऐसा प्रतीत हुआ कि संसार को मेरी आवश्यकता है। मैं भी किसी की रसोत्पत्ति का माध्यम हूँ। अच्छा, क्या इससे यह विदित नहीं होता कि वह मुझे चाहती है? फिर अगर मेरे साथ उसकी कोई ऐसी भावना नही है, तो उसने यह क्यों कह दिया कि जहाँ कहीं भी रहें अपना कुशल-समाचार देते रहें? अवश्य ही उसके मन में मेरे लिए स्थान है।—'भ्रमर तुम मधु के चाखन हार'।

पैर आगे बढ़ रहे थे।—'मगर प्रश्न यह है कि वह मेरा साथ क्यों नहीं देती? क्या मैं उसके एक चुम्बन के लिए भी मँहगा था? क्या वह मेरे साथ अकेली बैठकर कहीं खाना नहीं खा सकती थी?····मेरा खाना; ···· किसी पार्क में ही बैठकर थोड़ी देर गप्प ही उड़ाई जाती? किसी बेंच पर अकेले में उसके शरीर को गुदगुदा नहीं सकता था?····मगर नहीं अभी मैं उसके साथ इतना आगे बढ़ कहाँ पाया हूँ? अभी मुझे उससे ऐसी आशा ही नहीं करनी चाहिये?'

फिर मुट्ठियाँ बँध गई और दाँत किटकिटाते हुए कहने लगा—'मैं इस 'अभी नहीं' से ऊब गया हूँ। अभी नहीं तो कभी नहीं। हुँः 'अपना कुशल-समाचार देते रहियेगा।' मै इसको कभी एक पोस्ट-कार्ड तक तो लिखूंगा नहीं। चिड़िया हूँ कि पिंजड़े में बन्द रखो, और जब खुशी हो, पढ़ाना शुरू कर दो—पढ़ो पटुआँ—सीताराम।

'मगर एक बात ज़रूर है कि उसने अपना कोई कार्य-क्रम अवश्य बना लिया है। ऐसा न होता तो वह मुझको अपना यह निजी पता न दे जाती। यह पद्मा कौल अवश्य ही किसी शिक्षण-संस्था से सम्बन्धित हैं। अगर उनके पास चला जाय और उनसे पूछा जाय कि पन्ना के सम्बन्ध में आपका क्या ख्याल है तो कैसा हो? अच्छा, मान लो मै न जाऊँ, ब्रजमोहन से कहूँ तब तो कुछ पता चल सकता है।

'मगर आखिर इस ज़ल्दबाज़ी का मतलब क्या है। यह उतावली किसलिए? भँवरा स्वतः कमल में बन्द ही क्यों होना चाहता है? जो कुछ होना होगा हो जायेगा। क्या मुझे अब प्रकृति की स्वाभाविकता पर विश्वास नहीं रह गया?'

सोचते-सोचते विजय आगे बढ़ा ही था कि बस-स्टैन्ड आ गया—'अच्छे रहे, जेब भी खाली हो गई। अब क्या किया जाय ? उस एडवर-टाइज़िग एजेन्सी के कार्यालय मे फिर जाऊँ और उस बड़ी नाक वाले से कहूँ कि मुझे अगर टरकाना था, तो आज का वादा ही क्यों किया था ?··· मगर यही बात क्या मै उस समय नहीं कह सकता था ? गोबिन्द को तो मैने बीस बातें सुना दीं। क्या उसको दो-चार भी खरी-खोटी नहीं सुना सकता था ?

'तो यह सारी जड़ता इसलिए है कि मैं संकोच में पड़ जाता हूँ।'

इतने मे मिल गये ठाकुर कर्त्तारसिंह। रेशमी साफ़ा सिर पर, और रेशमी कोट, जिस पर पान के छीटों के चिन्ह। धोती धुली हुई। शू चमकता हुआ। हाथ में बन्दूक। मुँह में पान भरा हुआ।

सामने आते ही बोले—"कहाँ विजय बाबू ?"

विजय ने उत्तर दिया—"वहाँ, ज़रा गोबिन्द बाबू के यहाँ से आ रहा हूँ।"

"ओह, डिप्टी साहब के यहाँ से। आपका तो उनसे परिचय होगा ?"

"परिचय क्या, मेरे तो वे बड़े घनिष्ठतम मित्र रहे है।"

"रहे है ? और है नहीं ?"

"हाँ, आपस में कुछ ऐसी बातें हो गई कि मैने स्वयं ही उनसे अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।"

"यह आपने बुरा किया। लोग ऐसे लोगों से अपना सम्बन्ध बनाने में हज़ारों रुपये खर्च कर देते हैं और आपका यह हाल है कि बना-बनाया तोड़ डालते हैं। मगर आप तो पढ़ रहे थे शायद ? बी० ए० कर भी लिया था। ओह, अच्छी याद आई। आजकल किसी इण्टर कालेज में अध्यापक हैं न ?"

विजय ने मुसकराते हुए उत्तर दिया—"था, हूँ नहीं।"

"तब फिर आजकल···

विजय ने गम्भीर होकर उत्तर दिया—"आजकल एक बहुत महत्वपूर्ण काम हाथ में आ गया है। सरकारी कार्यालयों में जो हरामखोरी चलरही है, उसकी जन्मपत्री तैयार करता रहता हूँ !"

"ओ: एन्टीकरप्शन-डिपार्टमेंट !"

"जी !"

"वाह, आपने तो तबियत खुश कर दी। अरे साहब, क्यों न हो।··· तब तो अच्छा-खासा वेतन मिलता होगा ?"

"जी, ढाई सौ से स्टार्ट किया था। सब मिलाकर लगभग साढ़े तीन-सौ पड़ जाते हैं।"

"वाह, क्या बात है !"

"माफ़ कीजियेगा ठाकुर साहब, मुझे इस वाह-वाही से बड़ी नफ़रत है।"

ठाकुर साहब हँस पड़े। बोले—"क्यों न हो, नया खून है। और कहो ? अपनी छोटी अम्माँ के यहाँ कभी जाते हो ?"

"जाता हूँ !"

इतने में बस आ गई। ठाकुर साहब बोले—"हमारे घर आना-जाना तो तुमने छोड़ ही दिया। चलिये, आज मेरे साथ चलिये कचहरी में, मेरा ज़रा-सा काम है। बस फिर मैं चला चलूँगा। आओ-आओ, चलो बैठो।"

इस प्रकार विजय ठाकुर कर्त्तारसिंह के घर जा पहुँचा।

ठाकुर साहब जिस बँगले में रहते थे, वह न उनका बनवाया था, न ख़रीदा हुआ था, न वे उसे किराये पर लिये हुए थे। वास्तव में वह उस समय एक विधवा के हाथ में था और ठाकुर रहते उसमें इसलिए थे कि जायदाद के सारे मामले लड़ देने का महत्वपूर्ण कार्य उन्होंने अपने हाथ में ले रक्खा था। पाँच-सात उसमें कमरे थे; पाकशाला, भोजनशाला, स्नाना-गार तथा शौचगृह के अतिरिक्त। उनकी अपनी बैठक में दो सोफा सेट थे, जिनके बीच एक गोल टेबिल थी। उस पर ताज़े फूलों का गुच्छा शीशे के बने पुष्प-पात्र में रक्खा रहता। प्रत्येक द्वार पर हलके हरे रेशम के महराबदार परदे पड़े थे। अन्दर कूलर लगा था। चारों ओर धूपबत्तियाँ

सुगन्ध-वायु बिखेरती रहतीं।

ठाकुर साहब के साथ विजय को थोड़ी देर कचहरी में लग गई थी। बन्दूक का लाइसेंस बदलने का कार्य था, जो बीस मिनट में निपट गया था। इस अवधि में विजय निरन्तर यही सोचता रहा—'मेरे पास पैसे समाप्त हो गये थे। फिर भी मैं ठाकुर साहब के साथ-साथ घूमते हुए उनके बँगले में आ गया।' द्वार-मंडप में गाड़ी खड़ी थी। उसने उनके साथ बैठकर नाश्ता किया। चाय ग्रहण की और अन्त में दिव्य भोजन किया।

'अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इन दशाओं में उनकी आशा के प्रतिकूल, अपने आपको इस सीमा तक गिरा हुआ, बतलाने में क्या रस था? क्या उसका अर्थ यह न होता कि इसकी स्थिति दयनीय है? जब कि दयनीय बना लेना आत्मघात की ओर अग्रसर होना है।'

इस सारे कार्यक्रम में वह सोचता रहा—'अब यहाँ एक फिर प्रश्न उठता है कि आर्थिक स्थिति में इतना गया-बीता होने पर भी मुझे जो शान्ति, सौख्यमय जीवन-क्रम का थोड़ा-सा अंश मिला उसमें मुख्य महत्व अर्थ का है, अथवा अपनी मान-प्रतिष्ठा के प्रदर्शन का। माना कि वह नितान्त मिथ्या है। किन्तु क्या इसका यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य पहले अपनी प्रतिष्ठा स्वयमेव स्थापित करता है, तब कहीं उसे समाज से मिलती है? यदि मैं सनक में आकर अपना नग्न रूप ही ठाकुर साहब के समक्ष रख देता, तो क्या यह समादर मुझे प्राप्त हो सकता था?

'इसके अतिरिक्त ठाकुर साहब स्वयं भी तो यही सोचते होंगे कि जब ऐसी नौकरी छोड़ दी है, तो अवश्य किसी उच्च पद पर होगा।'

फिर उसके मन में प्रश्न उठा—'मैं यहाँ इन ठाकुर साहब के साथ चला ही क्यों आया? ब्रजमोहन के घर की ताली मेरे पास है। मुझे सीधे वहीं चला जाना चाहिये था।

'पर मैं वहाँ जाता कैसे? जिस रुपये के फेर में निकला था, उसकी प्राप्ति तो कहीं हुई नहीं।

'तुमने उसकी प्राप्ति का प्रयत्न ही क्या किया? एडवरटाइजिंग ऐजेंसी से पूरा न सही, आधा-तिहाई रुपया ही, उसके आधार पर लिया नहीं जा सकता? माना कि ज्ञानस्वरूप बाबू घर नहीं मिले थे, पर उनकी

श्रीमती तो थीं ? उन्होंने कभी ना नहीं की । आज भी वे पूछ रही थीं—मेरे लायक कोई सेवा ?—तुमने क्यों स्पष्ट नही कह दिया—"मुझे आज थोड़ा-बहुत रुपया चाहिये ।" तुम्हारे मन में सदा यह विचार क्यों घुसा रहता है कि मै किसी के आगे हाथ नही पसारूँगा । ज्ञानस्वरूप के अनुरोध पर तुमने एमर्सन के विचारों का जो अनुवाद कर दिया है, उसके पारिश्रमिक का रुपया जब तुम्हें उनसे लेना ही है, तब रुपया माँगना तुम्हारे लिए सर्वथा विधिवत् और न्यायोचित था ।

'था कि नहीं ?

'था, भाई था ।' सोचकर विजय स्वयं अपने आप पर हँस पड़ा । तभी उसे एमर्सन का यह कथन याद हो आया—'जब आप परम्परा के भगवान से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेंगे, और लच्छेदार शब्दाडम्बर से प्रवचनों को नमस्कार कर लेंगे, तब भगवान स्वयं उपस्थित होकर आपके हृदय में जीवन डाल देगा ।

'तो सबसे पहले तुम्हें उन परम्पराओं को तोडना है, जिन्होंने तुम्हारे जीवन-क्रम को विनाश के पथ पर लाकर छोड़ दिया है ।'

अब रात हो गई थी । नौकर ठाकुर साहब का पलँग बाहर लान पर बिछा रहा था । तभी ठाकुर साहब बोले—"आपका पलँग भी यहीं डलवा दूँ ?"

विजय ने उत्तर दिया—"नहीं, अब मै जाऊँगा ।"

ठाकुर साहब बोले—"जाओगे ? अच्छा, तो फिर कल भेंट होगी न ? अरे लखनवाँ, बाबू को गाड़ी पर भेज तो आ ।"

"जी सरकार ।" उत्तर के साथ लखनलाल गाड़ी स्टार्ट करने लगा ।

विजय ने इसकी कल्पना भी न की थी । उसने तै करा लिया था कि इस समय वह ब्रजमोहन के घर पैदल ही चला जायगा । थोड़ी दूर तो है ही यहाँ से ।

तभी विजय ठाकुर साहब के पास जाकर बोल उठा—"चाचा, सोचता हूँ, अब मुझे भी एक बन्दूक रखनी चाहिये ।"

"ज़रूर रखनी चाहिये बेटा । यह भी कोई पूछने की बात है ।" विजय के आगे पान बढ़ाते हुए ठाकुर साहब बोले ।

"मगर चाचा निशानेबाज़ी सिखाने के लिए मुझे अपना शिष्य भी आपको बनाना पड़ेगा।"

"बड़े प्रेम से बेटा। जब चाहो तब।"

"अच्छा, अब चलता हूँ। कल हो सका तो शाम को ही आऊँगा।"

"अवश्य। मैं प्रतीक्षा करूँगा।"

विजय जब गाड़ी पर बैठा और गाड़ी फाटक से बाहर आकर सड़क पर चल पड़ी, तो उसका मन उत्साह से भरा हुआ था। तभी एक झकोरा आ गया--'मैं राइफल चलाना सीखूंगा? फिर एक रिवाल्वर लूंगा। फिर····

: ६ :

विजय रात-दिन यही सोचा करता कि अब मुझ करना क्या चाहिये ? माँ के पास जाता तो वह खाते-पीते, उठते-बैठते यही उपदेश देने लगती कि बेटा कहीं नौकरी कर लो। मित्रों के यहाँ बैठते, तो सहानुभूति प्रकट करने के बदले वे उसकी हँसी उड़ाते। मामा का यह कथन बार-बार स्मरण आ रहा था, कि अगर विजय न्याय-विधान की परीक्षा दे लेता तो वकालत में उसकी प्रतिभा चमक सकती थी और विजय का हाल यह था कि एक दिन उसने नयनतारा से कह दिया "मिथ्या कथन, कपटाचरण, श्वेत को श्याम और श्याम को निर्मल श्वेतोज्ज्वल प्रतिपादित और सिद्ध करने की कमाई को मैं वेश्यावृत्ति से कम गर्हित नहीं समझता।"

उपाध्याय जी ने सुना तो वे हँस पड़े। बोले—"विजय कहता तो सही है माई लॉर्ड ! नित्य मैं अनुभव करता हूँ कि पाप की कमाई खा रहा हूँ। आज ही मुझे एक ऐसा मामला लेना पड़ा माई लॉर्ड ! जिसमें एक कहार ने एक लड़की के साथ बलात्कार किया है। लड़की हालाँकि तेरह-चौदह वर्ष से अधिक न होगी, लेकिन मुझे अठारह की सिद्ध करने में कितनी देर लगेगी माई लॉर्ड ! मगर फिर गंगा-स्नान जो नित्य करता हूँ। चींटियों को शक्कर चुँगाता हूँ। पास-पड़ोस वालों को दवाई के लिए शुद्ध शहद मेरे यहाँ से मुफ़्त में मिला करता है। कोई भूखा-नंगा मेरे दरवाज़े से कभी विमुख नहीं लौटता। और फिर शेर का काम है मारकर खाना। मैं भी अगर बातें मारने की कमाई खाता हूँ, तो क्या बेजा करता हूँ माई लॉर्ड ?"

विजय इन सब बातों को सुनता, तो विचलित हो उठता—'यह वर्ग-का-वर्ग ही बेईमान हो गया है। सरकार जन-गणना तो करवाती है पर इन सरेआम झूठ की कमाई खाने वाले बेईमान लोगों की गणना का कोई विवरण पेश नहीं करती। यह नहीं बतलाती कि वर्ष भर में डाक्टरों ने

कितनी हत्याएँ कीं ? वकीलों के कितने हत्यारों को बेदाग़ बचा लिया ? जिनकी लाज लूटी गई उनकी मामलों में न्यायालयों ने कितने सच्चे अपराधियों को सबूत के अभाव में निरपराध घोषित किया ? और फिर समाज ने उन ललनाओं के साथ क्या किया ? ट्रक से कुचलकर बच्चों और आदमियों को बेमौत मृत्यु के घाट उतारने वाले कितने ड्राइवरों को मामूली सजाएँ देकर या केवल जुर्माना करके छोड़ दिया गया ? ऐसे बुद्धिजीवी लोगों की गणना भी सरकार को उपस्थित करनी चाहिये। सभ्यता की अभिवृद्धि में क्या इससे सहायता न मिलेगी ?'

इसी प्रकार की बातें वह अपने आप बकना प्रारम्भ कर देता। नित्य-क्रिया से निवृत्त होकर कुल्ला कर रहा है कि इतने में उसका प्रलाप शुरू हो जाता। अपने चारों ओर जब विपन्न और कराहती हुई मानवता पर थोड़े-से बुद्धिवादियों को ऐसे अत्याचार करते देखता तो वह अपनी चिन्ता, अपना भविष्य बिल्कुल भूल जाता। वह कुछ भी तय न कर पाता कि ऐसी स्थिति में वह क्या करे ?

उसका मित्र-वर्ग उसके मानस का यह संघर्ष समझ ही न पाता था। यही कारण था कि उसके प्रति उनकी सहानुभूति धीरे-धीरे असत्य और भ्रमात्मक परिकल्पनाओं में परिणत होती जाती थी।

उस दिन कई व्यक्तियों के सामने उसके एक ऐसे ही मित्र गोबिन्द बाबू का प्रवचन प्रारम्भ हो गया—"कहते हैं, मैं समझौता नहीं कर सकता।··· हेंऽहः, समझौता नहीं कर सकते। बेकारी और बेशर्मी की ज़िन्दगी बिता सकते हैं। कोई ख़र्च सामने आ पड़ने पर खीसें निपोर सकते हैं। भूखे पड़े रह सकते हैं। हफ़्तों छिपे रह सकते हैं। मकान के अन्दर दीवारों को भाषण सुना सकते हैं। नेताओं को, सरकार को, समाज को गाली दे सकते हैं, मगर कोई काम नहीं कर सकते, क्योंकि वह गुलामी है। मगर हराम का खा सकते हैं। रेस्तोराँ में बैठेंगे, तो रस-मलाई और मोहन-भोग से नीचे बात न करेंगे। सिगरेट पियेंगे, तो वह जिसमें पाँच पैसे लगते हैं। पान मघई ही चाहिये आपको। तम्बाकू खायेंगे तो बत्तीस रुपये सेर वाली। भाँग की गोली रोज़ चाहिये। मगर काम के नाम पर नानी मर जायगी।····मेरा नौकर घर में नहीं है; भाई पढ़ने गया है;

पत्नी बाहर जा नहीं सकती इस काम के लिए। शिक्षित और वयस्क बहिन से मैं कह नही सकता। अब गोली लाये तो कौन लाये ? आपको खुद बाज़ार जाकर लाने में शरम लगती है। घंटों इन्तजार में पड़े हैं कि अब इन्तज़ाम होता है, अब आती है। मै आपही से पूछता हूँ, ब्रजमोहन बाबू, संसार के लिए ऐसे आदमी की क्या उपयोगिता है ? मगर निभाये जा रहा हूँ भाई, देखो, कब तक निभती है ?"

बैठक में पड़ा विजय कभी अर्द्ध और कभी कृत्रिमनिद्रित अवस्था में पड़ा-पड़ा सब सुना करता। जब बात समाप्त हो जाती, तो चुपचाप उठकर चप्पल पहन लेता और बिना एक शब्द कहे चल देता। अगर गोबिन्द बाबू कहते—"अरे, अरे, तुम तो चल दिये ? बैठो-बैठो।" तो विजय ज्वलन्त भंगिमा में उत्तर देता—"मेरे जैसे आदमी की जब संसार के लिए कोई उपयोगिता नहीं है, तो मेरा आपके यहाँ आना और आपका समय नष्ट करना व्यर्थ है।"

कथन के बाद विजय कभी एक क्षण भी न ठहरता।

और भी एक बात थी। विजय जितनी देर वहाँ बैठता, और कोई भी बात उसकी इच्छा के विरुद्ध होती, तो चट से बोल उठता।

एक दिन गोबिन्द ने कहीं कह दिया—"एक काम है शर्मा। डर है, यह भैया साइंस में कहीं फेल न हो जाय। तुम ज़रा प्रोफ़ेसर बनर्जी के पास चले जाओ। मेरा नाम लेना और कहना कि ज़रा इसकी कापी देख लें और अधिक नहीं तो पाँच नम्बर तो बढ़ा ही दें। मुझे पता चला है—अभी उन्होंने परीक्षा-फल भेजा नहीं।"

विजय ने चट से उत्तर दिया—"यह काम मुझसे न होगा। मैं किसी अयोग्य व्यक्ति की सहायता नहीं कर सकता।"

गोबिन्द ने ब्रजमोहन को लक्ष्य करके कहा—"सुना आपने ?"

सदा की भाँति विजय उठकर खड़ा हो गया। बोला—"मेरी समझ में नहीं आता कि इस काम को आप खुद क्यों नहीं करते ? प्रोफ़ेसर बनर्जी के पास आप खुद क्यों नहीं जाते ? स्वयं नहीं जा सकते, तो चिट्ठी भी नहीं लिख सकते ?"

गोबिन्द मसनद छोड़ते हुए बोले—"देखा आपने, ब्रजमोहन बाबू,

यह आपका तेवर है । बतलाइये, इस तरह की बातें कहीं चिट्ठी में लिखी जाती हैं ?"

"अरे हटो, हमको सोलह दूनी आठ पढ़ाते हो । चिट्ठी में नहीं लिख सकते, तो फ़ोन से भी नहीं कह सकते ? आपका काम भी हो जाय और आपको जुबान भी न खोलनी पड़े । मेरी पद-मर्यादा को हानि न पहुँचे, मेरी मूँछ न नीची हो; मेरे ऊपर अहसान का भार न लद जाय । तुम्हीं ने तो दूध पिया है अपनी माँ का । मेरा बस चले तो इस तरह के जितने भी दुनियाँदार अधिकारी लोग हैं, उन सबको कान पकड़ के बाहर निकाल दूँ और हुक्के का पानी पिलाऊँ ऊपर से । यह गज़ेटेड आफ़िसर हैं । भारत का भविष्य अब ऐसे ही समर्थ कन्धों पर आ गया है ! बोल महात्मा गान्धी की जय ।"

विजय के इस उत्तर पर गोविन्द बाबू को ताव आ गया । बोले—"बस-बस, बहुत हो चुका शर्मा ! बर्दाश्त की भी एक हद होती है । अगर अब इसके आगे एक शब्द भी कहा, तो जबान खींच लूँगा ।"

विजय ने उसी ताव में उत्तर दिया—"जबान खींच लेना अपने बाप की, जिनकी सिफ़ारिश से पास हुए हो । घूस न देते, तो बेटा कही कचहरी में अर्ज़ीनबीसी करते होते । डिप्टी साहब को उस वक्त कोई पेशकार भी न बनाता ।"

विजयदेव अपनी बात कहकर अब बँगले के लॉन में आ गया था । गोबिन्द बाबू गरज उठे—"चपरासी, इसको कान पकड़कर बाहर निकाल दो । बदतमीज़ कहीं का ।"

ब्रजमोहन बाबू को बोलना पड़ा—"जाने दीजिये साहब, वह तो खुद ही चला जा रहा है ।"

चपरासी तब तक जो उधर बढ़ने लगा, तो ब्रजमोहन बाबू पुनः बोल उठे—"ठहरो चपरासी !"

चपरासी ठहर गया । गोबिन्द बाबू भीतर-ही-भीतर खौलते हुए बोले—"जी में तो आता है, आज ही इसको 'एक सौ नौ' में हवालात दिखला दूँ ।"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"छिः-छिः ! क्या सोच रहे हैं आप

भी ? कम-से-कम आपको इतना तो ख्याल करना चाहिये कि कुछ भी हो, है तो आपका मित्र ही ।"

"मित्र नहीं, मैं इसे शत्रु समझता हूँ आज से । आप ही लोगों ने इसको बढ़ावा दे-देकर इतना मग़रूर बना दिया है । अब जो मेरे यहाँ आया, तो बुरी तरह पेश आऊँगा ।"

ब्रजमोहन बाबू गम्भीर हो उठे । बोले—"बस गोबिन्द बाबू, अब यहाँ मैं आपसे सहमत नहीं हूँ । उस दिन आप उसको गालियाँ देते रहे और वह पड़े-पड़े सुनता रहा । एक-से-एक बढ़कर अपमानजनक बातें आप उसके लिए कहते रहे और वह उन्हें विष के घूँट की तरह पीता रहा । आप उसका उपहास करते रहे और उसके चेहरे पर शिकन तक न आई । और केवल सिद्धान्त के विचार से उसने जो आपका काम करने से इन्कार कर दिया, तो आपको बुरा लग गया । अन्त में तो आपने अपनी सभ्यता भी खो दी । क्या इसी भावना को आप मधुर भाषा में नहीं व्यक्त कर सकते थे ? आपको तो अपना काम निकालना था, लेकिन आप व्यावहारिकता से भी दूर चले गये ।"

गोबिन्द बाबू चलते-पुरजे आदमी थे । उन्होंने सोचा—'अभी एक मित्र से झगड़ा हो ही चुका है, अब दूसरे से भी बहस करने लगूँ, यह तो कोई बात न हुई ।' तब वे हँस पड़े । बोले—"क्या बताऊँ, ब्रजमोहन बाबू, मुझको गुस्सा कभी-कभी आ ही जाता है । फिर वह भी इतना कटु पहले कभी न हुआ था । कमबख्त ने मेरे बाप तक को न छोड़ा ।"

ब्रजमोहन बाबू सिर हिलाते हुए बोले—"हाँ, इस जगह उसने ग़लती की । मुझे भी बुरा लगा था । मगर खरी-खोटी सुनाने में आपने भी कोई कसर बाकी नहीं रखी ।"

ब्रजमोहन विचारशील व्यक्ति था । एक तो उसे यह बात सहन न हुई कि गोबिन्द बाबू जामे से बाहर हो गये, दूसरे वह अपने को भी अपराधी समझ रहा था । बार-बार उसे ध्यान आ रहा था—'ऐसे समय मुझको भी विजय का साथ देना चाहिये था'—उसके साथ ही यह बात भी उसके मन में आती थी कि विवाद जब कटु हो चला था, तभी मुझे बोल उठना चाहिये था । माना कि बाद में मुझे बोलना ही पड़ा, किन्तु कितना उत्तम

होता यदि विजय के सामने ही मैंने इसी शब्दावली में अपना मनोभाव व्यक्त कर दिया होता। जो आदमी सदा अवसर निकल जाने पर ही ठीक बात का निर्णय कर पाता है वह पंक्ति में आगे कभी नहीं जा सकता। मुझे अपना स्वभाव बदलना पड़ेगा। वे पुनः सोचने लगे—'विजय अपने मन में क्या सोचेगा ? यही तो परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य को सन्मार्ग से कुमार्ग पर लाकर खड़ा कर देती हैं। मुझे अपने ऊपर तो खीझ आ ही रही है साथ ही यह आशंका भी है कि विजय कहीं विद्रोही न हो उठे ?'—तब बोले—"जो कुछ हुआ सो हुआ। यह न समझियेगा कि मै अनुचित रूप से उसका पक्ष ले रहा हूँ। पर गोबिन्द बाबू, यह तो आप मानेंगे कि कुछ गुण उसमें ऐसे हैं, जो हम लोगों में से किसी में नहीं है ?"

गोविन्द बाबू यकायक चौक पड़े। आँखें चौड़ी और भौंहें टेड़ी करके बोले—"क्या कहा आपने ? हम लोगों मे से किसी में नहीं हैं ? उदाहरण !"

इतने में गोबिन्द की पत्नी ने आकर पूछा—"शर्मा क्या चले गये ?" साथ ही पन्ना ने नाक-भौं सिकोड़ते हुए कह दिया—"आप लोगों ने उन्हें बनाना शुरू कर दिया होगा ? मैं जानती हूँ।"

गोबिन्द बाबू बोले—"मैंने तो आज उससे कुछ नहीं कहा था, बनाना तो दूर की बात है। तुम्हारे ही भतीजे की सिफारिश के लिए एक जगह भेज रहा था, उसी पर बात बढ़ गई।"

पन्ना खेद प्रकट करती हुई बोली—"यह बुरा हुआ। मैंने तो उन्हें आज सेवइयाँ खिलाने का निमन्त्रण दिया था, और यह बात अपने मन में रखी थी कि खिलाने के बाद उनसे एडविन आरनाल्ड की 'Life Living Upon-Death' विषयक कविता का रहस्य समझूंगी। और मेरा ख्याल है कि आप लोग तो समझा नहीं सकते।"

और इतना कहकर वह अन्दर चली गई।

ब्रजमोहन को अवसर मिल गया। बोल उठा—"जवाब मिल गया आपको ? यह केवल एक गुण हुआ। वह भी बताया पन्ना ने। और तुम चाहे भूल गये हो, मैं नहीं भूला हूँ। जब छोटे भइया को टाइफाइड हुआ था तब इसी बगल वाले कमरे में आप लोग सोया करते थे और वह पलँग के बगल में कुर्सी पर बैठा हुआ कोरी आँखों भोर कर देता था। आपने

जब आराम कुर्सी पर बैठने का आग्रह किया, तब उसने जवाब दिया था—यह काम उन्हीं लोगों का है जो सदन और संसद में केवल हाथ उठाने को ही जगाये जाते हैं। कर्तव्य पर आरूढ़ व्यक्ति आराम को हराम समझते हैं।

"और सुनिये। आपने तो नहीं देखा, मैंने देखा था। यह कपूर ट्रेडर्स की दूकान के पास जो घसियारे बैठते हैं, उनमें से एक का पैर सड़ गया था। यह उसी का दम था कि साथ ले जाकर बड़े अस्पताल में दवा दिलवाई और दस दिन तक बराबर उसकी परिचर्या करता रहा। छोड़ा तब, जब वह बिल्कुल अच्छा हो गया। नगर में जब भयानक रूप से कॉलरा फला हुआ था, अस्पताल में स्टील वाली चरपाइयाँ समाप्त हो गई थीं। एक ही बिस्तरे पर दो-दो रोगी लिटाये जाने लगे थे, तब यही एक अकेला आदमी था जिसने पत्रों में गुमनाम चिट्ठियाँ छपवाकर प्रान्त भर में हल्ला मचवा दिया था और तीन दिन के अन्दर कई सौ चारपाइयाँ आ गई थीं।

....और माफ़ कीजियेगा, उसकी कलम में तो इतनी ताक़त है कि अगर आपके ख़िलाफ़ लिख मारे, तो आपको रात-रात भर नींद न आये।"

सुनकर सन्न रह गये गोबिन्द बाबू। कहते हैं, एक लोहा ही दूसरे लोहे को काट सकता है। गोबिन्द बाबू समझते थे कि मेरे हाथ में बहुत बड़ा अधिकार है। अब वे सोचने लगे कि उसको जो अधिकार प्राप्त है वह मुझको नहीं प्राप्त है। वह जो कर सकता है, वह मैं नहीं कर सकता। और यह तो बड़ी भूल हो गई, जो ऐसे आदमी को मैंने नाराज़ कर दिया। फिर जब मैं उसकी प्रकृति से परिचित हूँ, तब ऐसा अनुचित दबाव मुझे डालना ही नहीं चाहिये था।

वे बोल उठे—"तुमको तो मिलेगा ही? कहना मैंने बुलाया है। मगर ठहरो, तुम कह देना कि तुम्हें पन्ना ने बुलाया है।"

ब्रजमोहन बाबू हँस पड़े। बोले—"वाह! गोबिन्द बाबू, बस यही गुण आपको शासन की कुर्सी पर बिठाये हुए है।"

"अरे कोई है?" गोबिन्द बाबू बोल उठे।

चपरासी अन्दर आकर अदब से खड़ा हो गया।

"ज़रा अन्दर कह देना कि चाय तैयार हो गई हो तो·····

इस स्थिति का दयनीय और मर्मस्पर्शी रूप यह होता कि विजय कभी अपना पुस्तकों से भरा हुआ ट्रंक छोड़ जाता, कभी कपड़ों से भरा हुआ सूटकेस, कभी फ़ाउन्टेनपेन और कभी धूप का चश्मा। गोबिन्द की पत्नी शची तो उसकी इस प्रकृति पर प्रायः हँसा करती थी। पन्ना कभी-कभी उसे मनाने का भी यत्न करती; क्योंकि विजय अक्सर ऐसा भी करता कि दोपहर को यदि लड़ाई हो जाती, तो शाम को किसी-न-किसी बहाने एक झलक अवश्य दिखा जाता।

एक दिन की बात है, जब घंटे भर बाद कुछ सोचता हुआ गोबिन्द, विजय को खोजने के लिए घर से निकल पड़ा, तभी विजय घर पर आ गया। फिर विजय गोबिन्द को खोजता रहा और गोबिन्द विजय को। और विजय अन्त में पता लगाते-लगाते मिला भी तो एक नर्तकी के यहाँ, नशे में धुत्त, बिल्कुल अचेत अवस्था में।

कमरे में एक सीलिंग फ़ैन चल रहा था और टेबिल में लगा हुआ नीला बल्ब शीतल प्रकाश दे रहा था।

गोबिन्द उस नर्तकी के यहाँ पहली बार आया था। उसने बड़ी सभ्यता के साथ उसका स्वागत सत्कार किया। लेमोनेड पिलाया। पान और सिगरेट भेंट की।

पहले तो गोबिन्द के मन को एक भारी धक्का लगा। वह यह सोच ही न सकता था कि विजय इस सीमा तक गिर सकता है। एक बार तो यह भी उसके मन में आया कि वह उसको इसी दशा में छोड़कर चला जाय, और फिर कभी उसका नाम भी न ले, सदा के लिए उसे भूल जाय। किन्तु उसकी भावना को जो ठेस पहुँची थी उसका निराकरण वह किसी प्रकार कर लेना चाहता था।

इसी समय हीरा ने पूछा—"आप तो इनको मेरे यहाँ से लेने आये होंगे?"

गोबिन्द ने उत्तर दिया—"जी, आया तो लेने के लिए ही हूँ और साथ ले भी जाऊँगा।"

कुण्डल हिलाती हुई हीरा हँस पड़ी। बोली—"और अगर मैं न ले

जाने दूं तो ?"

"आपको अधिकार है। मैं तो समझा-समझाकर हार गया। हो सकता है, आप जीत जायँ।"

"हार आपको अच्छी लगती है ?"

"हार भी भला किसी को अच्छी लगती है ?"

"और अगर किसी को अच्छी लगती हो !"

"आपको लगती है ?"

"मैंने कभी सोचा नहीं। आपने तो सोचा होगा ?"

"तभी तो यहाँ आना पड़ा।"

"कोई नई बात नहीं है। हार के बाद ही लोग यहाँ आते हैं।"

गोबिन्द को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह छत से नीचे गिर पड़ा है। वह निरुत्तर हो उठा। तब यकायक उसके मुँह से निकल गया--"आप तो मुझे यथेष्ठ शिक्षित जान पड़ती है ?"

हीरा गम्भीर हो उठी। नतमुखी दृष्टि से बिछे हुए मख़मली फ़र्श नख से कुरेदती हुई बोली--"बाबूजी ने इण्टर तक पढ़ाया था।"

"फिर ?"

"फिर भाई की दृष्टि मुझ पर पड़ गई। तब तक मैं वयस्क हो गई थी।"

"उफ़, आप यह क्या कह रही हैं ?"

"आपको बुरा लगता होगा। लेकिन उनको बुरा नहीं लगा था।"

"हमारे समाज में ऐसे लोग भी हैं, यह मैं न जानता था।"

"अभी आप कुछ नहीं जानते। हमारे समाज में ऐसे लोग भी हैं, जिनमें से एक ने ऐसी अवस्था में भी जान-बूझकर मुझसे विवाह कर लेना स्वीकार कर लिया था।"

गोबिन्द चकित हो उठा। बोला—"वे धन्य हैं। अच्छा, फिर क्या हुआ ?"

"फिर जब उन्होंने पूरी कहानी सुन ली, तो मेरे उस भाई को मार डाला। शायद इसकी नौबत न आती, पर भाई साहब ने उनके यहाँ आना शुरू कर दिया था। जिस दिन की यह घटना है, उस दिन वे मुझे लिवा

ले जाना चाहते थे।"

"ओह! वेलडन! वे सचमुच धन्य हैं। अच्छा फिर?"

"फिर उनको सजा हो गई। आजीवन कारावास।" कहते-कहते उसका कण्ठ आर्द्र हो उठा।

"और आप?"

"मैंने तीन बार मुकदमा लड़ने के लिए ही नौकरी की, पर हर जगह दया और उदारता के नाम पर मुझसे देह-दान की इच्छा ही प्रकट नही की गई, स्पष्ट रूप से कह दिया गया कि अगर आपको यह स्वीकार नहीं है, तो हमारी संस्था में आपके लिए कोई जगह नहीं है।"

"ओः, तो आपको नौकरी किसी संस्था में मिली थी?"

"जी, पहली बार एक लेबर आफ़िस में, दूसरी बार एक विद्यालय में और तीसरी बार समाज-कल्याण-विभाग में। मैंने सोचा, जब आज का प्रबुद्ध नामधारी मानव इतना वन्य हो गया है, उसकी सभ्यता इतनी बर्बर, तब बँधे पैसों पर गुलामी करने की आवश्यकता ही क्या?"

गोबिन्द ने एक निःश्वास के साथ कमरे के चारों ओर देखा, तो उसे बड़ी शान्ति और शीतलता का अनुभव हुआ। उसने कहा—"सचमुच आपकी कहानी बड़ी दुःखद है।···ख़ैर, अब मैं सोचता हूँ कि मैं किसी ग़लत जगह पर नहीं आया। मैंने आपको कष्ट तो बहुत दिया, पर अब यह और बताइये कि इस विजय से आपका कब का परिचय है?"

"यह जानकर क्या कीजियेगा?····वे मेरे गुरु भाई हैं।···क्रिश्चियन कालेज में हम और वह एक साथ पढ़ चुके हैं।"

"वाह, यह भी खूब रहा। यह रिश्ता मुझे बहुत पसन्द आया। पर विजय ने इस हालत में आपको खोज कैसे निकाला?"

अब हीरा हँस पड़ी। सुवासित रेशमी रूमाल मुँह पर आ गया। बोली—"आप तो पहली ही भेंट में मुझसे सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं।"

विमुग्ध गोबिन्द कुछ संकुचित हो उठा। बोला—"अब आप ऐसा न कहें। यह विजय मेरा अन्यतम मित्र है। इस नाते आप मेरी भी बहन होती हैं।"

"क्षमा कीजियेगा। व्यक्तिगत रूप से मैं आप पर कोई लांछन नहीं लगाती, लेकिन मैंने दिल्ली देखी है। केवल बहन जी ही नहीं, ऐसे भाई साहब भी देखे हैं; जी ··। अब बार-बार क्या कहूँ आपसे।'

"बस इतना ही यथेष्ट है। और आगे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।"

इतने में पलँग पर पड़े हुए विजय ने करवट बदल ली।

गोबिन्द ने पूछा—"कितनी देर हुई उन्हें यहाँ आये हुए ?"

"अभी कोई दो घंटे हुए होंगे। साथ बैठकर बड़ी मुश्किल से खाना खाया।"

"मुश्किल से क्यों ?"

हीरा मुस्कराती हुई बोली—"आते-आते बैठते ही बोले कि आज तो पीने की तबियत है हीरा। उस समय और भी दो-एक सम्भ्रान्त अभ्यागत बैठे हुए थे। मैंने उन्हें तरकीब से हटा दिया। घर में तो मैं ऐसी कोई चीज़ रखती नहीं। नौकर भेजकर मँगवानी पड़ी।"

"टाल नही सकती थी ? आप जानती है—बड़ी बुरी लत है।"

"जानती हूँ, मगर साथ में इतना और जानती हूँ कि यह ज़िन्दगी भी क्या है ? आप विश्वास न करेंगे, यहाँ जो साहब इनके आने के समय बैठे हुए थे, उनमें से एक एम० एल० ए० थे और दूसरे गज़ेटेड आफ़िसर—महात्मा गान्धी के राम-राज्य के स्वप्नों को चरितार्थ करने वाले।"

"आपने तो मुझे हतप्रभ कर दिया।"

"मेरा ऐसा कोई इरादा तो था नहीं। अगर जीवन की वास्तविकता ही पाप बनकर आपको हतप्रभ कर देती है तो मुक्ति का मार्ग आप किस धरती पर खोजेंगे ? बतलाइये, शरमाइये नहीं।"

गोबिन्द फिर निरुत्तर हो गया।

हीरा बोली—"आप यहाँ किस पद·····

गोबिन्द संकुचित होते हुए बोल उठा—"दुर्भाग्य से मैं भी एक गज़ेटेड आफ़िसर हूँ।"

अब दोनों एक साथ अट्टहास कर उठे।

और बस, तभी विजय ने आँखें खोल दीं।

: १० :

पक्षी अपने नीड़ों में विश्राम कर रहे थे; मनुष्य अपने-अपने निकेत में। छप्परों से छाये हुए कच्चे और पक्के मिले-जुले घर, सूखी और कहीं-कहीं गीली गलियाँ—अधिकांश मिट्टी की; कहीं-कहीं ईंट खुरें। एकाध मकानों पर टीन छाई हुई, कहीं-कहीं नीम के शीतल-सघन वृक्ष। एक मकान के आगे कुआँ और पाकर का विशाल वृक्ष। बीच-बीच में खण्डहर, नोना लगी हुई दीवारें अपने पीछे शताब्दियों का इतिहास लिये। द्वारों पर बँधे बैल कभी-कभी जुगाली करते-करते प्रकृति की पुकार पर शब्द कर उठते। गले में बँधी हुई घण्टियाँ कभी एक साथ टुनटुना उठती, तो दूर से कर्ण-रन्ध्रों को लगता, जैसे किसी मरुप्रान्त में शान्त-एकान्त कोई क़ाफिला जा रहा है। बिल्ली शिकार की टोह में इधर-उधर घूमती-फिरती और जागरूक श्वान थोड़ी-सी अहट पाकर अपना प्रकृत स्वभाव व्यक्त करते-करते गुर्रा उठते। यद्यपि डर से समीप न आते किन्तु दिखाते यही कि सजगता मेरी अक्षुण्ण बनी है।

अमावस्या की रात्रि थी। सारा गाँव प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न था। अर्द्ध रात्रि का समय होगा, लगभग बारह बजे का। सड़क से लगी हुई गली पर आते-आते कुछ युवक एक साथ रुक गये। टॉर्च के प्रकाश में आग बढ़कर एक युवक ने बन्दूक उठाई और घोड़ा चढ़ाकर छोड़ दिया। घोर सन्नाटे को भदता हुआ एक बज्र निर्घोष हो उठा—धाँय! नीड़ चेतन हो उठे। ऊँघते हुए मोर बोल उठे। दूर गाँव के जलाशय में विचरती हुई सारसों की जोड़ी एक साथ चिहुँक कर उठी—पताँव, पताँव।

बिहारी पण्डित अपने मकान की छत पर लेटे हुए अभी जग रहे थे। एकाएक करवट बदलते हुए सोचने लगे—'जान पड़ता है, किसी पुरवे में बरात आई हुई है। लड़की का जेठ चढ़ावा लेकर उसके घर जा रहा है।'

एक मिनट भी न हुआ होगा कि गाँव के हास्पिटल के पास फिर बन्दूक

की आवाज़ गूँज उठी—धाँय !

इस बार बिहारी पण्डित का हृदय धक्-धक् कर उठा। उठकर बैठ गये—'अरे, यह आवाज़ तो बिल्कुल हमारे पड़ोस में हो रही है।'

इसी समय दो आदमियों के बोलने का संदेह हो उठा।

संख्या दो के युवक ने अपने साथियों से कहा—"पाकर का वृक्ष तो आ गया, लेकिन कुआँ नहीं दिखाई पड़ा।"

तब तक संख्या एक के युवक ने कह दिया—"कुआँ उधर आगे है।"

अब एक मिनट भी न व्यतीत हुआ होगा कि सभी युवकों ने बिहारी पण्डित का घर घेर लिया। द्वार पर पहुँचते ही तीन बन्दूकों की ध्वनियाँ लगातार गूँज उठीं—धाँय—धाँय—धाँय !

बिहारी पण्डित थर-थर काँपने लगे। और गिरधारी भैया ने आँगन में आकर जोर से आवाज़ लगाई—"भइया, यह दरवाज़े पर बन्दूकों की आवाज़ कैसी ?"

बिहारी पण्डित का तो कोई उत्तर न मिला, पर संख्या तीन के युवक ने पिछवाड़े के खंडहर से छत पर आकर एक बार चारों ओर टॉर्च का प्रकाश फेंकते हुए कड़कीली आवाज़ में कह दिया—"कान खोलकर सुन लो गाँव वालो, अगर कोई भी आदमी का बच्चा इधर-उधर से बाहर निकला, तो बन्दूक की गोली उसकी छाती चीरकर चिथड़े-चिथड़े उड़ा देगी। वैसे हम किसी का खून करने नहीं आये।"

बिहारी पण्डित ने जो यह घोषणा सुनी, तो उनके पैर जहाँ-के-तहाँ जम गये। नीचे उतरकर अन्दर जाना दूभर हो गया।

उद्घोषक युवक टॉर्च हाथ में लिए उसी जगह आ पहुँचा, जहाँ बिहारी पण्डित दुबके खड़े हुए थे। धन और प्राणों के भय में बड़प्पन की हेंकड़ी भूल गई थी। पसीने से लथपथ थे और कण्ठ सूख गया था। युवक ने बड़े इतमीनान से उनके निकट आकर कह दिया—"पण्डित जी, यह तो आपको पता चल ही गया होगा कि हम लोग किसलिए आये हैं ?"

बिहारी पण्डित को ऐसा जान पड़ा, मानो अब पृथ्वी फट जायगी और हम मिनटों में उसके भीतर समा जायँगे।

इतने में युवक ने पिस्तौल की नली उनकी छाती के सामने लगा दी।

दूसरे युवक ने टॉर्च का प्रकाश उसी ओर कर दिया। अब सम्मुख खड़े युवक ने कह दिया—"जो कुछ भी माल-टाल आपके घर में हो, चुपचाप हमारे हवाले कर दीजिये। नहीं तो समझ लीजिये होनहार क्या है?"

पण्डित जी क्रोध और भय से काँप उठे। ऐसा दृश्य देखना दूर रहा, उसकी कल्पना भी न कर सकते थे। एक बार तो मन में आया कि इसके जबड़े पर घूँसा लगा दूँ, किन्तु सोचते-सोचते ही भय अधिक बढ़ गया, घिग्घी बँध गई और सारा बदन थरथर काँप उठा। लगा, जैसे शरीर का सारा रक्त जम गया हो, रक्तचाप थम गया हो। अस्पष्ट स्वर में इतना मालूम हुआ, वे कह रहे थे—"हमारा धर्म भर छोड़ दीजिये। बाल-बच्चों पर हाथ मत डालिये, चाहे मेरी जान ले लीजिये।"

इतने में दो-तीन युवक अन्दर कूद गये और उनमें से शेष ने सड़क और गली के नाकों को घेर लिया। अब तक मकानों में सोये हुए अधिकांश लोग जग गये थे। एक दूसरे के निकट आकर भय और घबराहट से भरी हुई बातें कर रहे थे।

एक प्रौढ़ व्यक्ति ने कहा—"अरे, गाँव में डाँका पड़ रहा है।"

"गाँव में?" यह उस नारी का स्वर था, जो पाँच बच्चों की माँ थी।

उसके स्वामी ने उत्तर दिया—"हाँ-हाँ, गाँव में।"

"हाय, किसके यहाँ?"

कथन के साथ उसका हाथ बच्चे की पीठ पर था और बच्चा कुछ-कुछ जग भी रहा था।

स्वामी ने उत्तर दिया—"बिहारी पण्डित के यहाँ।····एऽऽए लो, फिर कुछ गड़बड़ हुआ।"

यह पिस्तौल का स्वर था—बैंग!

जिस मकान के अन्दर से वह स्वर आया था उससे मिले हुए दूसरे मकान में हाहाकार मच गया।—'हाय, क्या हुआ—क्या हुआ?' फिर पुरुष-स्त्री-बच्चे सब एक साथ चीख़ पड़े। आतंक के कारण एक घर का कोई व्यक्ति पड़ोस के घर में भी जा नहीं सकता था। लेकिन दोनों मकानों के बीच की दीवार कुछ छोटी और जराजीर्ण थी, अतएव यह मालूम होते

देर न लगी कि मातादीन बाबा, घर के दरवाज़े पर आकर, बिहारी पण्डित के द्वार पर खड़े डाके वालों को देखने लगे थे। उसी समय उनकी बगल में पिस्तौल की गोली जा लगी।

इन घरों में जो लोग जग रहे थे वे, अपने-अपने कमरों में दुबक गये। वृद्ध जन माला जपने लगे—"हे शिव-हे शिव।" माताएँ रो पड़ी—"हाय, अब क्या होगा?" तरुण बहू-बेटियाँ कोने-आँतरों में छिप गईं।

इतने में पड़ोस के मकान में एक ऐसा नारी कण्ठ सुनाई पड़ा, जो क्रन्दन से भरा हुआ था—जिसमें एक थरथराहट और कम्पन मिश्रित था। 'मुझे अपनी बहन समझकर ही छोड़ दो। पैर पड़ती हूँ भैया।' यह स्वर बिहारी पण्डित के घर का था।

यह मकान तिवारी दीनानाथ का था। उनकी स्त्री सत्यभामा उस स्वर को सुनकर दहल उठी। उसके मुँह से निकल गया—"हाय, यह तो राजेश्वरी जान पड़ती है।"

दीनानाथ ने भार्या के मुँह पर हाथ रखकर धीरे से कह दिया—"चुप, खबरदार जो किसी से कुछ कहा। लाज सबकी एक-सी।"

अब संख्या एक और दो तो भुसौरा में छिपे आभूषण खोजने लगे, संख्या चार आँगन से टार्च का प्रकाश दिखाने लगा और संख्या तीन के युवक ने एक ओर जो एक नारी छाया को दुबकते हुए देखा, तो टार्च घुमा दिया। पैर आगे बढ़े और उसने जो निकट जाकर देखा तो, उसके मुँह से निकल गया—"उफ़, यह रूप!" फिर हाथ के एक ही झपट्टे में कंचुकी फाड़ आलिंगन बद्ध हो एक-पर-एक तीन चुम्बन लगातार लेकर बोला—"अब कहाँ गया वह घमंड, जो सीधे मुँह बात भी न करने देता था!"

स्वर को भाषा से परिचय प्राप्त कर थर-थर काँपती हुई राजेश्वरी बोली—"ओः आप!"

एक तेवर के साथ विजय ने उत्तर दिया—"जी, मैं मुँह धोकर आ गया।"

कथन के साथ वह कुछ और समीप आ गया। पिस्तौल उसकी हाथ में थी। वही उसने उसकी छाती के सामने करते हुए कहा—"अब आगे सर्वस्व समर्पण में जो ज़रा भी विरोध किया, तो समझ लो, लोथ ही यहाँ पड़ी दिखाई देगी।"

अब उस घर में श्मशान-सी शांति व्याप्त हो गई थी। कोई टस-से-मस नहीं हो रहा था। क्रन्दन का स्वर भी अब कुछ मन्द पड़ गया था। दबे-छिपे, जो लोग अपनी छतों पर थे उन्होंने देखा कि दो युवक बन्दूक हाथ में लिये बिहारी पंडित की छत पर खड़े टार्च का प्रकाश कभी इधर कभी उधर फेंकते हुए टहल रहे हैं।

अब राजेश्वरी समझ गई, मैंने उस दिन इनकी जो उपेक्षा की थी—इन्हें जो तीखा उत्तर दिया था, यह आक्रमण उसी का प्रतिकार है। पर वह समय बहस करने का तो था नहीं। शेष लाज ही बच जाय, उसका सारा ध्यान इसी बात पर तुल गया। उसके मुँह से यही शब्द निकले—"अब आप मुझे मार डालिये। मैं इस प्रकार जीना नहीं चाहती।"

क्षुब्ध गर्जना में विजय के मुँह से निकल गया—"मार डालूँ! क्यों? मैं हत्यारा हूँ? अच्छा! हत्या भी सही। लेकिन तुम्हारे प्राणों की नहीं, तुम्हारे उस गर्व की, अहंकार और अहम् की, तुम्हारे उस दम्भ की, जिसने मेरा अपमान किया था। तुम्हीं वह असभ्य, बर्बर, रूप-गर्विता राजेश्वरी हो, जिसने मेरी एक साधारण जिज्ञासा के उत्तर में कहा था—मुँह धो लीजिये पहले।—आज जब मैं मुँह धोकर आया तो तुम कहती हो, मुझे मार डालो।" फिर मुट्ठी बाँधकर दो-तीन पग पीछे चलकर घूम गया। एक निःश्वास उसके अन्तस् से फूट पड़ा। क्षणभर चुप रहा। फिर बोला—"विष का-सा घूँट पीकर मैं रह गया था। शिष्टाचार के रूप में मैंने इतना ही कहा था—मैं तुमसे ऐसे उत्तर की आशा नहीं करता था राजेश्वरी!—पर तुम तो अपने रूप के मद में उन्मत्त हो रही थीं। सोचा होगा—'यह क्षुद्र जीव मेरा कर ही क्या लेगा?' यह तुम थीं जिसने सर्पिणी की फुँकार में उत्तर दिया था—'मुझसे आशा रखने का प्रयोजन!' अब समझ में आ जायगा, उस प्रयोजन का क्या अर्थ होता है!"

कथन के साथ विजय ने आँगन की ओर देखते हुए आदेश दिया—"ऐ नम्बर चार! आँगन में पड़ी हुई अरगनी की रस्सी काटकर इसके हाथ-पलँग की पाटी से कसकर बाँध दो। मुझे आज इसका वह दर्प देखना है, जिसने मेरा सोना हराम कर रक्खा था!"

राजेश्वरी उत्तर में एक शब्द तक न बोली। पलँग तो पहले से ही

पड़ा हुआ था। विजय ने राजेश्वरी को एक धक्के से उस पर गिरा दिया। फिर संख्या चार का युवक पलँग की पाटी से राजेश्वरी के हाथ बाँधने को जो अन्दर आने लगा, तो विजय ने कह दिया—"रहने दो। मैं ज़रा इसकी यह चेष्टाएँ भी देखना चाहता हूँ।"

फिर दो पग पीछे हटकर जैसे अपने आपसे ही कहने लगा हो, कुछ मन्द स्वर में बोला—"जिन्हे देख-देखकर कभी मेरे मन में मिश्री घुला करती थी, उन कोमल हथेलियो को बंधन मे कस जाने दूँ। नही-नही। ऐसा कभी नहीं हो सकता।" आगे बढ़कर उसने खुला द्वार भीतर से बन्द कर लिया।

गिरधारी की दुलहिन रो पडी और कौशल्या मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। राजकिशोर की दुलहिन के मुँह से निकल गया—"हाय अब क्या होगा?"

इसी समय बचानसिंह जो तीर की भाँति भागता हुआ उधर आने लगा, तो संख्या चार के युवक ने उस पर पिस्तौल दाग दी। धुएँ के साथ एक बार फिर बैङ् की ध्वनि गूँज उठी। गिरधारी के मुँह से निकल गया—"हाय बचान ठाकुर तो गये!" और बचान ठाकुर सचमुच आँगन में गिरकर तड़पने लगा।

विजय दाँत किटकिटाता हुआ कह रहा था—"दिन-रात रूप-यौवन के मद में ही उन्मत्त रहने वाली अहंकारमयी नारी, देख, आज मै तेरा यह दंभ किस प्रकार धूल मे मिलाता हूँ।"

राजेश्वरी उपस्थित संभावनाओं की कल्पना कर रो पड़ी। देह श्लथ होने लगी। किन्तु निःश्वास के स्वर अब भी कह रहे थे—'इससे तो मरण ही श्रेयस्कर है।'

विजय पलँग के पास जाता-जाता सहसा रुक गया और धीरे से बोला—"एक दिन मैं इस रूप की पूजा करता था। कभी-कभी जब नींद उचट जाती, तब इसी सौंदर्य-गरिमा की स्मृति में करवटें बदलते भोर हो जाता था। तुम जिस कालेज में पढ़ती रही हो उसकी संस्कृति ने तुमको यही सिखलाया है कि तुम सभ्यतापूर्वक किसी को उत्तर भी न दो। किस राजकुमार को अर्घ्य-दान करने के लिए तुमने यह गर्व्वोन्नत यौवन सुरक्षित रक्खा है, ज़रा सुनूँ तो सही।"

इस समय गिरधारी कहीं से बोल उठे—"धर्म मत लो, चाहे मार डालो।" किन्तु उनका यह कथन उस कमरे में पहुँचते-पहुँचते अन्तरिक्ष में लीन हो गया। एक दीर्घ निःश्वास के साथ राजेश्वरी बोली—"बस, मुझे बहन समझकर छोड़ दो भैया, पैर पड़ती हूँ।"

क्षणभर में राजेश्वरी ने यह अनुभव किया—कदाचित प्रथम बार—कि स्वाभिमान और अहम की तुलना में लाज-रक्षा का महत्व किसी प्रकार कम नही।

"हुँः आज मुझे भैया बनाने चली हो! और उस दिन मै भालू हो गया था। नयनतारा के साथ मेरा नाता तुम्हें मालूम न था?"

विजय पलँग के पास खड़ा किटकिटा रहा था। वह अपने क्षोभ को सम्हाल नहीं पा रहा था। उसके अन्तराल से आँधियाँ उठ रही थी।

राजेश्वरी के नयनोत्पल आँसुओं से तर थे। कुछ आँसू बहकर अधरों पर स्थिर हो गये थे। आर्द्र कण्ठ काँप रहा था। विगलित करुणा के थरथराते हुए स्वर में उसने कह दिया—"क्षमा···सहस्र कण्ठों से मैं क्षमा चाहती हूँ, भैया। ज़रा मेरी विवशताओं पर ध्यान दो। मानवता के नाम पर मै तुमसे दया की भीख माँगती हूँ—भाई के नाम पर वह पावन स्नेह माँगती हूँ, जीवन भर जो राखी की लाज निभाता है। राम-कृष्ण की महामहिम संस्कृति के नाम। मैं और किसी वस्तु की नहीं, केवल लाज की भीख माँग रही हूँ।"

इतने में पार्श्व से सरदार की आवाज़ आई—"अब चलो, जो मिलना था, मिल गया।" और तब गमनोद्यत विजय राजेश्वरी की ओर उन्मुख होता हुआ एक तेवर के साथ बोला—"अच्छा, जाओ छोड़ता हूँ। और कुछ?"

हतप्रभ राजेश्वरी अब पलँग से उठकर विस्मय से अवाक हो उठी। अप्रत्याशित श्रद्धा से हाथ अपने आप जुड़ गये और नतशिर नयनों से अश्रु-मुक्ता झरने लगे—टप! टप!!

थोड़ी ही देर में सभी युवक एक साथ विदा होने लगे। चलते-चलते भी, गली से निकलते हुए, उन्होंने दो-बार बन्दूकें चलाई।

दूसरे दिन जब सबेरा हुआ, तब भी कुछ लोग घरों से निकलते हुए

हुए थर-थर काँप रहे थे। बिहारी पण्डित मौन थे। किसी से मिलना उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

कुछ बातों का और पता चला। राजेश्वरी की माँ के पैरों में चाँदी के जो कड़े थे, कहते हैं, वे दो सेर से कम न रहे होंगे। जब बाहुबल से भी उनके जुड़े हुए होंठ खोले न जा सके, तब नम्बर एक ने कहा था—"अगर न निकाले जा सकें, तो पैर काट डालो।"

इस पर राजेश्वरी की माँ की घिग्घी बँध गई थी। थरथराते हुए स्वर से उन्होंने कहा था—"पः पः पैर मत काटो। सँड़सी ले लो।" और उन्होंने स्वयं संकेत से बतला दिया था—"वह रखी है।"

सबेरे दस बजे दरोग़ा जी आये और गिरधारी ने लूट के सामान की जो सूची बनवाई, वह सब कोई मिलाकर कोई बीस हज़ार रुपये की थी। पाँच हज़ार तो नक़द ही थे। गाँव के लोगों को इकट्ठा करके जब दरोग़ा जी ने पूछा—"किसी ने उनको देखा नहीं? कैसी पोशाक पहने थे? किसी ने पहचाना भी नहीं?" तब एक ग्यारह वर्ष की लड़की रामदेई ने बताया था—"पोशाक सबकी एक ही-सी थी। टोप सबके सिर पर था। चमड़े की बद्धी सबकी कमर में बँधी हुई थी। मोज़ा और घुटन्ना पहने हुए थे। आँखों को छोड़कर बाक़ी पूरे मुँह पर काला-काला-सा कुछ पड़ा हुआ था। मैंने उन्हें लौटते समय किवाड़ों की ओट से देखा था।"

मातादीन और बचानसिंह दोनों का शव अब पास-ही-पास रखा हुआ था। जिस जगह गोली लगी थी, दरोग़ा जी जब वह जगह भी देखने लगे, जहाँ इकट्ठा गाढ़ा काला पड़ा हुआ खून और यत्र-तत्र उसके छींटे पड़े हुए थे, कि फिर रामदेई ने कह दिया—"बाबू साहब, पोशाक तो आपकी ही जैसी थी।"

दरोग़ा जी ने नाक सिकोड़ते हुए कह दिया—"क्या बकती है?" और कहते गये—"कम्बख्त अपनी कोई भी निशानी नहीं छोड़ गये!"

रामदेई भाग खड़ी हुई।

"अच्छा, रिपोर्ट थाने में जाकर लिख लूँगा। अब यह बतलाइये, आपको किसी पर शक तो नहीं है? और हाँ मुंशीजी, गवाहियों के अँगूठे-वँगूठे लगवा लीजिये।"

ठाकुर गेंदासिंह वहाँ उपस्थित थ, उत्सुकता से गिरधारी बाबू के मुँह की ओर देखने लगे।

गिरधारी बाबू ने मुँह लटकाये उत्तर दिया—"किसी पर कोई शक नहीं है दरोग़ाजी। भैया किसी के साथ ऐसा व्यवहार ही नहीं करते कि कोई उनसे नाराज़ हो।"

गेंदासिंह निर्विकार मुद्रा में बोल उठा—"सारी मुसीबत तो यही है—दरोग़ा जी कि मुसीबत उसी का घर खोजती है, जो सबका भला चाहता है!"

दरोगा जी मुस्कराते-मुस्कराते सम्हलकर बोले—"डाकुओं का पता चल गया, तब तो क्या बात है! वरना इस वारदात का सदमा मुझे ज़िन्दगी भर रहेगा।"

अब दरोग़ा जी को जाँच-पड़ताल करते-करते दोपहर हो गई थी। अतएव अवसर देखकर गेंदासिंह बोल उठे—"न हो, किसी को भेजकर चाय और नाश्ता मेरे यहाँ से मँगवा लो गिरधारी भाई।"

गिरधारी कुछ कहने ही जा रहे थे कि मुरारी ने कह दिया—"अभी आया जाता है। मैंने प्रबन्ध कर लिया है ठाकुर साहब। आपको तकलीफ़ उठाने की जरूरत नहीं।"

चन्द्रमा लाला पहले तो निकट बैठे थे। पर इस समय उनका पता न था। किसी ने ध्यान नहीं दिया, वे कब चुपचाप उठकर चले गये।

थोड़ी देर बाद दरोग़ा जी ने चलते हुए कह दिया—"लाशें थाने भेजने का प्रबन्ध कर दो। दोनों चौकीदारों से कहो कि साथ-साथ आवें।"

फिर सब लोग एक साथ उठकर चलने लगे।

.

कहते हैं, बिहारी पण्डित को कभी किसी ने रोते न देखा था। पर उस दिन घण्टे-आध-घण्टे के अन्तर से उनकी आँखें भर-भर आतीं। मुरारी उनके सबसे निकट थे। वही समझाते रहते थे—

"जो हुआ सो हुआ। उसे कोई मेट नहीं सकता। क्यों हुआ, कैसे हुआ, इस पर भी जितना अधिक सोचोग, उतनी ही तकलीफ़ होगी।

"एक-न-एक दिन ऐसे संकट भी बड़ लोगों पर आ ही जाते हैं। सच पूछो तो यही बड़प्पन का दण्ड है। माना कि दण्ड बहुत भयानक है। पर बड़े आदमी ही इसे सह भी सकते हैं।

"महापुरुष इंच-इंच भूमि का योद्धा होता है। ऐसे ही बड़े आदमी संकट के समय क्षण-क्षण के लिए धीर और सहनशील होते हैं। आपकी शोभा इसी में है कि अपने कर्तव्य से विचलित न हों।"

पर बिहारी पण्डित के हृदय में धधकता अग्नि-कुण्ड किसी तरह शान्त न होता था। नक़द रुपये-पैसे और आभूषणों की हानि की उतनी पीड़ा उन्हें न थी, जितनी राजेश्वरी के अपमान की। धीरे-धीरे गाँव भर में यह ख़बर फैल गई थी—'राजेश्वरी की लाज लुट गई!"

दो दिन तो घर में चूल्हा ही नही जला। मुरारी ने अपने घर से परांठे-साग बनवाकर भिजवा दिया। वे स्वयं दिन भर वहीं बने रहें। बिहारी पंडित घर से बाहर न निकले। खाना उनसे खाया न गया। बहुत आग्रह करने पर केवल दूध—सो भी पावभर से अधिक नहीं—पी लेते थे। राजेश्वरी की स्थिति और भी चिन्त्य थी। वह दिन-रात कोठरी में पड़ी रहती। राजकिशोर की दुलहिन वहीं आकर उसे खाना दे जातीं, पास बैठकर खिलाने की भी चेष्टा करतीं; पर राजेश्वरी से कौर न तोड़ते बनता। आँसू तो जैसे आँखों में भरे ही रहते। जो पीड़ा शब्दों में उतर न सकती, वह नयनों के मार्ग से फूट पड़ती। जब तक मुँह का कौर कण्ठ से उतरने की तैयारी करता, तब तक आँसू बहकर अधरों तक आ जाते। भोजन समाप्त हो जाता और राजेश्वरी गिलास-दो-गिलास पानी पीकर पेट भर लेती।

कई दिनों तक चन्दनियाँ ने घर न छोड़ा। कौशल्या के पास जाती, तो उन्हें मनाने लगती—"चाची, अब नहा डालो। जब तक तुम रोटी न खाओगी, बहू चौके में भी न जायेंगी। फिर तुमको पूजा-पाठ में भी देर लगती है। दादा से भी तब तक कुछ कह न पाऊँगी पहल ही पूछ बठेंगे—राज की माँ ने खा लिया!—उठो चाची, भगवान बिचारे भूखे बैठे हैं। उनके भोग में देरी करोगी, तो उनको बुरा न लगेगा!"

कौशल्या ने उससे कहीं आँसू टपकाते हुए कह दिया—"भगवान ही

बने होते तो क्या था !"

"ऐसा न कहो चाची, भगवान न बने होते, तो धरम कैसे बचता ! बड़े भाग थे जो धरम बच गया। दौलत का क्या है, फिर हो जायगी। पैर पड़ती हूँ चाची, अब उठो। देखो दुपहरी हो गई। सूरज सिर पर चढ़ आया। धूप आँगन के उस पार जाने को हुई। दुलरवा बैलों को पानी दिखाकर लौट आया। राज बिटिया है, दुलहिन है, छोटी चाची हैं। एक तुम्हीं से लगी हैं सब। उठो तो झट से।"

इस तरह चन्दनियाँ पहले कौशल्या को ठेलठालकर राज़ी करती, फिर बिहारी पण्डित को जा घेरती। दर्शन की भाषा उसे आती न थी। केवल एक नारी-सुलभ ममता थी, जो समवेदना के स्वरों में मर्मवाणी बनकर फूट पड़ती थी—

"दादा, तुम उठे नहीं और वहाँ बड़ी माँ जी तुम्हारी राह देख रही है।.दुपहरी लौट गई। गैया खा-पीकर जुगाली कर रही है। भैंस सबेरे बिचक गई थी। दुलरवा ने पल्हा-पिल्हू कर अब कहीं राज़ी कर पाया है। मुरारी चच्चा के घर से खाना आ गया। मैंने टुइयाँ और पटुवाँ दोनों को पराठे के टुकड़े डाल दिये। दोनों बड़े प्रेम से खुथर रहे हैं। मगर दादा भगवान बिचारे ने क्या कसूर किया है, जो उनको भूखों मार रहे हो !"

बिहारी पण्डित दो रात से सोये न थे। सिर फटा जा रहा था। आँखें लाल हो आई थीं। चन्दनियाँ की बातें मुँह मूँदे सुनते रहे—सुनते रहे। फिर एकाएक उसकी ओर दृष्टि डाल बोल उठे—"तू भगवान को पहचानती है चन्दनियाँ ?"

"पहचानती न होती, तो काँच की इन हरी-हरी चूड़ियों को बीस बरस से कैसे सँजोकर रखती। या तो इन्हें फोड़ ही डालती, या कुतिया की मौत मर जाती।"

चन्दनियाँ की बात सुनकर बिहारी पंडित एकाएक उठ बैठे। वे जानते थे—चन्दनियाँ का पावन चरित्र किसी सती नारी से कम नहीं है। एक निःश्वास अन्तराल के गवाक्ष से फूट पड़ा—"यह तूने ठीक कहा चन्दनियाँ ! अच्छा, जा मेरे लिए पानी तो ला बिटिया।"

: ११ :

विडम्बना ऐसी, जिसका कहीं कोई निवारण नहीं; भय ऐसा जिसने स्थायी रूप ग्रहण कर लिया हो। यह ऐसी पीड़ा थी, जो कार्य के क्षण ही प्रायः भूली रहती, पर कार्यहीन विश्रान्ति की घड़ियों में फिर उभर उठती थी।

राजेश्वरी उस कारण को किसी प्रकार भूल न पाती थी, जो उसके विवाह के सम्बन्ध में मुख्य रूप से एक व्याघात बना हुआ था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसमें उसका कोई दोष न था, किन्तु फिर भी उसका परिणाम वह भोग रही थी। ऐसे समय वह यह भूल जाती थी कि दोष मेरा नहीं, मेरे अपावन रूप का है।

पर क्या रूप भी अपावन होता है?

विश्वविद्यालय की वह एक प्रसिद्ध छात्रा थी। प्रसिद्ध इस अर्थ में कि शारीरिक गठन, उज्ज्वल वर्ण, मोहक छवि, वेश-विन्यास में ही नहीं, भावाभिव्यक्ति की दृष्टि में भी विश्वविद्यालय भर में वह एक आकर्षण थी और सब प्रकार से एक दर्शनीय व्यक्तित्व बन गई थी। लोग एक बार उसे देखकर उत्साह और प्रेरणा का अनुभव करते। कुछ लोग ऐसे भी थे, जो रास्ते में, इधर-उधर उसे देख पाते, तो अपनी सामाजिक मर्यादा, शिष्टता और सभ्यता भूलकर सहज ही ठिठुक जाते—"ठहरो भाई, थोड़ा देख लूँ। महीनों बाद तो आज एक झलक दिखाई दी है।"

उधर स्थिति इसके नितान्त प्रतिकूल थी। राजेश्वरी कभी यह भूल न पाती थी कि वह अछूती होते हुए भी अछूती नहीं है। छुरें जब बदन में लगते हैं, तब तत्काल उससे खून बह चलता है। वैसी ही जब कभी कोई उससे मिलकर उसका मन छूने की चेष्टा करता तो उसकी पीड़ा बह चलती थी। लेकिन छुरों का लगना फिर भी बन्द न होता था। यह स्वर तो उसके आन्तरिक मानस से उठता ही रहता था, कि मैं एक बार मिट

चुकी हूँ; मेरा विनाश हो चुका है। कदाचित् यही कारण था कि किसी से सम्पर्क स्थापित करने में उसे अपनी ओर से कोई उत्साह न होता था। यह एक ऐसी जड़ता थी, जिससे छुटकारा पाना उसके लिए दुष्कर हो गया था। अक्सर अपने छात्रावास का कमरा बन्द करके वह घंटों मूक भाव से पड़ी रहती, यद्यपि उसका यह मूक एकान्तवास भी एक सीमा तक ही स्थिर रह पाता था।

नयनतारा राजेश्वरी के बिना रह ही न सकती थी। बी० ए० में उसके विषय थे--हिन्दी साहित्य, अंग्रेज़ी साहित्य, राजनीति विज्ञान एवं सामान्य अंग्रेज़ी (अनिवार्य)। नयनतारा अंग्रेज़ी साहित्य में सम्यक् दुर्बल थी। इसलिए जब वह इस विषय के अध्ययन में लग जाती, तो राजेश्वरी की सहायता उसके लिए अपेक्षित हो उठती। प्रायः प्रतिदिन कुछ ऐसा होता कि थोड़ी देर पढ़ने के बाद वह अपनी कुर्सी छोड़ देती। राजेश्वरी के बन्द कपाटों के ऊपर वाले शीशे पर दो बार ठक्-ठक् का शब्द होता, राजेश्वरी भी आगन्तुक को समझ जाती। किवाड़ खुल जाते और नयनतारा अन्दर प्रवेश करती हुई अगर पलँग खाली होता, तो उसपर आकर लेट जाती और फिर अँगड़ाई लेती हुई बोल उठती--"आख़िर मुझे आना ही पड़ा।"

ऐसे अवसर पर कथन के साथ उसकी दन्तावलि खुल जाती और अपनी ही बात पर वह खिलखिला पड़ती। कदाचित् वह कहना चाहती थी कि आने की तबियत तो न थी, फिर भी आना ही पड़ा। प्रकारान्तर से वह यह बात उस पर स्थापित करना, या कह लो, जमाना चाहती थी कि तुमको मेरा कृतज्ञ होना चाहिये।

राजेश्वरी प्रायः पूछ बैठती--"सोकर उठी हो क्या? आँखों में नींद भरी है।"

उस दिन नयनतारा ने इस प्रश्न के उत्तर में मुँह बनाकर कह दिया--"ऊँ हुँ। प्यार भरा है।"

नयनतारा विवाहिता थी। इसलिए राजेश्वरी झट सोचने लगती--'इसको ऐसा कहने का अधिकार है।' इसमें इतना और निहित रहता--'जो मुझको नहीं है।' अतएव ऐसे अवसरों पर राजेश्वरी गम्भीर हो उठती।

नयनतारा प्रायः अनुभव करती थी कि जब मैं इस तरह की बातें करती हूँ, तो राजेश्वरी कभी मेरा साथ नही देती। मिला-जुला उत्तर देना तो वह जानती ही नहीं है।

उस दिन कुछ ऐसा हुआ कि राजेश्वरी पलँग पर लेटी हुई थी। क्लास में भी वह अनुपस्थित थी। वस्त्र उसने बदले नही थे। यहाँ तक कि उसका केश-पाश भी न विधिवत गुम्फित किया हुआ था, न उसमें चिकनेपन की चमक थी। भाल और कनपटी पर लटें बिखरी हुई थीं।

यह स्थिति देखकर नयनतारा कुर्सी पर बैठते ही पहले मुस्कराई, फिर उसके होंठ यकायक हिल उठे। उसने कह दिया—"आज पुनः वह दिन आ ही गया ?"

नयनतारा जानती थी—'हमारे वय और वयस्क जीवन की और भी तो लड़कियाँ हैं, जो ऐसे अवसरों पर अनुपस्थित नहीं होतीं। वेश-विन्यास, भाव-भंगिमा, यहाँ तक कि अध्ययन-प्रणालियों की विशेष और मौलिक अभिव्यक्तियों में भी अर्थान्तर उपस्थित होने के अवसर नहीं आते। पर राजेश्वरी अपने संस्कारों से विवश है।'

नयनतारा उसके पलँग पर आकर नितान्त संलग्न होकर बैठ गई और बोली —"गुलाब का पुष्प जब अपनी कली की संज्ञा से मुक्त हो जाता है, तब उसे देखने का ही नहीं, उसकी मन्द गन्ध से आप्लावित होने का सुअवसर सारी प्रकृति को मिलता है, मनुष्य को मिलता है, पशु-पक्षी को मिलता है, निखिल जगत के सचराचर जीवों को मिलता है।" इसके बाद फिर एक आह भरकर उसने कह दिया—"अफ़सोस कि नयनतारा को नहीं मिलता।"

कथन के साथ एक गम्भीरता, फिर आह भरने में एक अभिनय और समाप्ति के अनन्तर प्रवञ्चना भरी स्मिति।

"उठो-उठो यहाँ से।" राजेश्वरी ने अँगुली को उसकी कटि में लगातार कोंचते हुए कहा।

"बुरा लग गया ? काँटा छिद गया ? शूल घुस गया ? पीड़ा हो उठी ? व्रीड़ा बिखर गई ?"

"देखो नयना, तुम्हारी यह ढिठाई मुझे अच्छी नहीं लगती। उठो

यहाँ से । उधर कुर्सी पर जाकर बैठो ।"

"क्यों, सिद्धान्त भंग हो गया ? पवित्रता को पाला मार गया ? शाखामृग कंचुकी चीर गया ?"

नयनतारा के इस चञ्चल रूप से राजेश्वरी की सोई हुई भावना जग उठीं, और वह बोली—"यह असमय तंग करना मुझे अच्छा नहीं लगता, नयना । इसलिए भलाई इसी में है कि जिस काम से आई हो उसे कर डालो, और मुझे अकेला छोड दो !"

नयनतारा झट उठकर खड़ी हो गई और गम्भीरता के साथ बोली—"मेरा आना अगर तुमको अच्छा नही लगता, तो लो, मैं जाती हूँ । किवाड़ भीतर से बन्द कर लो ।"

राजेश्वरी पलँग से उठकर बोली—"चलो, कृष्ण-मुख करो ।"

नयनतारा आगे थी और दायें ओर का किवाड़ उसके हाथ में था । राजेश्वरी उसके बाहर निकलते ही किवाड़ बन्द करने के लिए जो आगे बढ़ी । तो नयनतारा ने बाहर जाने के बदले तुरन्त भीतर आकर पहले किवाड़ बन्द कर लिये, फिर अपनी दायीं बाँह को उसके गले में डाल दिया और एक प्रगाढ़ आलिगन के बाद आँखों-में-आँखें डालकर मुस्कराई और बोली—"बस, इसी कार्य से आई थी । मेरा ख्याल है, अब तुम समझ गई होंगी !"

राजेश्वरी एकदम गम्भीर हो गई । उसके जीवन में अपने ढंग का अकल्पित और अप्रत्याशित यह पहला दिन था । अतएव झट उसे अतीत का ध्यान हो आया ।—'उस क्षण भी प्रारम्भ कुछ इसी प्रकार हुआ था ।'

नयनतारा कमरे के बाहर न जाकर जान-बूझकर क्षणभर खड़ी रह गई । कदाचित वह राजेश्वरी की प्रतिक्रिया देखना चाहती थी । पर यह देखकर वह चकित, अभिभूत और अतिशय चिन्तित हो उठी कि राजेश्वरी द्वार से एक पग पीछ हटकर पलँग के पास पहुँचती-पहुँचती उस पर गिरकर यकायक अचेत हो गई ।

वह अप्रिल मास का प्रथम सप्ताह था । परीक्षाएँ अभी समाप्त नहीं हुई थीं । पंखा पहले नम्बर पर खुला हुआ था ।

नयनतारा कुछ घबरा गई । उसने सुना था कि वयस्क हो जाने पर यौवनागम के पहले प्रहर से ही मूर्च्छा का यह रोग उन लड़कियों को ग्रस

लेता है, जो अविवाहिता रहने के कारण यौन-सम्बन्धों की प्रकृत-स्वाभाविक चेतना से विवश आक्रान्त हो उठती है !

राजेश्वरी पलँग पर गिरते समय कुछ अस्त-व्यस्त हो उठी थी । उसकी इकलाई साड़ी साया के साथ-साथ पिंडली तक खुल गई थी । ब्लाउज ऐसी महीन चिकन का कि उसके सुगठित शरीर की उठान और विनत-मुखी मांसलता लोभावलि के साथ झलक उठी थी । एक हाथ पलँग की पाटी पर पड़ा था और दूसरा वक्ष पर । अँगुलियों के नख इतने लाल थे कि उनकी नवल प्रदीप्ति एक दिन भी पुरानी न पड़ी थी ।

ब्लाउज का तिकोना गला कुछ उन्मीलित था । नेत्र यद्यपि बन्द थे किन्तु पलक और अधर कभी-कभी कम्पित हो उठते थे ।

नयनतारा पहले पलँग के पास खड़ी हुई । दो मिनट तक बराबर उसके मुख की ओर देखती रही । यकायक उसे प्रतीत हुआ--राजेश्वरी कुछ कह रही है । उसका कुतूहल जग उठा और तब वह उसके मुँह के और भी पास आ गई । जिज्ञासा और भी प्रबल हो उठी--'देखूँ यह कहती क्या है ? क्या इसके मन के भीतर कोई कांक्षा है ? कोई परिवाद, उपालम्भ या प्रश्न है ? कोई अभाव, द्वन्द्व या धात-प्रतिधात है ?'

आँखें मूँदे राजश्वरी बुदबुदा रही थी । स्पष्ट-अस्पष्ट; कोई शब्द प्रस्फुटित और कोई डूबा हुआ, निर्विकल्प, सन्निहित ।

एकाएक उसका ध्यान खुले कपाटों की ओर जा पहुँचा ।--'ऐसे समय यदि कोई आ गया, तो सम्पूर्ण छात्रावास में एक सनसनी फैल जायगी । और जो कहीं राजेश्वरी ने मेरे कृतित्व की बात प्रकट कर दी, तो अपने ऊपर आये हुए लाञ्छन, आरोप और तज्जन्य अपराध को मै कैसे छिपा-ऊँगी ?'

भीतर से कुण्डी बन्द करते हुए नयनतारा पुनः पलँग पर आकर बैठ गई ।

बुदबुद ऐसे कि कम्पित अधरों की क्रीड़ा के प्रतीक । बुदबुद ऐसे, जो गुलाब के खिले दलों को बिखेरने जा रहे थे, पवन के पहले ही झकोर से ।

राजेश्वरी कह रही थी--"नहीं-नहीं । कुछ नहीं-कुछ नहीं ।···

मैंने कुछ नहीं किया ।···मैं···मैं निरपराध हू ।···हाय सत्यानाश··· सर्वनाश ।···अरे अम्मा, ज़हर ज़हर···ज़हर दे दो मुझे ।···क्या कहा ? ····बचान ठाकुर मार डाले गये ? ···अम्माँ तुम रोती हो ?··· लो मै जिऊँगी । मैं सब कुछ सहूँगी ।···परिवार, भाई, बहन, माँ, समाज, गाँव ।···कुछ नहीं । मैं किसी की परवाह न करूँगी । मेरा यौवन··· अखण्ड है, मेरा कौमार्य दुग्ध-स्फीत मन्दाकिनी की अजस्र विमल धारा की भाँति । मेरा जीवन-दीप कभी बुझने न पायेगा, मै जलती ही रहूँगी निरन्तर । कोई भी आँधी मेरी ज्वलन्त लौ को झुका न पायेगी । नयनों का जल चाहे सूख जाये, पर जलन मेरी जीवित रहेगी !"

फिर एक स्थिर मौन ।

नयनतारा ने अनुभव किया, हो न हो इसके परिवार में कोई ऐसी दुर्घटना हुई है, जिसके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है । उसकी गोल-गोरी-कोमल बाँह पर उसने हाथ रखा, फिर उसका ध्यान उसके यौवन पर जा पड़ा ।--उफ़, इतना रूप !

उसने पुनः सोचा---'इस समय कोई देखने वाला तो है नहीं ।' सहसा प्रकाश की एक किरण उसके अन्धकाराच्छन्न मन पर आ गई---'मैं पशु तो हूँ नहीं ! फिर राजेश्वरी मेरी सखी है, बहन ! छिः-छिः ! मैंने यह क्या सोचा था ।' वह उठी और कोने पर रखी सुराही से शीशे का गिलास पानी से भर लिया । फिर चल्लू में लेकर उसकी पलकों को लक्ष्य करके छीटें मारने लगी । फिर खाली गिलास को पलँग के नीचे रख दिया और पंखे को तीसरे नम्बर पर, पूरी गति से चालू करके कुर्सी पलँग के पास खिसका ली । फिर उसी पर बैठ कर वह राजेश्वरी की ओर झुक गई ।

राजेश्वरी की पलकें यकायक हिल उठीं और एक निःश्वास के साथ उसने करवट बदल ली । नयनतारा ने देखा—बगल के नीचे का भाग पसीने से भीगा हुआ है । जल-बिन्दु अब भी उसके मुख, मस्तक, नासिका, कपोल और पलकों पर झलक रहे थे ।

नयनतारा चुपचाप बैठी रही । दो मिनट बाद यकायक राजेश्वरी ने आँखें खोल दीं और उसके मुँह से निकल गया—"ओः, नयनतारा !"

लज्जित नयनतारा सिहर उठी और बोली--"कैसा जो है दीदी ?"

राजेश्वरी ने म्लान मुख, शान्त, मन्द, संक्षिप्त वाणी से उत्तर दिया—"ठीक है।" और फिर आँखें बन्द कर लीं।

नयनतारा के मन मे आया—'मूर्च्छा के समय की बुदबुद, उसकी शब्दावली के सम्बन्ध में इस समय कुछ पूछना क्या ठीक होगा ?'

उसके अन्तःकरण ने कहा—'भोली नयनतारा, यह तेरी दूसरी भूल होगी।'

'जीवन इस तरह तो चल नहीं सकता। धरती तक जो कहीं गीली हो जाती है, तो उस पर धूल-मिट्टी डाल देते है।' यकायक सोचती हुई राजेश्वरी अब लेटी न रहकर उठ बैठी, और नयनतारा को ध्यान से देखने लगी। उसे स्मरण हो आया—'मै जब-जब इस प्रकार मूर्च्छित होती हूँ, तब-तब कुछ-न-कुछ धीरे-धीरे बक भी डालती हूँ। ऐसा कुछ इस बार भी हुआ होगा।'

तब तक नयनतारा ने कह दिया—"यह तुमको क्या हो गया था दीदी ? गलती मेरी ज़रूर थी, पर मैं यह न जानती थी कि इसका परिणाम इतना गम्भीर होगा। तुम तो मुझसे बड़ी हो दीदी। क्या मुझे क्षमा न करोगी ?"

कथन के बाद थोड़ा रुककर नयनतारा कुर्सी से उठकर पलँग पर आ गई। राजेश्वरी विचार में पड़ गई। तकिया उठाकर सिर के नीचे रखकर वह चुपचाप लेट गई। नयनतारा पहले तो कुछ क्षण मौन रही। फिर आप-ही-आप बोली—"हम साधारण मानवी जन ठहरे। दुर्बलताओं के आकर, आसक्तियों के आहार; जीवन और सौख्यानुभव के क्षेत्र में कभी कोई प्रयोग कर ही बैठें, तो मैं इसमें कोई बुराई नहीं देखती। इसीलिए मुझसे यह धृष्टता हो गई। मैंने यह कल्पना भी नहीं की थी कि छोटी-सी बात, इतना छोटा-सा प्यार भी इस प्रकार अपराध की संज्ञा ले लेगा। मैं तुमसे फिर क्षमा माँगती हूँ, दीदी।"

इस समय राजेश्वरी की स्थिति बड़ी शोचनीय हो उठी। घना अँधेरा उसके जीवन में, भले एक दिन के लिए ही आया हो, पर वह उससे इनकार कैसे कर सकती है ? भयावह परिस्थिति का एक ही निर्घोष जिसके सम्पूर्ण जीवन का अभिशाप बन गया हो, वह उससे अपने को सर्वथा निस्सङ्ग कैसे बना सकती थी ? देह-बन्धनों की परिकल्पना के नाना आरोप, सामा-

जिक हस्तक्षेप और दुरभिसन्धियों के क्रमागत प्रहार सहते-सहते जिसके अन्तर्मन का सारा अहंकार धूल में मिल गया हो, सामाजिक नियन्त्रण-दग्धा, मर्यादा-प्रताड़ित वह प्रमुग्धा नारी अपना अन्तःकरण खोलकर कैसे दिखा सकती थी ?

एक मुस्कराहट में वह इस सारी घटना को जैसे आत्मसात् करके बोल उठी—"न जाने क्या बात है नयना, मुझे कभी-कभी ऐसा ही कुछ हो जाता है ? पहले भी एक-आध बार हुआ है। इसलिए जो कुछ हो गया, सो हो गया। इसके लिए मै तुम्हें कोई उपालम्भ न दूँगी।" फिर आलमारी की ओर देखती हुई बोली—"देखो, शायद दूध रखा हो ? आलमारी खोलो। चीनी और ओवलटीन भी उसी में होगा। दो प्याले बना लो।"

नयनतारा उठी और स्टोव जलाने के क्रम में हवा वाला हैंडिल चलाती बर्नर के चारों ओर आग की लपटें उभाड़ती कुछ स्थिर होती हुई बोली—"मैं तो राबर्ट ब्राउनिंग की—'लास्ट राइड टुगैदर' कविता सम्बन्धी अन्तकथा की व्याख्या तुमसे सुनने आई थी।"

फिर कुर्सी ग्रहण कर इतना और जोड़ दिया—"आज की यह घटना सौभाग्यसूचक है या दुर्भाग्यसूचक, मै नहीं जानती। निकट भविष्य में हम लोग बिछुड़ जायँगे, यह भी निश्चित है। पर साथ ही इतना और निश्चित है कि यह क्षण, यह घड़ी और तुम्हारी इस अद्‌भुत, मोहक रूपराशि के प्रति मेरे प्रथम प्यार का तुमसे प्राप्त यह प्रतिदान मुझे सदा स्मरण रहेगा।"

अर्द्धरात्रि के समय विजय बिहारी पंडित के यहाँ डाका डालकर लौट रहा था तब उसके मन में वह उत्साह न था जो आगमन की घड़ियों में था। सफलता उसे मिल गई थी यह ठीक है, पर यह भी ठीक है कि अकस्मात उसे वहाँ राजेश्वरी दिखाई पड़ गई थी। उसके प्रति जो ज्वाला उसके हृदय की भट्ठी में धधक रही थी, वह अब शान्त हो गई थी किन्तु अब

उसके मानस में कुछ नये प्रश्न भी उत्पन्न हो गये थे। सबसे पहला प्रश्न था, दो प्राणियों की हत्या का। इसमें सन्देह नहीं कि यह बात पहले से निश्चित हो गई थी—अगर कोई हमारे कार्य-क्रम में बाधा डालेगा तो बाधा के सन्देहमात्र पर हम उसे समाप्त कर देंगे—किन्तु जब उसने देखा कि एक लाश मकान के भीतर पड़ी है और दूसरी मकान के बाहर गली में तो उसे यह अनुभव हुआ कि विचार और व्यवहार में कितना अन्तर है। बचान सिंह के जो गोली लगी थी वह पीठ में थी, दाहिने कन्धे के नीचे, और मकान के बाहर की गली में झाँकने वाले आदमी के जो गोली लगी वह बगल के नीचे थी। दोनों को धराशायी और रक्त से लथपथ अवस्था में टार्च के प्रकाश से देखता हुआ जब वह बाहर निकलकर, आगे बढ़ रहा था, तब उसका एक बार विवेकशील मानवीय हृदय दहल उठा था।

लूट का माल लगभग बीस हज़ार का था। आठ भाग करने पर ढाई हजार रुपये का माल उसके हाथ आता था और यह वर्ष भर के लिए यथेष्ट था। यह भी सही था कि अब उसे एक वर्ष के भीतर अपनी माँ या बहन के आगे खर्चे के लिए हाथ बढ़ाने की ज़रूरत न रह गई थी किन्तु बारम्बार एक ही प्रश्न उसके भीतर से उभर उठता था कि आखिर इन मृतआत्माओं का अपराध क्या है?

कहने के लिए बहुत-सी बातें थीं, 'अपराध हो या न हो। मुझे तो अपने खर्चे के लिए रुपया चाहिये। जो लोग मारे गये हैं राष्ट्र के जीवन में उनका कोई महत्व नहीं है जबकि मेरे जीवन का बड़ा महत्व है। उनके जीवन का कोई मूल्य नहीं है, जबकि मेरे जीवन का बहुत बड़ा मूल्य है। और भी दूर जाकर सोचने पर कुछ स्वर भीतर से फूट निकलते हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर जीती है। अगर कुछ लोगों का जीवन, स्वार्थ, विश्राम, उनके केवल पेट भरने की अवस्थाओं का अस्तित्व नष्ट नहीं होता, तो फिर हम कैसे जीवित रहेंगे। हमारे जीवन-सौख्य का प्रत्यक्ष और मूल अर्थ यही तो है कि कुछ लोगों को कष्ट मिले। इन दशाओं में मैं कहाँ दोषी ठहरता हूँ?'

बिहारी पंडित के मकान के आगे बढ़ते ही विजय के मन में यह विचार आने लगे थे। पर जब तक आठों साथी पक्की सड़क पर खड़ी हुई कार

पर नहीं आ गये, तब तक किसी विषय में कोई विशेष बात नहीं हुई। गाड़ी ठाकुर कर्त्तारसिंह की थी, और उसका नम्बर भी कृत्रिम था। ड्राइवर तक को यह बात नहीं बताई गई थी कि हम कहाँ जा रहे है ? और किस उद्देश्य से ? जब यह लोग गाड़ी में बैठे तब कुछ साथियों ने काँना-फूँसी करना प्रारम्भ कर दिया--विजय बोला--"स्पीक इन इंगलिश ! प्लीज़।"

कैलाश ने उत्तर दिया--"एग्रीड सर।"

इस प्रकार अब सारी बातें अंग्रेज़ी भाषा में होने लगीं।

अब साथियों ने एक-एक करके आक्रमण की सभी दिशाओं के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की विवेचना करनी प्रारम्भ कर दी।

कैलाश ने कहा--"मुझे सबसे अधिक आश्चर्य्य इस बात का है कि एक अविवाहित मुग्धा नवयुवती उस घर में ऐसी मिल गई, जिसको विजय पहले से जानता ही न था बल्कि उसके साथ इधर कुछ दिनों से उसकी चल भी रही थी।"

रणधीरसिंह सिगरेट फूँकते हुए बोला--"अरे वही होगी राजेश्वरी।"

कैलाश ने उत्तर दिया--"और तारीफ़ की बात यह है कि चिड़िया चंगुल में आ जाने पर भी इस उल्लू से उड़ाते न बनी।"

विजय ने आवेश के साथ कह दिया--"बको मत कैलाश ! तुमको क्या मालूम कि हमारी लड़ाई का मूलाधार क्या था। मुझे रोना आता है। जब मैं यह सोचने लगता हूँ कि हमने उसे पराजित ज़रूर किया, लेकिन बुद्धि-बल से नहीं पशु-बल से।"

उसने जान-बूझकर यह नहीं कहा कि पिस्तौल की नोक से।

इसी समय घनश्याम तिवारी ने कह दिया--"मनुष्य चाहे जितना सभ्य हो जाय लेकिन पशुत्व उसका कभी जायगा नहीं और मरेगा तो कभी नहीं।"

विजय ने उत्तर दिया--"मैं इस कथन से सहमत नहीं हूँ।"

गाड़ी चली जा रही थी। अँधेरी रात में गाड़ी के आगे वाले प्रकाश के गोल शीशों के भीतर से दौड़ती हुई रोशनी में ड्राइवर ने देखा, आगे सड़क के दायें ओर एक सियार खड़ा हुआ था। रोशनी देखकर वह दो-चार गज उसी किनारे-किनारे आगे बढ़ा और फिर दाहिनी ओर झाड़ी में घुस

गया ।

विजय ने कह दिया—"मनुष्य पशु अवश्य है किन्तु वह बौद्धिक पशु है और यह तो कोई जवाब न हुआ कि अगर सीधे तौर से मेरी माँग पर नहीं झुकते तो फिर प्राणों से हाथ धोने के लिए तत्पर हो जाओ ।"

कैलाश बोल उठा—"हिंसा, हिंसा है, चाहे वह बौद्धिक हो चाहे पाशविक । ऐसा ही था तो आपको हमारे दल में सम्मिलित नहीं होना चाहिये था । हमें भय है कि विजय कोई ऐसी ग़लती न कर बैठें, जिससे आगे चलकर हमारा जीवन संकट में पड़ जाय ।"

विजय के मुँह से निकल गया—"ए ड्राइवर साहब ! गाड़ी खड़ी कर दीजिये ।"

सब लोग एक साथ चौक पड़े ।

रणधीर ने पूछा—"क्यों क्या हुआ ?" घनश्याम और त्रिलोकी एक साथ बोल उठे—"बात क्या है बतलाइये न ?"

ड्राइवर ने गाड़ी खड़ी कर दी ।

पहले उससे विजय उतरा फिर कैलाश । उसके बाद घनश्याम, रणधीर और त्रिलोकी ।

विजय सड़क के उस पार बाएँ ओर जाकर एक झाड़ी के अन्दर घुस गया । कैलाश ने पूछा—"क्या कहना है आपको ।"

विजय ने उत्तर दिया—"मैं बहस नहीं करना चाहता । आप अगर मुझ पर सन्देह करते है तो मुझे यहीं समाप्त कर दीजिये । मै मरने को तैयार हूँ । लेकिन हमने जो कुछ किया है उस पर मुझे बहुत खेद है । अगर हम मनुष्य को बुद्धि-बल से नहीं जीत सकते, तो हमारा मनुष्य होना व्यर्थ है । यह मेरा अटल विश्वास है और इसमें किसी प्रकार समझौता नहीं हो सकता । आपको मालूम होना चाहिये कि आदिम युग में मनुष्य को केवल तीन ही रोग थे—इच्छा, भूख और बुढ़ापा । किन्तु पशुता ने बढ़ाते, बढ़ाते इन रोगों की संख्या अट्ठानवे तक पहुँचा दी है । कमी केवल दो की रह गई है । अगर वे भी बढ़ गये तो मनुष्य फिर आदिम युग में चला जायगा । यह भगवान तथागत का वचन है ।"

कैलाश मुसकराने लगा और अपने अन्य साथियों की ओर देखता

हुआ बोला--"आप लोगों ने देखा, मैंने पहले ही कहा था कि ऐसे सनकी व्यक्ति को साथ में लेना कभी निरापद नहीं हो सकता।"

इतने में घनश्याम ने कह दिया--"पागल मत बनो! चुपचाप हमारे साथ कानपुर चलो। ऐसा ही है तो अब आगे किसी कार्य-क्रम में भाग न लेना। बस।"

विजय ने और भी दृढ़ता के साथ उत्तर दिया--"नहीं, नहीं, नहीं। आप मुझे यहीं छोड़ दीजिये। मैं कहीं भी चला जाऊँगा। माल सब कैलाश के पास है। आप लोग आपस में बाँट लीजियेगा। और यह लीजिये पिस्तौल, मुझे इसकी भी आवश्यकता नहीं।"

त्रिलोकी बोला--"अच्छी बात है कैलाश भाई। मैं इनके साथ रहूँगा। केवल एक छोटे भाई के नाते। माल सब लेते जाइये। बँटवारा फिर होता रहेगा। साधारण खर्चे के लिए मुझे पचास रुपये दे दीजिये।"

कैलाश बोल उठा--"ऐसा नहीं होगा। अब पहले बँटवारा होगा फिर हममें से कोई पृथक हो सकेगा।"

त्रिलोकी ने कह दिया--"जैसी आपकी मर्ज़ी।"

वहाँ कोई तराज़ू तो था नहीं। तब अन्दाज़ से रुपये और आभूषण के आठ भागकर लिये गये। जब सबने अपने-अपने भाग ले लिये तब त्रिलोकी ने कह दिया--"अब विजय भाई का भाग भी मुझ ही को दे दीजिये।"

त्रिलोकी ने पूछा--"क्यों विजय?"

इतनी देर में विजय ने सोच लिया था कि ले लेने में कोई हर्ज़ नहीं है। हम इसका और भी उत्तम उपयोग कर सकेंगे। उनके पास भला क्यों रखेंगे? खैर देखा जायगा। और उसके मुँह से निकल गया--"मुझे आपत्ति नहीं है।"

अन्त में ऐसा ही हुआ।

कैलाश, घनश्याम और रणधीरसिंह गाड़ी पर चले गये और त्रिलोकी तथा विजय उस अँधेरी रात में जिधर से आ रहे थे उसी दिशा की ओर मुँह करके खड़े हो गये। विजय ने पूछा--"अब?"

त्रिलोकी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया--"चिंता मत करो। यहीं

पास ही मेरी ससुराल है। श्रीमती जी वहीं हैं और चिरंजीव होने वाले हैं।"

विजय ने प्रसन्नता के साथ उत्तर दिया—"मैं यह सोच ही रहा था कि जब तुम मेरे साथ यहाँ ऐसे जंगल में रुक रहे हो तो इसका कोई-न-कोई आधार अवश्य होगा।"

त्रिलोकी के मुँह से निकल गया—"आधार कहो या अवलम्ब, मुझे सबसे बड़ा तुम्हारा है। अब मैं जीवन भर तुम्हारा साथ न छोड़ूँगा।"

विजय ने कह दिया—"तो फिर चलो, जहाँ चलना हो।"

थोड़ी दूर पर सड़क से मिली हुई एक पगडंडी मिली और दोनों उसी मार्ग पर चल दिये। आगे त्रिलोकी, पीछे विजय !

: १२ :

धीरे-धीरे फिर दिन उसी प्रकार कटने लगे, जैसे पहले कटते थे। फिर रातें वैसी ही शान्तिदायिनी होने लगी, जैसी पहले होती थीं। खाना सब लोग पेट भर खाने लगे और नींद भी सबको प्रेम से आने लगी। भेद अगर था भी, तो वह केवल मन में था। डाका पड़ा था बाहिरी मकान में, किन्तु स्त्रियाँ दोनों मकानों में बँटी हुई थीं। फिर जब डाके वाले घर के अन्दर आ गये, तब बाहरी मकान के आँगन की स्त्रियाँ भी भीतरी मकान में चली गई थीं। राजेश्वरी मात्र ऐसी थी, जो भीतरी मकान में न पहुँच पाई थी।

इसका भी एक कारण था। बाहरी मकान अभी नया था। उसका एक कमरा तो बिल्कुल पक्का बना हुआ था। और राजेश्वरी की बैठक उसी में रहा करती थी। उसी में अन्दर की ओर एक कोठरी थी, जिसमें उसके कपड़े दो ट्रंकों में रक्खे हुए थे। उस समय तक ऐसे विशेष आभूषण उसके पास न थे। कानों के बुन्दे, झुमके, टाप्स और गले में सोने की जंजीर। हाथों में कोई भी आभूषण वह न पहनती थी। एक हाथ में कुछ चूड़ियाँ रहतीं, दूसरी में घड़ी। तब तक भीतरी मकान में वह केवल इस विचार से न जा सकी थी कि इस मकान में रक्खा ही क्या है जो वे लोग इसी में आयँगे। कदाचित् इस विचार में यह भावना भी निहित रही होगी कि मेरे पास ऐसा है ही क्या, जिसके लिए मुझे किसी प्रकार के भय की आशंका हो।

इस परिस्थिति के कई पक्ष थे। एक था यह कि जो वार्तालाप राजेश्वरी और विजय के बीच हुआ, उसे केवल गिरधारी की दुलहिन ने सुना था। यद्यपि पूरा-पूरा वह भी सुन न पाई थी। और जब विजय ने कमरे का दरवाज़ा बन्द कर लिया तब तो कोई बात स्पष्ट रूप से सुनाई ही नहीं पड़ी थी।

यह सब कुछ था, किन्तु, गिरधारी की दुलहिन इतना तो जान ही गई थी कि डाकुओं के दल का यह नवयुवक, राजेश्वरी से केवल पूर्व परिचित ही नहीं, वरन् अत्यधिक असंतुष्ट भी है। दोनों के बीच में कोई ऐसी ग्रन्थि पड़ गई है, जो खोलने से न खुलती है, न शिथिल होती है। और राजेश्वरी के विषय में तो यह सर्वविदित था कि उसे गर्व बहुत है। वंश-गत कुलीनता का, शिक्षा और आभिजात्य का। सदा ऐंठकर चलना, ढेले का जवाब पत्थर से देना, उसका स्वभाव है। ऐसी दशा में गिरधारी की दुलहिन का यह सोचना बिलकुल स्वाभाविक था कि इस डाके का मूल आधार धन नहीं, प्रतिशोध है।

कुछ बातें तो कौशल्या के कान में भी पड़ गई थीं। इतना वह जान गई थी कि इस लड़के के साथ राजेश्वरी का कोई झगड़ा अवश्य रहा होगा।

कौशल्या की इस भावना को गिरधारी की दुलहिन से बल मिला था। किवाड़ों के बीच वाली साँस से उसने जो बातें सुनी थीं, धीरे-धीरे एक-एक करके, उसने उन्हें सारी बातें बता दी थीं। यह बतला दिया था कि राजे-श्वरी ने उसके समक्ष रोकर, हा-हा खाते हुए, छोड़ देने की प्रार्थना की थी। कहा था, "मुझे बहन समझकर ही छोड़ दीजिये।--इसके उत्तर में उस आदमी ने गजकर कहा था--क्यों छोड़ दूँ ? आज भैया बनाने चली हो। और उस समय मैं भालू हो गया था !--कहा था--तुम तो कालेज में पढ़ती हो, तुम्हारी यही सभ्यता है कि किसी से सीधे मुँह बात न करो !--और अन्त में यह भी कहा था कि अच्छा जाओ छोड़ता हूँ।"

गिरधारी की दुलहिन ने जो कुछ कहा था, ठीक कहा था। केवल एक बात वह कहने से चूक गई थी। वह यह कि जिस रूप का तुमको इतना अधिक गर्व है, प्रतिशोध के इस क्षण में --देख लो--उसकी क्या स्थिति है, अनाश्रित और दयनीय।

यहाँ तक तो हुई गिरधारी की दुलहिन के ज्ञान की बात। कुछ बातें ऐसी भी थीं, जिनका न उसको ज्ञान हो सका था, न राजेश्वरी के अतिरिक्त किसी अन्य को।

पहली बात तो यह थी कि टार्च के प्रकाश में राजेश्वरी की पहली

झलक पाते ही उस डाकू ने एक ही झटके में कंचुकी और ब्लाउज फाड़ डाला था। उसको इस बात का भी ज्ञान न था कि उसने राजेश्वरी को आलिंगन में बाँधकर उसे लगातार तीन बार चूम लिया था। राजेश्वरी ने भी उस कंचुकी और ब्लाउज़ के क्षत-विक्षत और छिन्न अस्तित्व को सदा के लिए छिपा दिया था। खुले हुए द्वार को तुरन्त बन्द कर उसने सबसे पहला काम यही किया था कि एक ट्रक खोलकर कंचुकी और ब्लाउज़ बदल लिया था। उनको पहनते समय भी वह यही सोच रही थी कि अब इस बात को कोई जान न सकेगा। किन्तु उसके मन की स्थिति बहुत गिरी-गिरी-सी, मरी-मरी-सी हो गई थी। इस सीमा तक कि दिन का दिन बीत जाता किन्तु मुस्कान और हास्य की एक झलक भी कभी किसी को न मिलती। घर के लोग कभी सीधे रूप से और कभी प्रकारान्तर से यह जानने की चेष्टा अवश्य करते कि वह बिगड़ किस बात पर रहा था? क्या वह तुमको पहले से जानता था? राजेश्वरी अन्तर्मन से इस बात को छिपाना चाहती थी। उसने उत्तर भी यही दिया था कि मेरा कोई परिचय न था। किन्तु जब राजकिशोर की दुलहिन ने संदेह किया और स्पष्ट कहा कि बिटिया तुम बतलाओ चाहे न बतलाओ, पर, ऐसा कभी हो नहीं सकता कि एक अपरिचित आदमी इस तरह आँखें दिखाये, डाँटे और घुड़कियाँ दे।

भाभी की इस बात के उत्तर में राजेश्वरी ने कह दिया—"तुम्हीं पर कभी कोई आदमी लट्टू हो जाय और समय-असमय तुमसे अपने आप बात करना प्रारम्भ कर दे, तो इतनी-सी बात में वह तुम्हारे लिए सुपरिचित हो जायगा?"

यह एक ऐसी अभिव्यंजना थी, जिसका एक रूप यदि निषेधात्मक था, तो दूसरा निश्चयात्मक। निषेधात्मक इस रूप में कि इसमें प्रथम और प्रतिकूल पक्ष की प्रेरणा मात्र का परिचय मिलता है, जिसका आधार केवल प्रभाव और आकर्षण है। और निश्चयात्मक इस रूप में कि बिना किसी संयोग के किसी व्यक्ति का ऐसा साहस ही कैसे हो सकता है। और वस्तुस्थिति तो वास्तव में यह थी ही कि राजेश्वरी इस बात से इनकार नहीं कर सकती थी कि वह उससे परिचित है।

इस प्रसंग को लेकर फिर एक साथ कई प्रश्न उठ खड़े हुए। सारी बातें सुन और समझकर राजकिशोर की दुलहिन का कहना था कि अभी तो यह प्रारम्भ की बात है। कौन जाने, वह भविष्य में क्या न कर बैठे! लेकिन इस दुर्घटना ने उसका सारा क्षोभ शान्त कर दिया है। इसलिए यह सोचा जा सकता है कि संभव है, अब वह आगे, कोई अनिष्ट न करे।

गिरधारी बाबू के विचार, इस विषय में बहुत ही उग्र और प्रतिशोध-पूर्ण थे। उनका कहना था कि अब इस मुकदमे को अन्त तक लड़े बिना मैं मानूंगा नहीं। चाहे मेरे घर में एक पाई न रह जाय, घर छोड़कर बाहर ही क्यों न चला जाना पड़े। जब तक अपराधी को सज़ा नही मिलती, तब तक ज़िन्दगी में कोई मज़ा नहीं। जिस तरह राजेश्वरी ने रो-रोकर उससे धर्म-रक्षा की भिक्षा माँगी है उसी तरह, घुटने टेककर, हाथ जोड़कर, हा-हा खाते हुए उससे एक नही, दस बार क्षमा मगवाऊँगा। फिर भी, मेरे हृदय की ज्वाला शान्त न होगी और मैं चाहूँगा कि किसी ओर से उसे क्षमा न मिले।

दोनों विचारों की यह समानान्तर रेखाएँ अपनी जगह पर स्थिर थीं। चाचा का विरोध देखकर राजकिशोर यदि कुछ न कहता तो भी गनीमत थी। पर धन-सम्पत्ति की हानि एक ऐसा विषय था कि जिसमें मध्यम मार्ग सम्भव न था। अभियोग तो चलाना ही पड़ेगा। चारों ओर की बातें सोचकर अन्त में उसे इसी निष्कर्ष पर आ जाना पड़ता। कौशल्या और गिरधारी की दुलहिन दिन भर दो-चार बार यह कहे बिना न मानतीं कि अब चाहे जैसे हो, जहाँ से हो, विवाह तो राजेश्वरी का तुरन्त ही कर देना चाहिये। राजकिशोर का इस विषय में कहना था कि विवाह हम अपने सुल्तानपुर से करेंगे। किन्तु गिरधारी इसके भी विरुद्ध थे। उनका कहना था कि ऐसा तभी हो सकता है जब हम गाँव छोड़ दें। जब हमको गाँव में रहना है तब विवाह भी हमको यहीं से करना पड़ेगा।

कौशल्या यह तो चाहती थी कि विवाह गाँव से ही हो, किन्तु उसके मन में एक भय समाया हुआ था। 'कहीं ऐसा न हो कि विवाह के समय कोई व्यक्ति समधी के कान में उल्टी-सीधी बातें जड़ दे, जिसका परिणाम यह हो कि बरात लौट जाय! इसलिए उसकी इच्छा थी कि यह विवाह कानपुर

से हो। किसी भी प्रकार के संकट को सह सकने की शक्ति अब उसमें न रह गई थी।'

यह घटना अगस्त के महीने में हुई थी, जब प्रायः सभी लोग बाहर सोया करते हैं। कमरे और कोठरियाँ बन्द रहती हैं। पर अब दिवाली के दिन निकट थे। राजेश्वरी का पढ़ना छूट गया था। एक दिन राजकिशोर ने सुल्तानपुर से लौटकर कहा—"सी० आई० डी० वालों ने कही एक बैग पड़ा पाया है, जिसमें एक परचा मिला है। परचे में कुछ गहनों की सूची दी हुई है। जिसके आगे धरम-काँटे की तोल लिखी हुई है। हमारे यहाँ के थाने में चाचा ने जो सूची बनवाई थी उसका एक तिहाई भाग उस सूची से मिल जाता है। यह परचा जिस दूकान का है वहाँ पुलिस जाँच के लिए गई थी। उस फर्म का नाम है—'रामनारायण श्यामनारायण'। राम-नारायण बाबू के चिरंजीव गोबिन्द नारायण उस दूकान के मालिक हैं। गहने तो सब फौरन गला डाले जाते है। इसलिए गोबिन्द नारायण बाबू अभियोग में तो शामिल किये नहीं जा सकते। लेकिन उन्होंने उस आदमी का पता दे दिया है जो इस माल को उनके यहाँ बेच गया था। अब तक इन सारी बातों में कोई दम न था। पर सिर्फ़ एक बात ने इस मामले में जान डाल दी है। माल बेचने वाला कैलाश बिहारी बम्बई चला गया है, जहाँ उसका कोई पता नही चल रहा है।"

सारी बातें सुनकर गिरधारी ने कह दिया—"पता चलेगा। इसी कैलाश बिहारी के नाम तुम वारण्ट निकलवाओ।"

बिहारी पंडित का सारा दृष्टिकोण ही उस दिन से बदल गया था। पूजा-पाठ यथाक्रम चल रहा था लेकिन, अब उसमें मन नही लगता था। सारी बातों का समाधान उन्हें मिल जाता था। केवल एक बात का न मिलता था। और वह बात थी—'ये भगवान के भक्त ही सबसे अधिक दुखी क्यों रहते है? प्राणान्तक पीड़ाओं से भरी दुर्घटनाएँ तक उनके यहाँ होती हैं! गाँव के लोग ही ईर्ष्या-द्वेष में पड़कर भले घरों का भेद ऐसे लोगों के पास पहुँचा देते है जिनका काम ही है—लूटमार करना। और यह गाँव के ठाकुर गेंदासिंह यहाँ मेरे दरवाज़े बैठकर यहाँ तक कह जाते हैं कि चलो, यह बहुत अच्छा हुआ कि बहू-बेटियों का धर्म बच गया।'

और ठाकुर गेंदासिंह की इस प्रकृति से सभी लोग परिचित थे कि उनकी बातों का अर्थ भीतर से सदा प्रतिकूल होता है।

इन्हीं सब बातों का परिणाम यह हुआ कि बिहारी पण्डित के जीवन में अब कोई उत्साह न रह गया था। काया कृश होती जाती थी। जोर से बोलना, नौकरों को डाँटना, पास-पड़ोस वालों के आ जाने पर आदर से बैठालकर उनके साथ घुल-मिलकर बातें करना अब बिल्कुल बन्द हो गया था। अब तो वे केवल उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे जब राजेश्वरी का ब्याह हो जायगा और वह सदा के लिए दूसरे घर की हो जायगी। महीनों तक यह स्थिति रही कि वह राजेश्वरी का दुःख-सुख पूछना भी भूले रहे। अब वह छुट्टियों में घर आ गई थी और कभी दिखाई भी पड़ जाती थी। दूध का गिलास हाथ में लेकर सामने खड़ी हो जाती, खाना खाने से इंकार कर देने के पश्चात् उन्हें मनाने आ जाती, कहने लगती—"खुलकर भूख नहीं लगी तो न सही, जैसे कुछ थोड़ा-बहुत खाया जाय उतना ही खा लेना। चलो, चलो बाबू!"

तब बिहारी पण्डित राजेश्वरी के मुख की ओर एकटक देखते रह जाते। एक बार तो उनके मन में आया, 'कह दूँ कि अगर तुम पैदा ही न हुई होतीं तो बड़ा अच्छा होता!' पर उन्होंने ऐसा कुछ कहा नहीं। मानो उनकी अपनी ही अन्तश्चेतना ने मुँह पर थप्पड़ मारकर कह दिया हो—'यह तुम सोच रहे हो बिहारी पण्डित! जिसने उसे जन्म दिया है। सृजन के प्रति क्षोभ प्रकट करने से पहले दर्पण में अपना मुँह क्यों नहीं देखते?'

इस प्रकार बिहारी पण्डित भीतर-ही-भीतर अपने आपसे ही सदा झगड़ते रहते थे।

उस दिन शायद धनतेरस थी। अचानक आ पहुँचे सोने पण्डित। चरण-स्पर्श के पश्चात् क्षेम-कुशल की बात हुई। सोने पण्डित ने देखा उसके पश्चात् दादा कुछ खुले नहीं। तब सहसा उन्हें ध्यान हो आया 'जान पड़ता है, डाके ने ही इनकी यह हालत बना दी है।' बोले—"दादा, मैं मौक़े पर तो नहीं आ सका। पर मुझे दुःख बहुत हुआ। सुना, धनहानि तो इतनी अधिक हुई है कि सम्भव है कई वर्ष तक सिर उठाने की भी शक्ति न रहे।···

बिहारी पण्डित ने उत्तर में केवल इतना कह दिया—"यह दुनियाँ अब हमारे जैसे लोगों के रहने योग्य रह नहीं गई बेटा। राजेश्वरी के विवाह तक अटका हूँ। उसके बाद····

कथन बीच में ही कट गया। क्योंकि उसके बाद निःश्वास ने मुँह बन्द कर दिया।

सोने पण्डित घर से विशेष प्रीति न रखते थे। उनका अधिकांश समय घूमने-फिरने में व्यतीत होता था। बड़े भाई से उनका यह समझौता हो गया था, कि वह काम करें चाहे न करें, डेढ़ रुपया रोज़ हमसे लेते जायँ। इस प्रकार मार्ग-व्यय के लिए पैंतालिस रुपया मासिक सोने पंडित के लिए यथेष्ट था। जहाँ कहीं जाते, एक दिन के स्थान पर दो दिन लग ही जाते। अगर कोई कार्य निकल आता, तो दो-चार दिन से लेकर दस-बीस दिन पार करने में क्या लगता था। और नातेदारियों का सिलसिला कुछ इस प्रकार का था कि आना-जाना बना ही रहता था। सोने पंडित की प्रकृति कुछ इस प्रकार की थी कि कोई भी समस्या उनके सामने उपस्थित कर दी जाय, तो पूर्ति का साधन उनके प्रबुद्ध मानस से तुरन्त निकल आता था।

वे नौकरी दिला सकते थे। बड़े-से-बड़े और भयानक रोगों की दवा करवा सकते थे, इस वचन के साथ कि इसको ठीक होने में क्या लगता है! मुश्किल से दस-पाँच दिन लगेंगे। खेत-पाँत हों कि गाय भैंस, रिक्शा हो कि इक्का-ताँगा, चारा काटने की मशीन हो कि बैलगाड़ी, संकट के समय बिकवा देना उनके बाएँ हाथ का खेल था। भाई-भाई या चाचा-भतीजे में झगड़ा हो गया हो, यहाँ तक कि जान जोखिम की नौबत आ गई हो, सोने पंडित को तार देकर बुला लीजिये, दो-चार दिन उनको आदर-पूर्वक रखिये; इसी बीच में सन्धि हो जायेगी। टूटे हुए हृदय मिल जायेंगे और आपको ही ऐसा प्रतीत होगा कि सोने पंडित आदमी नहीं जादूगर हैं।

बिहारी पंडित की बात सुनकर सोने पंडित ने उत्तर दिया—"अच्छी

बात है दादा। राजेश्वरी के लिए वर मैं आपको दूंगा।"

उनका इतना कहना था कि बिहारी पंडित बोल उठे—"कहीं ऐसा हो जाय तो बेटा मै जी जाऊँ नहीं तो अब जीने में कोई रस नहीं रह गया है।"

सोने पंडित बोले—"दादा, शायद आपको एक बात नहीं मालूम।"

"वह क्या ?"

"मै कभी झूठ नही बोलता। राजेश्वरी के लिए वर मैं जल्दी-से-जल्दी तय कर दूंगा और होली के पहले-पहले यह ब्याह होकर रहेगा।"

बिहारी पण्डित का हाथ तुरन्त धोती की मुर्री पर जा पहुँचा। बोले—"तो फिर ऐसा करो कि जहाँ कहीं पूँछ-ताँछ करनी हो, वहाँ चले ही जाओ। आज कौन दिन है ? सोमवार ही है न ?"

"हाँ दादा सोमवार ही है।"

"आज तो पूर्व दिशा की ओर दिग्शूल है और कल है चतुर्दशी। अच्छा तो ऐसा करो कि द्वितीया को चले जाओ। तब तक रहो प्रेम से। लड़का कैसा है, इस विषय में घर के लोगों से भी सलाह कर लो। और देखो, खर्च-पात के लिए रुपये रख लो।"

सोने पंडित बोले—"दादा, रुपयों की अभी जरूरत क्या है ?"

"है ज़रूरत। मै जानता हूँ। चुपचाप ले लो। बहस मत करो।"

सोने पंडित ने रुपये गिने, तो वे बीस निकले।

तब बिहारी पंडित ने कह दिया—"चलते समय और ले लेना।"

यह बातें हो ही रही थीं कि गिरधारी आ गये। सोने पंडित ने जो उनके पैर छुए तो गिरधारी ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"चलो पहले भीतर चलो, फिर सब बातें होंगी।"

सोने पंडित ने गिरधारी के कंधे पर हाथ रखकर अन्दर जाते-जाते धीरे से कह दिया—"लड़का मेरा देखा और जाना-समझा हुआ है। भगवान चाहेगा तो कार्तिक की पूर्णिमा तक मैं सब तय करवा दूंगा।"

गिरधारी बाबू बोले—"बस-बस, भाभी के सामने होते-होते तुम सबसे पहले यही बात कह देना—अच्छा!"

सोने पंडित ने हँसते-हँसते उत्तर दिया—"अरे, तुम कहो तो लड़के को यहीं बुला दूं। तुमने मुझे समझा क्या है ?"

राजकिशोर की दुलहिन आँगन में बैठी हुई एक ब्लाउज सी रही थीं कि झब्बू आकर कहने लगा—"छोनी ने अमाले आती ती छूँड़ उथाल दाली है" और कथन के साथ माँ के सिर पर हाथ रखकर उसे हिलाता हुआ कहने लगा—"अम्माँ-अम्माँ, अम्माँ, ताये उथाल दाली है !"

राजेश्वरी ने जो देखा, तो उसको ऐसी प्यारी बात सुनकर उसे गोद में उठा लिया, चुम्मी ली और पूछा—"तुम्हारे हाथी की सूँड़ उखाड़ डाली है ?" प्रश्न के साथ फिर उसको चुम्मी ली और कह दिया—"हम उसको जुड़वा देगे । अच्छा !"

इतने में हाथ-मुँह में दाल लगाये हुए सोनी ने आकर कहा—"दादा ने अमाले घोले की पूँथ उथाल दाली, अमने उनते आती की छूँल उथाल दाली ।"

सोनी की इस बात को सुनकर राजेश्वरी हँस पड़ी । बोलीं—"सुनते हो झब्बू, दीदो क्या कह रही है ? तुमने उसके घोड़े की पूँछ उखाड़ डाली तो उसने तुम्हारे हाथी की सूँड़ उखाड़ डाली ।"

इधर यह अभियोग चल रहा था । उधर बिहारी उधर पंडित हथेली पर तम्बाकू मलते-मलते कह रहे थे ।—"दोनों की भेंट करा देने में मुझे और कोई आपत्ति नहीं है । सिवाय इसके कि मैं पति होने वाले किसी भी छोकरे को यह अधिकार देना स्वीकार नहीं करता कि वह मेरी राज को देख लेने के बाद किसी भी आधार पर उसे अस्वीकार कर सके । बल्कि मैं चाहता तो यह हूँ कि दोनों में से कोई यह न भाँप सके कि उनके इस वार्तालाप का कोई प्रयोजन भी है ।"

बिहारी पण्डित के उस कमरे में उस समय कई व्यक्ति बैठे हुए थे । एक थे पण्डित सोने लाला, जो पड़ोस में ही रहते थे और गाँव के पुरोहित थे । बिहारी पण्डित के हाथ से तम्बाकू की चुकटी लेकर नीचे वाले होंठ के भीतर रखते हुए बोले—"ऐसा कैसे हो सकता है भैया ? जब लड़के ने यह शर्त कर ली है कि वह अपना जोड़ स्वयं पसन्द करेगा, तब उसको सदा यह अधिकार रहेगा कि चाहे वह 'हाँ' करे, चाहे 'ना' । और

यह तो वह सोचकर ही आयेगा कि मैं लड़की देखने के लिए भेजा गया हूँ।"

दूसरे थे ग्राम-पञ्चायत के सभापति बलबीर सिंह! उन्होंने कहा—"और लड़की भी यह सोचकर उसके सामने जायगी कि उसके रूप और गुण की परीक्षा का यही एक अवसर है। और यह तो आप जानते ही हैं कि परीक्षा आखिरकार परीक्षा ही होती है। परीक्षार्थी या तो पास हो जाता है, या फ़ेल।"

राजकिशोर बाबू कुर्सी पर बैठे हुए थे। यकायक उठ खड़े हुए और बोले—"बाबू इसमें बुरा मनाने की बात नही है? देखने का मतलब तो यही होता है।"

बिहारी पण्डित का चेहरा तमतमा उठा। उन्होंने झट से कह दिया—"तब यह विवाह न होगा। जो लड़का विवाह के सम्बन्ध में माता-पिता के आश्वासन पर विश्वास नहीं करता, मैं उसके चरित्र पर अविश्वास करता हूँ। उसकी आसक्ति रूप पर है, गुणों पर नहीं। राजू, तुम उनको साफ़ जवाब दे दो कि लड़की को देखने का अधिकार मैं लड़के को कदापि नहीं दे सकता।"

बिहारी पण्डित का इतना कहना था कि बलबीर सिंह बोल उठे—"इस तरह काम न बनेगा ददुआ। इसके लिए कोई सुगम उपाय निकालना पड़ेगा, जिसमें अपनी शोभा भी रह जाय और कार्य भी सिद्ध हो जाय।"

इसी समय राजकिशोर बाबू बोल उठे—"हाँ बाबू, ठीक तो है। बलबीर भैया बिलकुल ठीक सुझा रहे हैं। इसके लिए अगर एक अवधि दे दी जाय तो कोई-न-कोई सुगम मार्ग निकल ही आयेगा।"

सोने लाला बोल उठे—"हाँ, हो, ठीक तो है। पास-पड़ोस में जब कोई काम-काज हो, तब दोनों को एक दूसरे से परिचित होने का अवसर दिया जा सकता है। काम-काज में हमारे घरों की लड़कियाँ पास-पड़ोस के घरों में जाया ही करती हैं। मैं इसमें कोई बुराई नहीं देखता।"

किन्तु बिहारी पण्डित ने स्पष्ट कह दिया—"मेरी राज बैठी रहेगी, पर इस प्रकार के परिचय के निमित्त मैं किसी व्यक्ति के घर में उसे पैर न रखने दूंगा।"

"बाबू, तुम इधर आओ। हमारी बात सुनो," राजकिशोर बाबू ने

उनको एकान्त में ले जाकर समझाने की चेष्टा करते हुए कहा, "बाबू, तुमको कुछ मालूम नहीं है। बने-बनाये काम में तुम बेकार ही विघ्न डाल रहे हो। जिस लड़के की बात चल रही है, वह पहले से ही गाँव से सम्बन्धित है। आपको मालूम ही है कि मुरारी बाबू की लड़की माधुरी का विवाह तय हो गया है और यह लड़का ब्रजमोहन, मुरारी बाबू के छोटे भाई बनवारी बाबू के साढ़ू हरिमोहन का पुत्र है। ऐसी दशा में इसी विवाह में इस लड़के को निमंत्रित करके बुला लेने में क्या हर्ज है? ऐसे निमन्त्रणों में घर के लड़के सदा सम्मिलित हुआ करते हैं।"

इतने में सोने लाल ने चारपाई से उठते-उठते कह दिया—"हाँ भैया ऐसा ही करो। काम बन जायगा। मेरा ब्रह्म बोलता है।"

इस प्रकार बिहारी पंडित को मानना ही पड़ा। बोले—"हाँ यह बात तो कुछ समझ में आती है।" कथन के साथ चुप रह गये और एक निश्वास लेकर मन-ही-मन कहने लगे—'जब तक विवाह नही हो जाता, न जाने क्या-क्या करना पड़ेगा?'

रात हुई। बारह बजे।

"सुनती हो राज की अम्माँ" चारपाई से उठकर मुट्ठियाँ बाधे, दाँत किटकिटाते हुए बिहारी बोले—"विवाह हो चाहे न हो, मैं अपनी मान-मर्यादा भंग न होने दूंगा। मेरी लड़की विवाह होने से पूर्व किसी छोकरे की शकल न देखेगी। चाहे वह भगवान रामचन्द्र की संतान ही क्यों न हो। मैं ब्राह्मण-संतान हूँ। मर जाऊँगा तब मेरा कर्म और मेरा धर्म ही साथ जायगा। मैं लानत भेजता हूँ ऐसी दुनियाँ पर। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सनातन से चली आई सामाजिक परम्परा को कदापि न तोड़ूंगा।"

कौशल्या एकदम से घबड़ाकर उठ बैठी। चारपाई से उतरते-उतरते उसके हाथ-पैर काँपने लगे। बोली—"धीरे बात करो, धीरे बात करो। राज जग पड़ेगी तो क्या कहेगी? तुम्हारे मन की इस हालत को देखकर कितना दुःख होगा उसको?"

बिहारी बाबू एकदम ठंडे पड़ गये। नितान्त दयनीय बनकर मन्द से भी मन्द स्वर में उन्होंने उत्तर दिया--"यह तुमने ठीक कहा।" और इतना कहते-कहते स्वर फिर थोड़ा तीव्र हो उठा--"मगर मैं करूँ क्या राज की अम्माँ ? तुमको पता नहीं कि मेरे भीतर कितनी ज्वाला धधक रही है। बच्चे पैदा हों, तो बीस झंझटें न पैदा हों, अब बदनामी सहो समाज की और बुढ़ापे में कपार पर हाथ धरकर रोओ। बच्चे पैदा करो तो उनको पढ़ाओ-लिखाओ। पहले उनको परीक्षा में पास करवाओ और जब ब्याह का अवसर आये तो उसे परीक्षा में बैठाकर खुद परीक्षा दो।"

अब स्वर और तीव्र हो उठा--"तो हम जिन्दगी भर परीक्षा ही देते रहेंगे ? लानत है ऐसी ज़िन्दगी पर। मैं कल ही उनको तार दे दूंगा कि अगर दिमाग सही है तो पता लगा लें लड़की कैसी है ? हम लड़की दिखाने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं हैं।"

गरज उठे बिहारी पण्डित। राजेश्वरी की माँ अत्यन्त चिन्ता में पड़ गई। सोचने लगीं--'अगर इनका यही हाल रहा तो यह नैया पार लगेगी कैसे ? पहले खुद ही दरवाज़े से सलाह करके भीतर आये फिर समझाया कि लड़की दिखानी पड़ेगी तरकीब से और सब कुछ कहने के बाद अन्त में कह दिया कि किसी से कहना नहीं, और अब हालत यह है कि बके जा रहे हैं। मैंने कहा, धीरे-से बात करो तो एक-दो बात धीरे से की और उसके बाद फिर गरजने लगे।'

तब विवश होकर वह बोलीं--"देखो राज के बाबू, राज बैठी तो रहेगी नहीं। ब्याह तो उसका होगा ही। लेकिन मुझे डर है कि कहीं ब्याह के पहले तुम पागल न हो जाओ।"

बिहारी पण्डित टहल रहे थे कि कमरे में दोनों हाथ बाँधे हुए पुनः खड़े हो गये। बोले--"अच्छा ! अब मैं तुम्हारी ही बात मानूंगा। किसी से कुछ नहीं कहूँगा। ज़ोर से नहीं बोलूंगा। भीतर जो भट्टी जल रही है उसको जलने दूंगा। मगर एक बात तुम भी याद रखना--मेरी लड़की को देखने के बाद भी अगर लड़के ने यह कह दिया कि लड़की पसन्द नहीं है तो पहले उसको मार डालूंगा फिर उसके बाद खुद मर जाऊँगा। बस जाओ, तुम भी आराम से सोओ और मैं भी आराम से सोता हूँ।"

जिस समय पति-पत्नी में बातें चल रही थीं उस समय राजकिशोर अपनी पत्नी से कुछ मन्त्रणा कर रहे थे। यकायक पिता का तीव्र गंभीर रौद्र रूप और स्वर का गुरुत्व अनुभव कर कहने लगे—"मुझे इस विवाह में सबसे अधिक डर इसी बात का है कि बीच में बाबू कहीं बिगड़ न उठें। जब उनको क्रोध आता है। तब उन्हें अवसर और पात्र का ध्यान नहीं रह जाता। और अभी तो बात ही केवल चल रही है, विवाह का श्री गणेश भी नहीं हुआ है। कौन भगवान पार करेगा?"

यकायक उनको कुछ ऐसा मालूम हुआ कि कहीं कुछ गिरा है। लालटेन की बत्ती ऊपर उठाकर वे जब कमरे के द्वार पर आये तब पता चला कि राज टेबिल पर बैठी हुई कुछ लिख रही है।

: १३ :

कई मास बीत गये। तब एक दिन अकस्मात् शिवमोहन ने आकर कहा--"अरे बिरजू, तुम तो बिल्कुल निश्चिन्त बैठे हो ! पर आज तुमको अपने बनवारी मौसिया के यहाँ निमन्त्रण में जाना है ?"

"तो क्या आज ही जाना है ?"

"और कब जाओगे ? आज ही तो उनके यहाँ बरात आने को है।"

"अच्छा, अभी तैय्यार होता हूँ।"

शिवमोहन चले गये। ब्रजमोहन ने कह दिया--"तुम्हारा क्या कार्य-क्रम है ?"

विजय ने उत्तर दिया--"मेरा कोई कार्य-क्रम नहीं है। सारे कार्य-क्रम उन्ही लोगों के पूरे होते है जो वचन निभाना नहीं जानते, जिनकी बात का कोई निश्चय नही होता; जिनके वचन का कोई मूल्य नहीं होता।"

ब्रजमोहन की भौहे सिकुड़ गई। बोल उठा--"क्या बकते हो विजय ?"

विजय उठ खड़ा हुआ और तनकर बोला--"मैं बकता हूँ ? तुमको शर्म नहीं आती ? पी० सी० एस० की परीक्षा में बैठने के लिए तुमने मुझे परीक्षा-शुल्क देने का आश्वासन नहीं दिया था ? एक-दो बार नहीं, तुमने पचास बार मुझे झूठे आश्वासन दिये। मैने सदा तुम पर भरोसा किया। इसी कारण आज मैं कहीं का न रहा। तुम जाओ, बरात करो; आँखें लड़ाओ। मेरा कार्य-क्रम क्या पूंछते हो ?"

ब्रजमोहन व्यावहारिक था, बुद्धिवादी भी था। पर साथ-ही-साथ वह सहृदय भी था। वचन के प्रति उसके मन में वैसी ही ममता रहती थी जैसी किसी माँ की अपने बच्चे पर रहती है।

इसका एक कारण था। ब्रजमोहन महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। सर्वत्र उसकी प्रशंसा होती रहे; सभी मिलने-जुलने वाले उसकी सराहना करते रहें, इस प्रकार की इच्छा अब उसके लिए एक दुर्बलता बन गई थी। अतः

उसने कह दिया—"देखो भाई विजय, अब तक जो कुछ हुआ सो हुआ, पर अब मैं तुमको कोई कष्ट न होने दूँगा। तुम चलो, मेरे साथ चलो। जैसे मेरी मौसी वैसी तुम्हारी मौसी।"

विजय ने उत्तर दिया—"नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।"

ब्रजमोहन नहीं माना। बोला—"नहीं तुम्हें चलना ही पड़ेगा। विश्वास रखो, तुमको वहाँ कोई कष्ट न होने पायेगा। मैं जो साथ में रहूँगा। उठो, जाओ और तुरन्त तैयार होकर आओ।"

विजय उठकर चला गया और ब्रजमोहन विचार में पड़ गया—'कुछ भी हो, विजय कहता सही है। जब तक कोई आदमी बज्र की तरह कठोर नहीं हो जाता, तब तक वह कोई त्याग भी नहीं कर सकता।'

ब्रजमोहन अपनी तैयारी में लग गया।

थोड़ी देर में सवारी दरवाजे पर खड़ी थी। ब्रजमोहन का सामान लद गया, परन्तु विजय नहीं आया। उसे बुलाने के लिए जो आदमी भेजा था उसने लौटकर बताया कि वे घर में नहीं हैं।

ब्रजमोहन सोचने लगा—'मैं तो जानता था कि वह कभी नहीं आयेगा। बड़ा स्वाभिमानी आदमी है। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि भैया मौसी के यहाँ स्वयं क्यों नहीं गये? मुझे भेज रहे हैं?'

ब्रजमोहन जब स्टेशन पर पहुँचा, तो कुली ने सामान सिर पर रखते-रखते कह दिया—"गाड़ी तो आ गई बाबू!"

"मगर अभी तो मुझे टिकट भी लेना है।"

"तो फिर जल्दी कीजिये।"

ब्रजमोहन ने सोचा—'सेकन्ड क्लास का टिकट ही क्यों न ले लिया जाय?'—और वह झट से आगे बढ़कर दूसरे दर्जे का टिकट ले आया।

टिकट हाथ में लिये बाक़ी पैसे जेब में डालता हुआ वह आगे बढ़ ही रहा था कि एक महाशय ने सामने आकर प्रश्न कर दिया—"क्यों, लखनपुर जा रहे हैं न?"

ब्रजमोहन ने विस्मय से उसकी ओर देखा। पर जब पहचान का कोई सूत्र उसे न मिला, तो उसने कह दिया—"आपने कैसे जाना कि मैं लखनपुर जा रहा हूँ ?"—कथन के बाद वह उसे पुनः पहचानने की चेष्टा करने लगा।

सिर पर काली गोल टोपी और बदन पर मलमल का कुर्त्ता ! अवस्था चालीस के लगभग। वर्ण श्याम और नाक लम्बी। पान मुँह मे भरा हुआ। आँखों पर धूप का चश्मा। नाक के बायें ओर काला तिल।

उसने एक हल्की मुस्कराहट के साथ उत्तर दिया—"मै जानता हूँ। आप मुझको नहीं पहचानते, पर मै आपको पहचानता हूँ। चलिये-चलिये। मैं आपकी ही खोज में था। मुझे भी मुरारी बाबू के निमन्त्रण में लखनपुर जाना है !"

गाड़ी नम्बर एक के प्लेटफार्म पर खड़ी थी। ब्रजमोहन पूर्वीय पुल की सीढ़ियाँ चढ़ रहा था। दायीं ओर फटे-मैले कपड़ों में खड़ा दुर्बल एक भिखारी बोल उठा—"बाबू एक पैसा !"

उसे ध्यान हो आया—'इनकी फ़िकर कौन करता है ?' जेब में एक पैसा—खाली पेट वाला—पड़ा था। वही उसे देकर आगे बढ़ गया।

कई लोग ऊपर जा रहे थे और कुछ लोग नीचे आ रहे थे। एक दम्पति सामने आ पड़े। उनकी देवी जो बच्चा गोद में लिये पीछे थीं और उनका कुली तब तक कुछ अधिक आगे बढ़ गया था। यह देखकर देवी जी बोल उठीं—"तुमसे इतना भी न बना कि चुन्नी को ले लेते।"

स्वामी ने वहीं खड़े होकर घूमते हुए उत्तर दिया—"तो तुम्हीं ने क्यों नहीं दे दिया ?" फिर दोनों हाथ बढ़ाते हुए कह दिया—"लाओ इधर।"

देवी जी आगे बढ़ते हुए बोलीं—'अब यहाँ दे दूँ ? चलो-चलो, आगे बढ़ो।"

इस वार्तालाप में देवी जी की संकुचित नाक-भौं मिश्रित भंगिमा देखकर ब्रजमोहन को कुछ हँसी आ गई। पर उनकी स्वस्थ-सुन्दर चुन्नी को देखकर उसे अपना भी अतीत स्मरण हो आया—'मेरी उत्तरा अगर बनी होती तो आज मेरा बेबी भी इतना ही बड़ा होता !'

जीवन की गति ऐसे समय एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करने देती।

ब्रजमोहन यही सोचता हुआ आगे बढ़ता जा रहा था कि आगे जाते हुए थोड़ा रुककर, उसको साथ लेते हुए उन महाशय ने पूछा—"अपनी मौसी के यहाँ लखनपुर आप पहले भी तो कभी गये होंगे ?"

पर ब्रजमोहन तो उत्तरा के ध्यान में था—'एक दिन मैंने उससे कहा था—अगर मेरे आने में कभी देर हो जाय, तो तुम खाना खा लिया करो। मगर मेरी यह बात उसने कभी नहीं मानी।'—कि इतने में उसे प्रतीत हुआ—'कदाचित् इन्होंने मुझसे कुछ पूछा है।'

तब उसने सहसा कह दिया—"अयँ, क्या पूछा आपने ?"

फिर उसी समय कई व्यक्ति एक साथ सामने आ गये। और उत्तर का अवसर उस भीड़ में सदा के लिए खो गया।

दोनों आगे बढ़ गये। कुली सीढ़ियाँ उतरकर नीचे खड़ा हो गया और ब्रजमोहन आगे बढ़कर सेकन्ड क्लास के डब्बे की ओर घूम गया।

डब्बे की खिड़की से झाँकती हुई एक प्रौढ़ महिला अपनी बायीं आँख दाबकर अपने स्वामी के आगे-आगे जाने वाली एक अतिशय स्थूलकाय मारवाड़ी नारी की ओर संकेत कर पूछ रही थी—"जोड़ कैसा रहेगा ?" और गिलास में बरफ़ का पानी देते-देते स्वामी मुँह बिचकाकर उत्तर दे रहे थे—"ऊँ हूँ। इनाम किसी के पल्ले न पड़ेगा। कुश्ती बराबर की ही रहकर छूट जायेगी।"

ब्रजमोहन ने उत्तर सुनकर प्रश्न की कल्पना करते हुए एक बार नारी की ओर देखा,एक बार पुरुष की ओर, तो कुछ इर्ष्या-सी हो उठी—'ये लोग वास्तव में सुखी हैं।' तभी उसे कुछ ऐसा भान हुआ, जैसे कोई उससे कह उठा हो—'सुखी व्यक्ति संसार के लिए अधिक उपयोगी होता है।'

इतने में साथ के उन महाशय ने आश्चर्य्य के साथ कह दिया—"अच्छा ! ठीक है, ठीक है। मैं तीसरे दर्जे में बैठूँगा। आप जाइये अपने डिब्बे में। आगे तो भेंट होगी ही। मैं यहीं कहीं पास वाले डिब्बे में बैठूँगा।"

ब्रजमोहन दूसरे दर्जे में जाकर एक जगह खड़ा हो गया। बर्थ पर पहले से एक सभ्य जोड़ा बैठा हुआ था; उसके बाद दो व्यक्ति और थे जिनमें एक बालक था।

ब्रजमोहन ने दम्पति के आगे बढ़कर उस व्यक्ति से कह दिया—"जरा-

सा आप । ····

उस व्यक्ति ने ब्रजमोहन को ध्यान से देखते हुए कह दिया—"क्षमा कीजियेगा, अगर मैं भूलता नहीं हूँ तो आप ब्रजमोहन दीक्षित हैं ।"

ब्रजमोहन हक्का-बक्का रह गया । उसके मुँह से निकल गया—"आऽप·····? आपको कहीं देखा है मैंने, लेकिन याद नहीं आ रही ।"

"मैं जानता था आप मुझे भूल गये होंगे । बैठिये-बठिये ।" और उन्होंने प्रसन्नता के साथ उन्हें बैठने को पूरा स्थान खाली करते हुए पास बैठे हुए व्यक्तियों से कह दिया—"जरा-सा आप लोग भी थोड़ा-थोड़ा स्थान···

अन्य लोग भी थोड़ा-थोड़ा आगे खिसक गये ।

ब्रजमोहन अभी बैठा ही था कि कुली ने खिड़की के आगे से कह दिया—"बाबू जी पैसे ।"

"ओह ! पैसे ।" कथन के साथ ब्रजमोहन जो पैसे जेब से निकालने लगा, तो पैसे तीन आने ही सही-सही निकल सके । साथ में एक इकन्नी और थी । उसे निकालकर पुनः जेब में रखते हुए उसने तीन ही आने कुली को दे दिये और कह दिया—"वैसे एक आना मैं तुम्हें और देता, पर मेरे पास रेज़गारी और है नहीं ।"

कुली ने जवाब दिया—"अरे बाबू साहब, मेरे सामने ही आप एक इकन्नी भीतर की जेब में डाल रहे हैं और जवाब ऐसा दे रहे है ?"

ब्रजमोहन ने उस नव परिचित व्यक्ति को लक्ष्य कर थोड़ा मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"देखा आपने ? मैंने यह इकन्नी अन्य तीन इकन्नियों के साथ निकाल करके भी भीतर इसलिए डाल ली थी कि वह (इकन्नी) पाकिस्तानी है । पर यह कुली मेरी बात पर अविश्वास कर रहा है । आप जानते हैं, ऐसा क्यों है ? केवल इसलिए कि हम रेट से एक आना अधिक दे रहे हैं । जो लोग एक पाई अधिक नहीं देते, उनसे इनकी एक नहीं चल पाती ।"

इतने में साथ बैठे हुए उन महाशय ने अपनी जेब से इकन्नी निकालकर कुली को दे दी और कह दिया—"लो ।"

कुली के जाते ही ब्रजमोहन ने कह दिया—"आपने देखा, इनके मन में यह चेतना कूट-कूट कर भर दी गई है कि रेल पर सफर करने वाला हरएक

सफ़ेद पोश बुर्जुआ होता है और ज़ाहिर है कि वह सीधे या छिपे तौर से सदा श्रमिकों का शोषण किया करता है। इनको यह सिखलाया गया है कि जहाँ पैसे का सवाल पैदा हो वहाँ, इस वर्ग के व्यक्ति की बात पर कभी विश्वास न करो।"

ब्रजमोहन के इस कथन पर वे महाशय बोले--"इस समय आपके सम्बन्ध में उसकी यह बात चाहे सही न उतरती हो, लेकिन अगर आप मुझे माफ़ करें तो ख़याल मेरा भी ऐसा है।" इस कथन के साथ वे थोड़ा मुस्करा उठे। फिर उन्होंने कह दिया--"क्योंकि रानीपुर वाले पण्डित रामधन शर्मा के यहाँ एक विवाह में निमन्त्रित होकर आने वाले श्रीमान् ब्रजमोहन जी दीक्षित को जब रात को साढ़े नौ बजे राह की थकान उतरवाने के लिए किसी नाई की आवश्यकता पड़ी थी, तब उसका प्रबन्ध जिस व्यक्ति को सौंपा गया था, वह आपका यह सेवक ही था। और मुझे अच्छी तरह याद है वह दिन, जब थकान उतर गई थी, उस समय श्री दीक्षित जी ने जिस शब्दावली में इस सेवक के प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी, वे थे--भाई केदारनाथ जी, इस सेवा के लिए मैं आपको जीवन भर नहीं भूलूँगा।"

केदार बाबू की इस बात पर ब्रजमोहन बाहर से तो हँस पड़ा, पर भीतर-ही-भीतर जैसे कटकर रह गया। अपराध स्वीकार करते हुए बोला--"क्षमा करो भाई केदार, मुझे नाममात्र ही आपका स्मरण नहीं रहा, पर अब सब कुछ स्मरण आ गया। बात यह है कि···

"अब आगे बात-वात कुछ नहीं है दीक्षित जी। हाँ, अब यह बताइये कि जा कहाँ रहे हैं श्रीमान्?"

इसी समय एकाएक जो ब्रजमोहन की दृष्टि केदारनाथ की पत्नी की ओर जा पड़ी तो उसके आश्चर्य्य का ठिकाना न रहा। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और सुन्दर वेश-विन्यास देखकर वह सोचने लगा--'कहीं यह अंजना तो नहीं है?'

ब्रजमोहन के ननिहाल के मकान के ठीक पीछे तीर्थराम मिश्र का एक परिवार रहता था। मिश्र जी गाँव में पटवारी थे। अंजना उन्हीं की बेटी थी। जब वह चार-पाँच वर्ष की थी, तभी से ब्रजमोहन उससे परिचित था। प्रायः वह उस घर में आती रहती थी। पर जब कभी ब्रजमोहन उपस्थित

रहता, तो वह उसे देखती-देखती पहले तो मुस्करा उठती, फिर संकुचित होकर तुरन्त लौट जाती थी। फिर जब वह यौवनागम को प्राप्त हुई तब उसके मामाजी के घर की छत पर बैठकर वह शोभा दीदी से बातें करती रहती थी। उसे स्मरण हो आया कि प्रायः जब वह मुसकराती, तो उसके नयन भी मूक भाषा में कुछ कहने लगते थे। ऐसा दिन न जाता कि शोभा उससे नीचे आने का आग्रह न करती; किन्तु वह, गली पार करके, वहाँ तभी आती, जब ब्रजमोहन घर में न रहता। उसका स्वर बड़ा प्यारा था। दीदी ने बतलाया था कि इसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति से लग रहा है, जो बी० ए० में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ है। अमियाँ की फाँक-सी उसकी आँखें उसे अब तक स्मरण थीं। एक बार शोभा ने पूछा था कि बिरजू से तू इतना लजाती क्यों है री? वह तो मेरा भाई है। इसके उत्तर में उसने कहा था—'इन कालेजों में पढ़ने वाले लड़कों के सामने आने में मुझे न जाने कैसा लगता है, दीदी!"

अतः अचकचाकर ब्रजमोहन बोल उठा—"अयँ, मैं? जी, मैं एक विवाह के सिलसिले में लखनपुर जा रहा हूँ, और मेरा ध्यान जो अभी थोड़ा बहक गया, उसका कारण यह है कि आपकी इन श्रीमती जी को मैंने अपने समाने दो-चार बार देखा है।···अंजना नाम है न इनका?"

इतने में जैसे लोम-लोम के दोलन से मुस्कराते हुए अंजना ने हाथ जोड़कर कह दिया—"नमस्ते, भाई साहब।"

"नमस्ते।"

उत्तर देते-देते ब्रजमोहन को पुनः उत्तरा का ध्यान हो आया। वह सोचने लगा—'काश, इस समय उत्तरा भी साथ होती। कम-से-कम इसको इतना तो ज्ञात हो जाता कि वह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है।'

केदार बाबू बोले—"चलो यह बड़ा अच्छा हुआ। अभी तक आपका और मेरा ऐसा कोई नाता जुड़ नहीं पाया था। अब यह कसर भी पूरी हो गई। अगर आप मुझे भूल भी जायँगे, तो मुझे यह कहने का अवसर तो रहेगा कि है बड़ा भुलक्कड़ मेरा यह!····

शेष का 'साला' शब्द जैसे स्वयमेव कहकर ब्रजमोहन हँस पड़ा।

केदार बाबू ने पूछा—"और कहिये, आपकी श्रीमती जी मतलब यह कि आजकल अपने पिता के यहाँ हैं या आपके घर ? और यह कि विकास का क्रम कैसा चल रहा है ?"

तत्काल अंजना गम्भीर होकर बोल उठी—"बहुत दिन हुए, सुना था कि भाभी का स्वर्गवास हो गया। इधर का हाल मुझे नहीं मालूम।"

ब्रजमोहन विचार में पड़ गया। केदार बाबू सोचने लगे—'अगर विवाह कर लिया होता, तो इस समय इसके मुख पर यह उदासीनता न होती।' फिर उनके मुख की ओर देखते हुए बोले—"पत्नी का देहान्त हुए यदि कई वर्ष हो गये और अब तक आप विधुर ही बने हैं, तो यह बात मेरे लिए विचारणीय हो जाती है। मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि आप इस अवस्था में अकेले रहते कैसे होंगे।" इसके बाद वे यह भी कहने जा रहे थे कि इधर कई वर्षों से कुछ ऐसा हो गया है कि मैं इनको वर्ष भर में महीना-पन्द्रह दिन के ही लिए छोड़ पाता हूँ, केवल सावन मास में। पर फिर अन्य लोगों का ध्यानकर रुक गये। केदार बाबू की बात सुनकर अंजना मुसकराने लगी।

इतने में स्टेशन आ गया और इतने व्यक्ति डब्बे में भर गये कि उपस्थित यात्री सहम उठे। केदार बाबू बोले—"अरे यह सेकन्ड क्लास का डब्बा है। इसमें बैठने पर अधिक भाड़ा देना पड़ता है।"

"देना पड़ेगा, तो दे देंगे। जब गाड़ी में कहीं जगह नहीं थी, तो टिकट ही क्यों बाँटा गया ? क्या हमारा पैसा हराम का है ?"

केदार बाबू कुछ उत्तर न दे सके। ब्रजमोहन बाबू सोचने लगे—'क्या उत्तर दिया है इस ग्रामीण व्यक्ति ने ! वास्तव में इस स्थिति की ज़िम्मेदारी रेलवे विभाग पर है।'

तब तक उसका ध्यान आकर्षित कर लिया लेमन वाले ने, जो खिड़की के सामने खड़ा होकर पूछ रहा था—"लेमन चाहिये लेमन ?"

ब्रजमोहन ने सोचा—'यह दिन भर में पचासों बार लेमन-लेमन की पुकार लगाता है। कुछ लोग लेमन लेते और पीते भी हैं, पर मन कोई नहीं लेता।'

अंजना अब बर्थ के नीचे झुककर डब्बे का ताला खोलने लगी।

बालक अपने पिता से कहने लगा—'तुम भी पूड़ियाँ निकालो बाबू, थोड़ी-थोड़ी भूख जगती-सी जान पड़ती है।" डब्बे के नवागत यात्री अपना-अपना सामान ठीक ढंग से रखने में झगड़ने लगे।—"देखिये मेरे वक्स के ऊपर से यह पुलिंदा हटाइये जनाब।—ये लो, आपका घी बहा जाता है। सम्हालो न इसको!"

इतने में टिकट-घर के पास मिलने वाले महाशय खिड़की के सामने आकर बोल उठे—"आप लोग लेमन लेंगे कि चाय? लेमन लें तो यहाँ भेजूँ। चाय का प्रबन्ध तो भरथना स्टेशन पर ही होगा।"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"इस कृपा के लिए धन्यवाद। लेकिन मुझे चाहिये कुछ नहीं।"

"मैंने सुन रक्खा था कि आप बड़े संकोची स्वभाव के हैं। आज देखता हूँ, मैंने ग़लत नहीं सुना।" वे महाशय बोल उठे।

इस समय एक ग्रामीण दूसरे को धक्का देकर हटाता हुआ चिल्ला उठा—"अरे बाप रे! मार डाला!"

निकट के कई व्यक्तियों के स्वर एक साथ फूट पड़े—"क्या हुआ? हुआ क्या? कहीं चोट लग गई क्या?"

उस व्यक्ति ने एक सीत्कार के साथ, विकृत भंगिमा से, उत्तर दिया—"देखते नहीं, पैर की यह अंगुली आपने जूता रखकर भुरता बना दी!"

"लेकिन मैंने जान-बूझकर तो ऐसा कुछ किया नहीं। अनजाने आपके पैर पर मेरा पैर पड़ गया होगा। मुझे क्या पता कि आपके पैर में जूता भी नहीं है!"

"पर जनाब, आपके पैर को तो इतना ज्ञान होना चाहिये कि वह किसी हाड़-माँस वाले आदमी के शरीर पर पड़ रहा है।"

ब्रजमोहन ने इन बातों से ध्यान हटाकर उत्तर दिया—"एक तो मैं आपको पहचानता नहीं, दूसरे इस कोलाहल के बीच में अगर कुछ ग्रहण करने की मुझे प्रेरणा न हो, तो मेरे संकोच को आलोचना का भागी तो नहीं बनना चाहिये।"

तब वे महाशय हँस पड़े। बोले—"यह आपने ठीक कहा। अच्छा, फिर थोड़ी देर बाद सही। अब गाड़ी भी छूटने वाली है। रही परिचय

की बात, सो आपके बड़े भाई साहब शिवमोहन बाबू मुझे अच्छी तरह जानते हैं और नाम मेरा बहुत छोटा-सा है—सोने। अब भरथना में भेंट होगी।"

कथन के साथ ही वे अपने डब्बे की ओर आगे बढ़ गये।

केदार बाबू और अंजना एक साथ हँस पड़े। ब्रजमोहन भी मुस्कराने लगा। फिर उसने केदार बाबू से पूछा—"हाँ, तो आप कहाँ जा रहे हैं?"

केदार बाबू की मुस्कान अभी मन्द नहीं पड़ी थी। उन्होंने हाथ की पत्रिका बन्द करते-करते उत्तर दिया—"मैं आगरा जा रहा हूँ। इलाहाबाद से आगरा के लिए मेरा स्थानान्तर हो गया है।"

इतने में डब्बा खोलकर प्लास्टिक की एक तश्तरी में नमकीन काजू ब्रजमोहन के सामने रखती हुई अंजना बोली—"लीजिये।"

ब्रजमोहन जैसे चौंक पड़ा हो। उसे ध्यान आ गया—'इसी नारी ने कहा था—इन कालेज वाले लड़कों के सामने आने में मुझे न जाने कैसा लगता है।'

अंजना ने दूसरी तश्तरी स्वामी के आगे बढ़ा दी। फिर वह थरमस से गरम चाय निकालकर प्यालों में ढालने लगी।

गाड़ी चल पड़ी और ब्रजमोहन सोचने लगा—'उत्तरा तो पुनः मिलने से रही, पर यदि अंजना-सी नारी भी···

इसी समय केदार बाबू काजू टूँगते हुए बोल उठे—"बरात से लौटकर आने पर किसी दिन हमारे यहाँ आने की कृपा कीजियेगा ब्रजमोहन भाई। वहाँ मैं आपको एक ऐसी लड़की से मिलने का अवसर दूँगा, जो आपको दस मिनिट में निरुत्तर कर देगी!"

और अंजना ने चाय का प्याला ब्रजमोहन के सम्मुख बढ़ाते-बढ़ाते स्वामी की ओर देखकर कह दिया—"इसमें कोई शक नहीं। राजेश्वरी ऐसी ही होनहार लड़की है।"

अचानक गाड़ी मन्द हो गई और पास वाले डब्बों से अनेक व्यक्ति खिड़कियों से झाँकने लगे। कई प्रकार के स्वर कानों में गूँज उठे।

एक ने कहा—"जान पड़ता है कोई आदमी गिर पड़ा है।"

दूसरे ने उत्तर दिया—"गिर ही नहीं पड़ा, कटकर समाप्त भी हो

गया होगा ।''

गाड़ी जब खड़ी हो गई तो मालूम हुआ, बात बिल्कुल सही है। किसी आदमी के हाथ से डंडा छट गया था। वही बेचारा गिरकर गाड़ी के नीचे आ गया। उसकी जेब से एक रुपया दस आने का जो टिकट निकला, वह भरथना स्टेशन का था ।

तब ब्रजमोहन सोचने लगा—"ऐसी दशा में इन रेलवे अधिकारियों के पास एक ही उत्तर होता है—'जब गाड़ी में जगह नहीं है, तो इस तरह यात्रा ही क्यों करते हो ?'

इतने में भीड़ के अन्दर का वही ग्रामीण यात्री बोल उठा—"आप लोग देख लीजिये कि हम लोगों की जान का क्या मूल्य रह गया है !"

ब्रजमोहन सोचने लगा—"विजय ठीक कहता था ।'

: १४ :

मुरारी बाबू का घर मेहमानों से भरा हुआ था। बनवारी की दुलहिन अपने बच्चे को दूध पिला रही थी। कभी बच्चा एक क्षण के लिए दूध पीना छोड़, अपने ऊपर का अंचल हाथ से हटाकर, बाहर झाँकने लगता और कभी पुनः चुकुर-चुकुर माँ का दूध पीने लगता था। नाउन माधुरी के बदन में उबटन लगाने जा रही थी और माधुरी की माँ, बड़ी चाची, आँचल भराई के लिए गुड़ को भेली के साथ चावल निकालकर सूप में रख रही थी। बनवारी बाबू स्टेशन पर परोहन भिजवाने का प्रबन्ध कर रहे थे और मुरारी बाबू के साले गयाप्रसाद को सहेज रहे थे कि समधी को तुम खासतौर से अपनी सवारी में बिठा लेना; क्योंकि एक तो तुम्हारे पास मझोली है, दूसरे तुम्हारे बैलों की जोड़ी भी सबसे अच्छी है। चौधरी साहब तारीफ़ कर रहे थे।···और हाँ, अच्छी याद आई। बिरजू भी तो आ रहा है उसी गाड़ी से। उसे भी बैठा लेना। पहचानते तो होगे तुम बिरजू को ?

मकान से लगा बायीं ओर एक दूसरा घर था, जिसका एक भाग खाली करवा लिया गया था। उसीमें मिठाइयाँ बनाने का प्रबन्ध था। भट्टी पर कड़ाही चढ़ने जा रही थी। दीक्षित जी बालूशाही सेंकने की तैयारी में थे। मुरारी बाबू वहीं खड़े-खड़े कह रहे थे—"न हो दीक्षित, मोअन असली घी का दे देना, फिर चाहे सेंक लेना वनस्पति से ही। क्यों, ठीक रहेगा न?" बनवारी की दुलहिन अपनी जिठानी के पास आकर पूछ रही थी—जीजी, खाने के लिए आज कौन-सा चावल निकाला जाय ? बासमती वाला मटका अभी बिलकुल नहीं छुआ गया है, और देहरादूनी तो परसों के लिए रखना होगा। अपने बम्बा पार वाले खेत का ही काम में ले लिया जाय, तो कैसा हो ! वह भी तो दो साल का पुराना है।'

इस पर बड़ी चाची कह रही थीं—"हाँ, ठीक तो है। आज घर का

ही चावल राँधना ठीक रहेगा।"

दरवाज़े पर सेहन के उस पार छप्पर के नीचे भैंस खड़ी जुगाली कर रही थी और हफ़ीज़ुल्ला दालान के अन्दर चारपाई बुन रहा था।

इसी समय गयाप्रसाद ने मुरारी बाबू के पास आकर कहा—"लो, जगम्मनपुर वाली चाची आ गई। साथ में बहू भी है।"

"अच्छा, चाची आ गई!" प्रसन्न मुख मुरारी बाबू बोले और लपककर द्वार की ओर चल दिये। तभी बनवारी भी उनके पीछे हो लिये। गज्जू नौकर कदाचित् बैल खोलकर दरवाज़े के कुएँ की जगत से लगी चरही पर पानी पिलाने जा रहा था कि बनवारी बाबू ने कह दिया—"अरे गज्जू, ज़रा चाची का सामान तो भीतर पहुँचा देना। फिर चौपाल पर खड़े किशोर वय के एक बालक को देख बोले—"राम्, तुम भी इधर आ जाओ। हाँ, हाँ आ जाओ। संकोच मत करो। घर के लड़के हो।"

इस तरह बात-की-बात में जगम्मनपुर वाली चाची का सामान भीतर पहुँचा दिया गया।

घर के भीतर प्रवेश करते ही बनवारी बाबू की दुलहिन ने पहले बहू की चद्दर उतारी, फिर चाची के चरण छुए। सभी बहुओं को चूड़ियों की अमरता का आशीर्वाद देती हुई चाची भेंट-भलाई में लग गई।

इसी समय बाहर सोनेलाल, उजागर, त्रिवेणी, लँगोटे और खुलई आपस में लड़ बैठे। त्रिवेणी और उजागर के लट्टुओं में नृत्य की बाजी लगी थी। सोने का कहना था कि उजागर का लट्टू बड़ी देर तक नाचता है और खुलई का मत था कि त्रिवेणी का लट्टू गन्नाता बहुत है।

इतने में लँगोटे बोल उठे—"जीत सोने की हुई। देर तक उसीका लट्टू नाचता रहा। हमारे पास घड़ी है। यह देखो।"

उसका इतना कहना था कि त्रिवेणी ने उसके सिर पर एक तड़ी जमा दी और तिरस्कार के भाव से कह दिया—"चल-चल! बड़ा घड़ी वाला बना है। घड़ी से कहीं लट्टू का नाचना परखा जा सकता है?"

परिणाम यह हुआ कि शिकायत मुरारी बाबू के पास जा पहुँची। उन्होंने जो दोनों के बयान सुने, तो कह दिया—"बात तो उसने ठीक कही थी, बेटा। घड़ी देखकर फ़ैसला दिया था; फिर तुमने उसके चाँटा क्यों

मार दिया ?"

"नाना जी बात यह है कि इसको अपनी घड़ी का बड़ा घमण्ड है। हर बात में यह अपनी घड़ी सामने पेश कर देता है। अभी हम टट्टी गये थे नाना जी; तब भी इसने कह दिया कि तुमको टट्टी में पूरे दस मिनट लगे।"

त्रिवेणी ने अपनी प्रतिक्रिया बतला दी।

उसकी इस बात पर पहले तो मुरारी हँस पड़े, फिर अभियोग का रंग-ढंग देखकर बोल उठे—"कुछ भी हो, तुम्हें चाँटा नहीं मारना चाहिये था। इन सबमें तुम सबसे बड़े हो, इसका यह मतलब तो नहीं कि डरा-धमकाकर जो चाहोगे, वही मनवा लोगे ?"

इस पर त्रिवेणी ने अपना दूसरा तर्क उपस्थित करते हुए उत्तर दिया—"नाना जी, हमने कोई चाँटा तो मारा न था; ज़रा-सी तड़ी भर जमा दी थी। बस, इसी पर लँगोटे···पिनपिना उठे नाना जी।"

यद्यपि मुरारी को उसकी शरारत भरी अन्तिम शब्दावली—पिनपिना उठे नाना जी—पर मन-ही-मन हँसी आ रही थी; फिर भी उन्होंने गम्भीर होकर कह दिया—"लँगोटे बेटा, तुम भी अपने बाबू की यह घड़ी माँ को दे आओ। सारा झगड़ा इस घड़ी के नाम पर है। ज़रा-ज़रा-सी बात पर तुम लोग झगड़ा कर बैठते हो। यहाँ इस समय इतनी फ़ुरसत किसको है, जो दिन भर तुम लोगों का झगड़ा निबटाता फिरे।"

इतने में माधुरी उबटन लगाकर उठती-उठती नाउन से बोल उठी—"चाची, घर जाना तो ज़रा बिहारी दादा के यहाँ भी हो लेना। कई दिन से राजेश्वरी दीदी नहीं देख पड़ीं। कहना—बुलाया है। अच्छा !"

नाउन स्वीकृति में सिर हिलाकर चल दी।

आज सबेरे से ही बिहारी पण्डित इस फेर में थे कि आप-से-आप कोई आकर उनको यह समाचार दे दे कि ब्रजमोहन आ गया है। एक बार तो उन्होंने गिरधारी से पूछा भी—"कुछ पता चला ?"

गिरधारी ने पान भरे हुए मुँह से उत्तर दिया—"परोहन तो भिजवा दिये हैं, मुरारी बाबू ने। अभी-अभी जलपान भी स्टेशन भेज दिया गया। बरात तो वही पाँच बजे चलेगी। यहाँ पहुँचते-पहुँचते छै-साढ़े छै तो बज ही जायँगे।"

फिर उन्होंने गिरधारी से तो कुछ नही कहा, लेकिन पत्नी के पास आकर पूछने लगे—"राज की माँ, आज सबेरे तुमको कोई शकुन हुआ था ?"

कौशल्या ने अपना अर्ध पोपला मुख प्रसन्ता की लहर में थोड़ा-सा खोलकर उत्तर दिया—"मुझे सबेरे-सबेरे एक नेवला देखने को मिला था। और तुमको ?"

"मुझको कोई शकुन तो नहीं हुआ, लेकिन नेवला दिखाई देना भी बड़ा मांगलिक माना गया है। मेरा ब्रह्म बोल रहा है कि इस बार मुझे सफलता अवश्य मिलेगी। तुमने इस विषय में राज से कोई बात तो की न होगी; कि की थी ?"

"आज सबेरे दिन चढ़ते ही जब नाउन आई थी, तभी मालूम हुआ था कि माधुरी ने राज को बुलाया है। मैंने भी कह दिया कि ऐसे समय घड़ी-दो-घड़ी को उससे रोज़ मिल आना चाहिये। मुरारी की दुलहिन का स्वभाव बड़ा अच्छा है। पिछली बार जब मैं उनके घर गई थी, तो मुझको उन्होंने बड़े उत्साह से सब सामान दिखाया था। कलेवा के अवसर पर देने के लिए थालो का पूरा सेट उन्होंने चाँदी का मँगवाया है, शहर से।"

"अच्छा !" बिहारी पण्डित ने आश्चर्य के साथ कहा—"चाँदी का सेट मँगवाया है। ये लोग बड़े ही हमारे हितों में बाधा डालते हैं। चाँदी-वाँदी का सेट तो मैं मँगा न सकूंगा।···खैर, और कुछ बात हुई थी ?"

कौशल्या ने सुँघनी की चुटकी नाक में लगाकर उत्तर दिया—"कोई खास बात तो नहीं हुई। मेरे ही मुँह से इतना निकल गया था कि पता नहीं, मेरी राज के भाग में क्या बदा है ?"

इतने में उसे छींक आ गई।

"इस पर उन्होंने क्या उत्तर दिया ?" बिहारी पंडित ने उत्सुकता से पूछा।

कौशल्या ने उत्साह के साथ कहा—"अच्छे-से-अच्छा वर मिलेगा उसे, उन्होंने झट कह दिया। फिर मेरे निकट आकर कहने लगी थीं कि लड़का तय भर हो जाय, फिर भगवान चाहेगा, तो सब सकुशल निबट जायगा। तुम चिन्ता न करना दीदी।"

इस पर बिहारी पण्डित प्रसन्नता के साथ मुसकराते हुए बोले—"अच्छा! कह रही थी कि 'सब सकुशल निबट जायगा; चिन्ता न करना।' बड़ा अच्छा स्वभाव है उनका। मगर···मगर इस बात के भीतर भी जान पड़ता है उनका कोई मन्तव्य छिपा हुआ है। अब मैं किसी दिन मुरारी बाबू से मिलूंगा।"

कौशल्या दूसरी बार छींकती हुई बोल उठीं—"बस यही तुममें ऐब है, राज के बाबू। अरे, मिलना ही है, तो उनके यहाँ जाकर बैठो; काम-काज में हाथ बटाओ। ऐसे समय ही अपना-पराया समझ में आता है।"

"हाँ, यह तुमने ठीक कहा।" उत्तर के साथ बिहारी पण्डित बाहर आये, तो गिरधारी ने कह दिया—"अरे भइया, बड़ा गड़बड़ हो गया।"

उनका मुँह सूखा हुआ था, होंठ फड़क रहे थे।

आश्चर्य और चिन्ता की संयुक्त भंगिमा में कुछ घबड़ाहट के साथ बिहारी पण्डित बोले—"क्या? क्या गड़बड़ हो गया? जल्दी बताओ, हुआ क्या?"

गिरधारी ने चारपाई पर बैठते हुए उत्तर दिया—"जिस भरोसे-लाल आसामी पर हमारी रक़म फँसी हुई थी, कल उसके घर चोरी हो गई। अभी-अभी मुझे चन्द्रमा प्रसाद से मालूम हुआ। लाही बेचकर कल ही बेचारा सात सै की रक़म घर ले आया था। वही ज्यों-की-त्यों बकस में रखी हुई थी। सबेरे जो सोकर उठा, तो क्या देखता है कि ताला टूटा पड़ा है और पिछवाड़े सेंध हो गई है।"

"यह तुमने बुरा सुनाया। ये घटनाएँ मेरे विचार से इसीलिए हो रही हैं कि राज का ब्याह न हो सके। कब का वादा था रक़म चुकाने का?"

"वादा तो वह जेठ से कर रहा था। कह रहा था कि लाही का भाव ज़रा ठिकाने आ जाय, तो बेचूँ। तीन घण्टे पुलिस दरवाज़े पर पड़ी रही। लगभग दो हज़ार का नुकसान हुआ बताते हैं। ज़ेवर के नाम पर एक

छल्ला भी नहीं रहा । कपड़ों में कम्बल तक नहीं छोड़ा । हाँ, बर्तन कोई नहीं गया ।'''अब यह रक़म डूबी समझो । चुकौते में बैलों पर हाथ डाल नही सकता । भैंस भी किसी काम की नहीं है । एक तो बूढ़ी, दूसरे उसके नीचे दूध नहीं । एक-ही-आध बियाँत की और सम्भावना है ।"

"हूँ ! अच्छा, तुम एक काम करना कि उसके यहाँ ज़रा हो आना । अपने रुपये के बारे में अभी कुछ कहना न उससे, भला ।"

बिहारी पण्डित अब अपनी चिन्ता भूल गये । वे सोचने लगे—'आज बेचारे के यहाँ खाना भी न बना होगा । छोटे-खोटे चार बच्चे हैं, स्त्री है । माँ को मोतियाबिन्द के कारण आँखों से कुछ सूझ नहीं पड़ता । बिना कुछ पूजा लिए थाने में रिपोर्ट भी न लिखी गई होगी । हालाँकि कमरे में मोटे-मोटे काले अक्षरों से लिखा रहता है—'घूस लेना और देना पाप है'—'रिपोर्ट लिखाने का यहाँ कोई शुल्क नही लगता'—यह रूप है महात्मा गांधी की जय के नारे का ! क्या ज़माना है । देश को स्वराज्य मिल गया; विदेशों में प्रचार की धूम है कि भारतवर्ष ने इतनी थोड़ी अवधि में आशातीत उन्नति की है । मगर गाँवों की वास्तविक स्थिति का इन लोगों को कुछ भी पता नहीं ।'

इस समय दिन के दो बज रहे थे । घर में चौका उठ गया था । चन्दनियाँ बर्तन मलती हुई सोचती जाती थी—'गोपलू को भगवान ने ही बचाया है ।' फिर यकायक हाथ रोककर कौशल्या की ओर देखकर बोली—"चाची ! ओ चाची !! कुछ सुना ? भरोसेलाल के यहाँ जो चोरी हुई है, उसमें थानेदार दुपहरिया लौटे तक दुआरे पड़ा रहा । सुनती हूँ, यही उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि चोरी हुई कैसे ? आँगन में लोग पड़े थे । जहाँ उनकी चारपाई पड़ी थी, उसके पीछे एक दालान और उसीसे लगा कमरा । वहीं बकस रखा हुआ था ।"

चन्दनियाँ का स्वभाव था कि वह जब आती, तो गाँव-गली में जितना हाल मालूम होता, काम आरम्भ करने से पहले वही सुनाने बैठ जाती ।

कौशल्या ने कह दिया—"देख चन्दनियाँ, काम के बखत काम और बात के बखत बात । अभी थोड़ी देर में राज नहाने के लिए बैठ जायगी । उस बखत पानी चुक गया, तो ?"

मुँह मटकाकर चन्दनियाँ बोली—"तो क्या हुआ ? तब तक क्या मैं बिटिया के नहाने भर को भी पानी नहीं भर पाऊँगी ?···हाँ चाची, तो थानेदार दाढ़ीजार कहता था कि घर से ही किसी आदमी से भेद मिला है चोर को। वह आदमी भी इस चोरी में शामिल है। सो वह पूछ रहा था कि बताओ किस पर शक है ? चाची, जबसे सुना, तबसे मेरा जी धक-धक हो रहा है। बड़ा अच्छा हुआ चाची,जो गोपलू कल यहाँ था नहीं। नहीं तो, जो कहीं भरोसेलाल उसीका नाम ले देता, तो क्या होता ?"

"तू नाहक इतना डरती है, चन्दनियाँ। जब गोपलू चोरी नहीं करता, तो उसका नाम ही कोई क्यों ले देगा ?"

"चाची, चोरी तो नहीं करता, लेकिन सोहबत तो उसकी खराब है ही, यह किससे छिपा है ! जो जुआ खेल सकता है; वह चोरी भी कर सकता है। इसलिए मैं हनुमान जी की मनौती मान आई कि मेरे गोपलू का कोई नाम ले दे।"

राज की माँ हँसने लगीं। बोलीं—"बड़ी डरपोक है तू, चन्दनियाँ। आज तक तो कोई ऐसा काम गोपलू ने किया नहीं; फिर तू नाहक डरती है।"

"तुम नहीं जानती चाची, कि ज़माना कितना खराब लगा है। ऐसा ज़हर फैल गया कि करो तो डर न करो तो डर। हे भगवान !···अच्छा चाची, पानी भर लाऊँ।"

और बस इतना कहकर चन्दनियाँ पानी भरने चली गई।

बिहारी पण्डित सायंकालीन संध्या से निवृत्त होकर खड़ाऊँ पहिने सीधे मुरारी बाबू के यहाँ जा पहुँचे।

मुरारी बाबू के मकान के पास एक खण्डहर था, जिसमें एक तरफ़ की दालान का एक हिस्सा गिरने से कुछ बच गया था। उसके दिन तब फिरते थे, जब दो-चार साल में कभी कोई काम-काज होता था। जिन लोगों के परोहन आते, उन्हें वहीं बाँधा जाता। जिन लोगों को द्वार

पर चारपाई डलवाकर लेटने का अवसर न मिलता, उनकी चारपाइयाँ वहाँ पड़ जातीं और लकड़ी चीरने की आवश्यकता होती, तो यह काम भी वहीं किया जाता।

मुरारी, बिहारी पण्डित के साथ उसी खण्डहर वाले मकान की दालान में खड़े हुए कह रहे थे—"अरे गज्जू, एक दीपक यहाँ भी जला कर रख दे।" और फिर मन-ही-मन सोचने लगे—'सोया हुआ खण्डहर है। वर्षों के बाद कहीं जगने का अवसर मिला है—फिर और भी अधिक अतीत में चल गये—गयादीन बाबा यहीं पर लांग चढ़ाये, तकली लटकाये, जनेऊ काता करते थे। अपने हाथ का काता हुआ जनेऊ पहनते और समय-समय पर टोले में जब किसी को जनेऊ की आवश्यकता पड़ती, तो झट से निकाल कर दे देते थे।'

इतने में गयाप्रसाद ने साइकिल से उतरकर घबराहट के साथ मुरारी बाबू से कह दिया—"जीजा, बरात तो आ गई, मगर एक दुर्घटना हो गई।"

"क्या कहा ? दुर्घटना हो गई ?"

गया ने उत्तर दिया—"हाँ, आप तो जानते हैं कि बरात में, चाहे जितना मना करो, लोग परोहन दौड़ा ही देते हैं। उसी दौड़ में हमारी मझोली से भी समधी और बिरजू दोनों उछल कर सड़क के किनारे खुदी हुई खाई में जा गिरे। बिरजू के पैर में मोच आ गई और समधी की कमर में।"

मुरारी से अधिक बिहारी पण्डित घबरा उठे। बोले—"ज़्यादा चोट तो नहीं आई ?"

"अभी ज़्यादा तो नहीं जान पड़ती, मगर चोट की पीड़ा तो कुछ देर बाद उभरती है।"

मुरारी ने पूछा—'मगर वह लोग हैं कहाँ ?"

"वह लोग तालाब के पास होंगे। ऊसर में यह घटना हुई थी। बिहारी जीजा के मकान के पास जो सरकारी दवाखाना है उन लोगों को वहीं ले आने के लिए मैं गाड़ीवान से कह आया हूँ।"

"यह तुमने बड़ा अच्छा किया, गया। चलो बिहारी भैया, ज़रा

देखें चलकर ।"

दोनों चल पड़े ।

इस समय बिहारी पण्डित आगे बढ़ते हुए सोच रहे थे--'सृष्टि का यही नियम है । जब बहू माँ बनने का अवसर पाती है, उसकी कुक्षा से पुत्र-रत्न जन्म लेता है, तभी वह अतिशय पीड़ा से कराहती-कराहती —अचेत हो उठती है ! कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिस चिन्ता के कारण मैं रात-दिन व्याकुल रहता हूँ, भगवान ने उसके निवारण के लिये ही···

: १५ :

समधी के सामने पहुँचते ही मुरारी ने पहले उनके पैर छुए और बिहारी पण्डित ने पहले उनकी ओर उन्मुख हो हाथ जोड़कर नमस्कार किया। ब्रजमोहन भी झट मुरारी के चरण छूने लगा।

इतने में मुरारी बोले—'मुझे अभी-अभी मालूम हुआ कि आपकी कमर में चोट आ गई, तो मुझे बड़ा क्लेश हुआ। मैंने गया को कितना समझाकर भेजा था कि सावधानी से बरात लिवा लाना। मगर आप तो जानते हैं, देहाती आदमी बैलों के साथ रहते-रहते स्वयं भी बैल हो जाते हैं। कहाँ चोट आई है ? जरा देखूँ तो सही।"

"ऐसी कोई घबराने की बात नहीं, पर दस-पाँच दिन की तकलीफ़ तो हो ही गई।"

आशीर्वाद के बाद सलोनेलाल बोले—फिर दायीं ओर कमर पर हाथ रखते हुए मुँह को कुछ इस ढंग से सिकोड़ लिया कि कमर की सारी पीड़ा नाक के ऊपर उस स्थल पर आ गई जहाँ दोनों भृकुटियाँ मिलकर कभी-कभी प्राणों में विरक्ति और क्षोभ की वह्नि सुलगा देती हैं। फिर वे बोले—"यह है।"

मुरारी ने हाथ से टोहते हुए जो इधर-उधर दबाया, तो सलोनेलाल पीड़ा से विकल होकर कराह उठे। बोले—"बस-बस, यहीं-यहीं।"

"तकलीफ़ तो आपको बहुत हो गई, पर"—मुरारी ने कह दिया—"आप चिन्ता न करें। मैं अभी हजारी को भेजता हूँ।"

बिहारी पण्डित लोकाचार खूब जानते थे। अतः इस बात के साथ स्वर-में-स्वर मिलाकर उन्होंने कह दिया—'हजारी ऐसे मामलों मे उस्ताद है। चाहे जैसी भीतरी चोट हो, मालिश और सेंक के बल से एक-दो दिन में सारा दर्द खींच लेता है।"

फिर सोचा—' सम्भव है समधी से मुरारी की बातें जल्दी ख़तम

न हों ।' इसलिए झट उन्होंने ब्रजमोहन की ओर उन्मुख होकर कह दिया—"सुना, तुम्हारे पैर में भी मोच आ गई। यह बड़ा गड़बड़ हुआ।" फिर कथन के साथ थोड़ा झुककर बैठते हुए पूछा—"कौन-से पैर में है मोच ?"

तब तक मुरारी भी इधर आ गये। पहले उन्होंने गया के विषय में दो शब्द जमा दिये।

"यह गया भी पूरा मूर्ख ही है। अन्य लोगों की देखा-देखी इसने अपनी मझोली सबसे आगे रखने की चेष्टा अवश्य की होगी। पर तुम चिन्ता न करना बिरजू, मोच के मामले में हज़ारी बड़ा उस्ताद है।"

इतने में गिरधारी टार्च लेकर आ पहुँचे। बिहारी पण्डित तब तक उटकुरुवाँ बैठकर ब्रजमोहन के दायें पैर की ओर संकेत कर बोले—"ज़रा दिखलाना तो छोटे भैया इधर···हाँ, मुझे तो यही जान पड़ता है। अच्छा ज़रा पूरा पैर जमाकर देखो, कहाँ दर्द अधिक है।"

ब्रजमोहन ने खड़े होने की चेष्टा की, पर वह सफल न हो सका। मुरारी की ओर देखता हुआ बोला—"दर्द कुछ ज्यादा है मौसिया। बस इसी जगह, एड़ी की गाँठ में समझ लीजिये।"

इसी समय गयाप्रसाद आते दिखाई पड़ गये, तब मुरारी और बिहारी उसकी ओर लपक गये।

बिहारी ने कहा—"हज़ारी नाऊ को तुरन्त भेजो गया भाई। और एक आदमी यहाँ पंखा डुलाने के लिए भी। वैसे आज उतनी ऊमस तो नहीं जान पड़ती, जितनी कल थी।"

मुरारी फिर गया के निकट गये। धीरे से बोले—"और सुनो। दो गिलास गरम दूध में बताशे घोलकर और थोड़ी फिटकिरी पिसवाकर भेजो।"

गया लौटने ही वाले थे कि बिहारी पण्डित ने मुरारी की ओर उन्मुख होकर कह दिया—"दूध मैं ही भिजवाये देता हूँ। तुम्हारे यहाँ तो दीक्षित मिठाई चढ़ाये बैठे हैं। दूसरे काम के लिए कहोगे, तो भौंह न चढ़ जायँगी उनकी ? कारीगर इस मामले में कितने सनकी होते हैं, जानते ही हो।"

मुरारी अवसर का ध्यान कर बोले—"बिहारी भाई, बात तुम्हारी

सचमुच मौके की होती है।" फिर साले की ओर दृष्टि डाल कहने लगे– "अच्छा तो गया, तुम जाओ हज़ारी को भेजने, मैं अभी यहीं हूँ।"

बिहारी पण्डित यह कहकर चल दिये कि मैं अभी आता हूँ। आप तब तक उनका बिस्तर लगवा दीजिये।

दुलारे कहीं काम में उलझा हुआ था। अतः गिरधारी ने दोनों पलँगों पर बिस्तर बिछा दिये।

जिस कमरे में मुरारी के समधी और ब्रजमोहन को ठहराया गया वह हास्पिटल के पास होने के साथ-साथ बिहारी पण्डित के घर के दूसरे सहन से सम्बन्धित था। अन्तःपुर से बाहर निकलने का वही एक प्रमुख मार्ग था। गिरधारी ने पहले ही आकर भाभी से कह दिया था—"बिरजू बाबू और मुरारी भाई के समधी—दोनों—घर के बाहरी कमरे में ठहरे हैं।"

तब तक यह समाचार भी वहाँ पहुँच गया था कि दोनों को चोट आ गई है।

ब्रजमोहन उस समय पलँग पर लेटा हुआ सोचने लगा—'ये बिहारी पण्डित बड़े व्यावहारिक जान पड़ते हैं। हो सकता है मौसिया के साथ इनकी घनिष्ठता हो।'

गिरधारी बिस्तर लगा चुकने के बाद चबूतरे पर ही बैठ गये। मुरारी इस समय समधी से कह रहे थे—"जनवासे की अपेक्षा आपको आराम अधिक मिलेगा।"

इतने में जनवासे से कई आदमी आते हुए दिखलाई पड़े। 'दुलारे एक बाल्टी में पानी ले आया और साथ में लोटा। मुरारी बोले—"दादा, ज़रा पैर इधर बढ़ाओ, तो उन्हें धो दूँ। चाहे जितनी आराम की यात्रा हो, थकान आ ही जाती है।"

तब तक हज़ारी आ गया। सामने आते ही उसने दोनों मेहमानों को पैर छूते ही कह दिया—"पानी थोड़ा कुनकुना करा लें मालिक, चोट वाली बात ठहरी।"

बिहारी पण्डित बोल उठे—"हाँ हो हजारी, यह तुमने अच्छा सोचा। मुझे इस बात का ध्यान ही न रहा। जाओ दुलारे पानी कुनकुना ही करा लो।"

बिहारी पण्डित ने डेढ़-डेढ़ पाव के बदले आधा-आधा सेर गाढ़ा मीठा दूध दो गिलासों में, फिटकरी की पुड़िया के साथ, सलोनेलाल और ब्रजमोहन के पास भेज दिया।

मुरारी अपने घर पहुँच गये थे और जनवासे से वर पक्ष का नाई उनके यहाँ जा चुका था।

सलोनेलाल ने दूध के गिलास में मुँह लगाकर पहला घूँट जो गले के नीचे उतारा, तो बिहारी पण्डित की ओर दृष्टि डालते हुए प्रसन्न मुख कह दिया—"वाह! दूध तो आपने सचमुच बढ़िया पिलाया भाई साहब!"

बिहारी पण्डित गद्‌गद् हो उठे। आकाश की ओर आँखें उठ गईं। दोनों हाथ जोड़कर बोले—"सब प्रभू की देन है।"

देर से ब्रजमोहन के मन में बारम्बार यही स्वर गूँज रहा था—'जब भैया जानते थे कि मैं देहात की बरातों में जाना पसन्द नहीं करता, तब मुझे यहाँ आने के लिए उन्होंने जो सब प्रकार से विवश कर दिया, इसका कोई ऐसा अर्थ अवश्य है, जिसको उन्होंने अपने मन में ही रख छोड़ा है।'

अब उससे भी न रहा गया। बोला—"मैंने तो दरवाज़ा देख कर ही समझ लिया था, भाग्य से ही किसी सम्पन्न घर का सम्पर्क मिल रहा है।"

गिरधारी की दुलहिन इन समस्याओं को सुनकर जिठानी के निकट जाकर धीरे से बोली—"जीजी, तुमको जिस बात की चिन्ता थी, वह आप-से-आप दूर हुई जाती है। मन में आता है, अभी देख आऊँ।"

कौशल्या और भी धीरे से बोली—"देख आना। ऐसी ज़ल्दी क्या है। इस समय तो वहाँ मुरारी के समधी भी हैं। फिर किसी मौके से जाना, या यहीं बुलवा लेना। आज तो बेचारा मोच के कारण कहीं आ-जा भी नहीं सकता।"

राजेश्वरी ने जब चाची को माँ के पास फुसफुसाते हुए देखा, तो उसे कुछ शंका हो उठी। वह इन बातों को जितना अधिक सुनती, उतनी अधिक चिन्तित होने लगती। 'ऐसी कौन-सी बात है, जो अम्मा और चाची इतने धीरे से करती हैं कि कोई सुन न सके।'

डाक्टर सिनहा घूमघाम कर लौट आये। तब मुरारी समधी के पास आते-आते उधर ही घूम गये। बोले—"डाक्टर साहब, बरात के दो अतिथियों को कुछ चोट आ गई है। जिनमें एक तो मेरे खास समधी ही हैं। सोचता हूँ, पहले हज़ारी नाऊ टार-टूर ले, जरा मालिश-वालिश कर दे, बाद में फिर आप भी मरहम-पट्टी करवा दीजियेगा।"

डाक्टर साहब जानते थे, गाँव के लोग पहला महत्व घरेलू चिकित्सा को ही देते हैं। अतः उन्होंने हँसते-हँसते कह दिया—"जैसा आप कहेंगे, हो जायेगा। वैसे मैं सेवा के लिए अभी से तैयार हूँ।"

मुरारी का जी न माना। वे पुनः समधी के पास जा पहुँचे—"आपकी राय का मेरे लिए सबसे अधिक महत्व है। डाक्टर साहब का कहना है 'मैं मरहम-पट्टी के लिए तैयार हूँ।' बुलाऊँ उनको? बिरजू बेटा, तुम तो शहर में रहते हो। तुमको डाक्टरी इलाज का अधिक अनुभव होगा। तुम्हारा क्या ख्याल है?"

इस समय राजेश्वरी बैठक के कमरे के ठीक पीछे वाले कमरे में थी। मुरारी बाबू का प्रश्न सुनकर उसे विदित हुआ कि कोई बिरजू बाबू हैं और अभी नवयुवक है।

ब्रजमोहन लेटा हुआ था। उसने उठने की चेष्टा करते हुए उत्तर दिया—"मौसिया, मैं नगर में अवश्य रहता हूँ। एलोपैथिक चिकित्सा पर विश्वास भी कम नहीं रखता पर पुरातन भारतीय चिकित्सा प्रणाली से मेरी ऐसी कोई विरक्ति नहीं कि अपने विषय के ग्रामवासी आचार्यों की छिपी हुई विद्याओं का लाभ उठाने में हिचकिचाऊँ। इसलिए मोच निकालने का पहला अवसर मैं नाई को ही देना चाहता हूँ।"

मुरारी हँसते-हँसते बोल उठे—"जब कभी मेरी राय से तुम लोगों की राय मेल खा जाती है, तब मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।"

ब्रजमोहन का यह उत्तर सुनकर राजेश्वरी की आलोचना आरम्भ हो गई—'भाषा अवश्य सांस्कृतिक है, पर समन्वयवादी जान पड़ते हैं।

नवयुग की मान्यताओं के प्रति प्रखरता के साथ निष्ठावान नहीं ।

'किन्तु वह व्यक्ति जनवादी मान्यताओं के प्रति निष्ठावान कैसे हो सकता है जो परम्पराओं और रूढ़ियों के नाते उन संयोगों से भी लाभ उठाने में कभी चूकता नहीं, आतिथ्य-स्वीकार के सिवा जिनका कोई महत्व नहीं है ।'

फिर इसी दृष्टिकोण से वह अपने लिए सोचने लगी—'मैं स्वत: भी ऐसे दलदल में पड़ी हूँ कि करना दूर रहा मन की भावना किसीसे कह तक नहीं सकती ।'

थोड़ी देर में अगवानी हुई । न सलोनेलाल उसमें सम्मिलित हो पाये, न ब्रजमोहन । हज़ारी नाई नौ बजे रात तक मालिश करता रहा । थोड़ी देर तक तो सलोनेलाल जगते रहे, फिर उन्हें एक झपकी लग गई । ब्रज-मोहन के पैर की मोच का दर्द बहुत कुछ थम गया । यद्यपि गाँठ में सूजन हो आई । मुरारी ने अन्त में डाक्टर साहब को बुलाकर दोनों की मरहम-पट्टी करवा दी ।

धीरे-धीरे जब दस बजे और द्वाराचार के बाद पौनछक आने का अवसर आया, तब तक दोनों को नींद आ गई थी । सलोनेलाल बड़ी मुश्किल से जगे भी, तो उन्होंने कुछ भी खाने से इनकार कर दिया । पर ब्रजमोहन ने साधारण नाहीं-नूहीं के बाद, सोने पंडित के आग्रह करने पर, अन्त में विवश हो बैठकर प्रेम से भोजन किया ।

अब सोने पंडित ने अपने लिए भी एक पलँग बीच में डलवा लिया—केवल इस विचार से कि आज न सही, पर कल तो राजेश्वरी से देखा-देखी करवाकर ब्रजमोहन को अनुकूल कर ही लेना है ।

ब्रजमोहन अर्धनिद्रित अवस्था में कभी-कभी सोचने लगता—'आज यह मोच वाली घटना क्या हो गई, मेरा तो लोम-लोम दुविधा में पड़ गया है । यह सोने पंडित अवश्य ही किसी ऐसी योजना के फेर में हैं, जिसका सीधा सम्बन्ध केवल मुझसे है । अन्यथा ये महाशय इतनी देर बाद अपना पलँग यहाँ कदापि न डलवाते ।'

रात में देर से नींद आने के कारण ब्रजमोहन कुछ देर से उठा। प्रात:काल हो गया था। उस समय दुलारे भैंस दूह चुका था। गाय दूहने गया था। पर आज वह बिचक गई। बिहारी पंडित के निकट जाकर गिरधारी ने कहा—"भैया मुरारी के यहाँ से चाय और नाश्ते का सामान अभी तक तो आया नहीं।"

बिहारी पण्डित स्नान कर चुके थे। अब माला जप रहे थे। एका-एक एक गुरिया पर उनकी अनामिका अटक गई। बोले—'मुरारी के यहाँ से सामान आने की प्रतीक्षा हमको नहीं करनी चाहिये। कोई अपने कर्तव्य पालन में देर कर दे, इसका यह मतलब तो नहीं कि हम भी देर कर दें।"

गिरधारी ने उत्तर दिया—"इसीलिए तो मैंने आपसे पूछा।"

बिहारी पण्डित बोले—"इसमें पूछने की क्या बात थी, राज की माँ सब कर लेगी ?"

ब्रजमोहन सोचने लगा—'इस घर में राज नाम का कोई लड़का भी है।'

गिरधारी अपनी भाभी के पास जा पहुँचे। बोले—"भौजाई, वो मुरारी के यहाँ से चाय और नाश्ते का सामान तो अभी तक आया नहीं।"

उनकी बात पूरी हुई थी कि उसी समय सोने पंडित आ पहुँचे। बोले—"भाभी कष्ट करने की कोई बात नहीं है। सामान आ गया।"

कौशल्या ने उत्तर दिया—"आ गया ? ठीक है; न भी आता, तो मैं तो यहाँ व्यवस्था कर ही रही थी।" फिर सोने पण्डित के पास जाकर धीरे से कहने लगीं—"मुझे सब मालूम है। सामान सब वनस्पति में बना है।"

सोने पण्डित व्यावहारिक आदमी थे। बोले—"तो क्या हुआ ? अब तो सभी जगह चलन है।"

कौशल्या ने अपनी सहज बुद्धि का परिचय देते हुए कहा—"सूत्रधार तुम हो। क्या यह अच्छा लगेगा कि ब्रजमोहन हमारे दरवाज़े पर ठहर-

कर वनस्पति से बनी हुई चीजें खायँ।"

सोने पण्डित प्रसन्नता से खिल उठे। बोले—"भौजाई, यह बात तो तुमने बहुत ठीक सोची। क्या बताऊँ, मुझे आते-आते देर हो गई कुछ। अच्छी बात है। एक काम करो कि देशी घी का थोड़ा-सा हलुआ बनवा लो। सूजी अगर घर में न हो, तो मैं ले आऊँ।"

यह बातें इधर हो ही रही थीं कि राजकिशोर की दुलिहन ने घूँघट के भीतर से खाँसते हुए कुछ ऐसा संकेत कर दिया कि कौशल्या उसके निकट जा पहुँची।

राजकिशोर की दुलहिन ने बताया कि सब चीजें मौजूद हैं। किसी बात की कमी नहीं है।

थोड़ी देर में जब सोने पण्डित ने जलपान की सामग्री ब्रजमोहन के सामने रख दी, तो उसने आश्चर्य के साथ कह दिया—"यह क्या? जल-पान तो मैं कर चुका। अभी-अभी मैंने चाय समाप्त की है।"

बिहारी पण्डित वहीं खड़े थे बोले—"तो क्या हुआ? वह सामान तुम्हारे मौसिया के यहाँ से आया था, पर तबतक देर होती देखकर कुछ सामान हमारे घर में भी बनना शुरू हो गया था। थोड़ा-सा तो है ही। जितना खाया जाय, खा लो।"

इतने में सोने पण्डित ने कह दिया—"बरात के सामान की बात और है। यह चीज़ घर की है। इसकी महिमा और है। वहाँ बरात में भीड़-भाड़ के लिए सामग्री बनती है और यह बात तुमसे छिपी नहीं है कि आज-कल काम-काज में वनस्पति का प्रयोग ज़्यादा होता है। यह चीज़ देशी घी की है। आपको पसन्द आयेगी।"

ब्रजमोहन बिना कुछ कहे चम्मच उठाकर हलुआ खाने लगा।

इतने में सोने पंडित ने दूसरी ओर देखते हुए कह दिया—"समधी जी चले गये?"

बिहारी पण्डित ने जवाब दिया—"हाँ, रात में जब कई बार लोगों को यहाँ दौड़ना पड़ा, तब पालकी में बैठकर, गिरदा इधर-उधर लगाकर उन्हें जाना ही पड़ा। बात यह है सोने, तबियत चाहे मौज में हो, चाहे तकलीफ़ में, सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित काम-काज अपने ही किये होते

हैं। फिर जब उनकी जाने की इच्छा ही थी, तो मैं उनको रोक ही कैसे सकता था!"

इतने में ब्रजमोहन बोल उठा--"जाना तो मुझको भी पड़ेगा।"

बिहारी पण्डित बोले--"तुम्हारे पैर में अभी इतनी तकलीफ़ है कि नित्यकर्म के लिए बाहर जाने में तो देह में पसीना आ गया। फिर वहाँ सबके साथ रहने में तुम्हें तकलीफ़ भी तो होगी। आज खाने की ही बात है। हम जानते हैं कि वहाँ पूड़ियाँ खानी पड़ेंगी, वो भी कल की। और रोज़-रोज़ पूड़ियाँ खाने से तुम्हारी तबियत ख़राब हो गई तो? मैंने रात में तुम्हें कई बार खाँसते सुना है, लगता है, तुम्हारे गले में खरास पैदा हो गई है।"

इतने में मुरारी आ गये। ब्रजमोहन के पास आते ही उन्होंने पूछा--"मोच का क्या हाल है?"

ब्रजमोहन ने जवाब दिया--"मौसिया अभी तो तकलीफ़ ही है।"

मुरारी बोले--"तो फिर तुम्हारा क्या इरादा है? यहीं रहोगे या घर चलोगे?"

ब्रजमोहन को बोलने का अवसर न देकर बिहारी पण्डित बोल उठे--"डाक्टर साहब ने कहा था कि मैं अभी देखूँगा। अगर दर्द बन्द न हुआ, तो सम्भव है सुई भी लगायें। वैसे कोई बात न थी। पर तुम्हारा घर यहाँ से काफ़ी दूर है। डाक्टर साहब को बख़्त-बे-बख़्त जो आना पड़ गया, तो उन्हें भी दिक्कत हो सकती है।"

मुरारी ने कहा--"हाँ यह तो तुम ठीक कहते हो। घर के सब लोग पूछ रहे थे, इसलिए मैंने कहा।"

बिहारी पण्डित ने उत्तर दिया--"अच्छा ऐसा करो कि अभी डाक्टर साहब देख लें, तब ब्रजमोहन की अगर इच्छा हो, तो चलें जायँ। मगर फिर इनके खाने का क्या प्रबन्ध होगा? तुम्हारे यहाँ तो पूड़ी का ही इन्तज़ाम हो रहा होगा।"

मुरारी विचार में पड़ गये। बोले--"भाई, जैसा प्रबन्ध सबके घरों में होता है, वही हमारे घर में भी हुआ है। बिरजू तो अपने घर का लड़का है। हम तो अपने मान्य लोगों के लिए भी विशेष प्रबन्ध नहीं

कर पाते ।"

"सो तो ठीक है," बिहारी पण्डित बोले—"मगर बुरा न मानो तो एक बात कहूँ ? साधारण परिस्थिति की बात दूसरी है । लेकिन जब तबियत ख़राब हो, तब तो खान-पान में विशेष ध्यान रखना ही पड़ता है । भगवान न करे कि ऐसा हो; लेकिन कल को अगर बिरजू का पेट ख़राब हो जाय तब हो, तो उस दशा में, पैर में मोच होने पर, वह दस्तों के लिए कैसे दौड़ेगा ?"

मुरारी निरुत्तर हो गये । बोले—"अच्छी बात है । ऐसी हालत में, कम-से-कम आज तो बिरजू तुम यहीं रहो । कहीं मत जाओ और हिलो-डुलो तक नहीं । भगवान चाहेगा, तो शाम तक सूजन और पटक जायगी । और बिहारी भाई, इनके खाने के लिए आज यहीं प्रबन्ध कर लीजियेगा ।"

कथन के साथ वे पहले चल खड़े हुए, फिर कुछ सोचकर तुरन्त रुक गये ।

पूछा—"चाय और नाश्ता आ गया था ?"

सोने पंडित ने कह दिया—"वह तो आया ही था । फिर यहाँ से भी बनकर आ गया । क्योंकि तब तक एक-आध चीज बना ली गई थी ।"

मुरारी हँसने लगे । बोले—"यह मैं पहले से ही जानता था । ख़ैर, अब मैं बिरजू की ओर से बेफ़िकर हूँ । वैसे अभी बैठता, पर रात भर जागकर कोरी आँखों भोर किया है । इसलिए···

बात बीच में अधूरी छोड़ मुरारी दूसरी ओर दृष्टि डाल बोल उठे—"ये लो, दरोग़ा बेटा भी आ गये ।"

ये राजकिशोर बाबू थे । चरण-स्पर्श के उत्तर में 'सुखी रहो' आशीर्वाद के साथ मुरारी ने कहा—"कल से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ । सामान कहाँ है ?"

राजकिशोर ने उत्तर दिया—"सामान स्टेशन पर ही छोड़ आया हूँ दादा । सवारी कोई देख न पड़ी, तब सोचा—असिस्टेन्ट स्टेशन मास्टर की साइकिल से ही क्यों न चला जाऊँ ।"

"अच्छी बात है" कहते हुए मुरारी बोले—"घंटा-आध-घंटा ठहरकर हमारे यहाँ आ जाना । खाना वहीं खाना पड़ेगा; अच्छा ।"

पर राजकिशोर बाबू सोने पंडित और पिता के साथ बातचीत में इतने उलझ गये कि फिर कोई उत्तर न दे सके।

ब्रजमोहन सोच रहा था—'भैया ने मुझे यहाँ व्यर्थ नहीं भेजा। आज न सही, कल सही। मालूम तो हो ही जायगा।'

राजकिशोर ने अन्त में बतलाया—"डाके वाले दो नवयुवकों का पता चल गया है। उनमें एक तो कोई कैलाश है और दूसरा भी अच्छा-सा नाम है। बस, अब वारण्ट निकलने ही वाले हैं।"

राजेश्वरी को माधुरी से मिलते समय कभी-कभी विजय का भी ध्यान हो आता। स्मरण आते क्षण अब भय नहीं होता था, होता था एक पश्चात्ताप कि उस नृशंस बर्बरता का मुख्य आधार मैं स्वयं थी। आखिर उसमें ऐसी बुराई ही क्या थी जो मैंने उसकी अवमानना की? पर अन्तस से वह अब भी यह स्वीकार न करना चाहती थी कि उसका प्रतिकार यही होना चाहिये था। ज्यों-ज्यों दिन चलते जाते थे, त्यों-त्यों विजय के प्रति उसकी प्रतिक्रिया मन्द पड़ती जाती थी। और यह बात तो वह पचासों बार सोचती थी कि कुछ भी हो, उनकी सांस्कृतिक निष्ठा में कोई कमी नहीं है। दूसरा कोई होता तो उस स्थिति में कोई कसर बाकी न रखता।

इस सहानुभूति की निष्ठा-विधा तब और भी प्रदाहमयी बन जाती, जब वह सोचने लगती—'अच्छा, क्या यह सम्भव नहीं कि जिसने मेरे रूप का सारा वैभव उच्छिष्ट बनाकर छोड़ दिया है, आशा के आँगन में कभी-न-कभी, चिरन्तन मिलन भी उसीके साथ हो। वह मानव हो कि दानव, मुझे इससे कोई मतलब नहीं।'

माधुरी का विवाह ऐसे लड़के से हो रहा था, जो श्रम-विभाग में पत्रकार था। उसका वर्ण श्याम था और शरीर दुर्बल; पर उसकी आँख बड़ी थीं। जब वह मुसकराता, तो उसकी भंगिमा से ऐसा प्रतीत होता, मानो वह किसी विसंगति का आभास पाकर हँस रहा हो।

राजेश्वरी ने जब उसे देखा, तो वह मन-ही-मन हँसती रही। जब

माधुरी से उसने अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, तो वह समझ गई—'राजेश्वरी को वे पसन्द नहीं आये।'

लेकिन माधुरी इस चुनाव से पूर्ण सहमत थी। वह एक पत्रकार के महत्व को समझती थी। और उसे विश्वास था कि कुछ भी हो, उसके साथ मेरी मर्यादा-वृद्धि तो होगी—सम्मान तो मुझे मिलेगा।

इसके अतिरिक्त उसके मन के भीतर कहीं यह बात भी छिपी हुई पड़ी थी कि जिस नारी के पति का व्यक्तित्व, रूप और आच्छादन असाधारण रूप से आकर्षक होता है, उसका जीवन सदा संशय-ग्रस्त और दुखी रहता है। कदाचित् उसका मत था कि असाधारण सौन्दर्य चाहे पुरुष का हो, चाहे स्त्री का, स्वयं अपनी सीमाओं में विलय होकर नहीं रह सकता। राजेश्वरी से उसकी आत्मीयता अवश्य थी, पर यह बात एक दुविधा के रूप में अब भी उसके मन में बनी हुई थी कि डाका डालनेवाले युवकों में से किसी एक से उसका पूर्व परिचय भी कदाचित रहा हो। क्या हुआ, क्या नहीं हुआ, इस विषय में मतभेद हो सकता है, पर इसमें दो मत नहीं हो सकते कि वह राजेश्वरी से चिढ़ा हुआ रहा होगा।

माधुरी की इस मान्यता का एक आधार भी था। राजेश्वरी की इस प्रकृति से वह परिचित थी कि कोई भी व्यक्ति हो, यदि वह बिना किसी विशेष प्रयोजन के उससे मिलने अथवा बात करने की चेष्टा करता है, तो वह अपनी क्षुब्ध अनासक्ति व्यक्त किये बिना नहीं मानती।

गाँव में कई ऐसे अवसर आ चुके थे। कई वर्ष की बात है, एक बार गेंदासिंह के घर में विवाह था। गाँव भर की बहू-बेटियाँ आमन्त्रित थीं। राजकिशोर की दुलहिन भी उसमें सम्मिलित हुई थीं। पर राजेश्वरी घर में उपस्थित रहने पर भी गेंदासिंह के घर झाँकने नहीं गई। कालान्तर में वह जब मुरारी के घर, सत्यनारायण की कथा के अवसर पर, आँगन में खड़ी देख पड़ी, तो कहीं गेंदासिंह ने कह दिया—"हमारे घर नहीं आती राज बेटी? वैसे कभी न आओ, तो कोई बात नहीं; पर काम-काज में तो आना ही पड़ता है।"

प्रश्न सुनकर राजेश्वरी विचार में पड़ गई। आक्षेप उचित था, यह वह भी स्वीकार करती थी। अब क्या उत्तर दे, इसी असमंजस में उसने

कह दिया—"सभी काम-काजों में; सबके घर आना-जाना सम्भव नहीं है।"

माधुरी पीली धोती पहने बैठी थी। पैरों में महावर की लाली और हथेलियों में हरिद्रा रंजित थी। ग्रीवा, कर्ण, कलाइयाँ तथा पैर आभूषणों से सुशोभित थे। आँखें उनींदी थीं। जान पड़ता था नींद नहीं आई।

राजेश्वरी आते ही पास बैठती हुई बोली—"वाह: क्या कहने हैं! कहीं पाण्डेय जी इसी रूप-सज्जा में पा जायँ, तो मज़ा आ जाय।"

पहले माधुरी संकुचित हो उठी, फिर कुछ सोचकर बोली—"क्या करूँ, तुम्हीं बताओ। जो रीतियाँ हमारे समाज में युग-युग से प्रचलित हैं ऐसे अवसरों पर उन्हें मानना तो पड़ता ही है। फिर स्वयं मुझे भी कम कुतूहल नहीं होता। बिरजू भैया कह रहे थे—बड़े भाग्य से यह दिन आता है। कम-से-कम यही समझकर तुमको अनुराग के साथ सारे परिणय-कृत्य सम्पन्न करने चाहियें कि ऐसा अवसर जीवन में केवल एक बार आता है।"

"कौन बिरजू भैया?" राजेश्वरी ने एकाएक प्रश्न कर दिया।

"अरे! तुमने बिरजू भैया को अब तक देखा ही नहीं!"

"क्यों, उनको देखने की बात तुम्हारे मन में उठी कैसे?"

"यों ही मैंने कहा। वैसे चाहे न भी कहती, पर वे अभी कल तक तो तुम्हारे ही घर ठहरे हुए थे।"

"होंगे, मैंने ध्यान नहीं दिया।" उत्तर के साथ राजेश्वरी गम्भीर हो गई। —'वह यह कैसे कह सकती है कि उसने बिल्कुल ध्यान नहीं दिया।'

राजेश्वरी की यही बातें माधुरी को सुहाती न थीं। अतः उसे कहना पड़ा—"ध्यान क्यों नहीं दिया—और ध्यान गया क्यों नहीं, मुझे इसी पर आश्चर्य्य हो रहा है।"

"आश्चर्य्य की इसमें क्या बात है? जो भी व्यक्ति मेरे घर आये, या ठहरे, उस पर ध्यान देने में जैसे मैं कोई लाभ नहीं देखती, वैसे ध्यान न देने में कोई हानि भी नहीं अनुभव करती। और परिचय भी तो तभी किया जाता है, जब उसकी आवश्यकता होती है।"

माधुरी की शिक्षा इण्टरमीजिएट के आगे न बढ़ पाई थी। किन्तु पत्र-पत्रिकाएँ वह बराबर पढ़ती रहती थी। इस कारण उसका साधारण

ज्ञान धीरे-धीरे उच्च स्तर को छूने लगा था। अतः इस अवसर पर उसने स्पष्ट कह दिया—"बस दीदी, तुम्हारा यही गर्वीला स्वभाव मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं तो यह सोच ही नहीं सकती कि जीवन के प्रति ऐसी उदासीन वृत्ति रखकर कोई आदमी जी ही कैसे सकता है।"

यह एक ऐसा उत्तर था, जो राजेश्वरी की अन्तश्चेतना से जा लगा। यही तो उसकी वास्तविक समस्या है। यही वह व्रण है, जो न टपकना जानता है, न फूटना। एक टीस-सी सदा होती रहती है। न बढ़ती, न मन्द पड़ती, न शान्त होती।

इतने में इधर-उधर से घूमता हुआ आ पहुँचा ब्रजमोहन। पर द्वार तक आते-आते माधुरी से भी अधिक परिपक्व यौवना, रूप-राशि की उर्वशी, अनंगलता-सी नारी को पास बैठा देखकर एकाएक ठिठुक गया।

संयोग से राजेश्वरी के नयन-मीन ब्रजमोहन से जा मिले और ब्रज-मोहन की तपन भरी अपलक आँखें उसकी देह-यष्टि की अगम कमनीयता देख धन्य हो गई। —'हाँ, यह है मेरी उत्तरा-सी मोहक नारी!'

'लेकिन जो भी नारी मेरी उत्तरा-सी मोहक हो, क्या यह आवश्यक है कि वह मुझे मिल ही जाय? एक तो मैं वैसा अछूता वर नहीं रह गया। कौन जाने यही बात इस परिणय में व्याघात बन उठे! फिर हमारी सामाजिक मान्यताएँ और विधियाँ! मेरी ओर से भी प्रस्ताव होने से रहा।'

क्षणमात्र में ब्रजमोहन आत्मगत हो उठा—

'और बिहारी पण्डित की पारिवारिक महत्वाकाँक्षाएँ।'

त्वरा से राजेश्वरी उठने को हुई। बोली—"अब चलूँगी माधुरी।"

माधुरी उसकी उड़ते हंसों की किनारी वाली दुग्ध-श्वेत साड़ी का छोर पकड़ती हुई बोली—"बैठो-बैठो। तुम्हारा परिचय करा दूँ। यही हैं मेरे बिरजू भैया।" फिर ब्रजमोहन को लक्ष्य कर कह दिया—"चले आओ, चले आओ। यह मेरी बाल जीवन की सखी राज दीदी है। पूरा नाम है राजेश्वरी।"

फ़र्श पर एक बड़ी दरी बिछी हुई थी। ब्रजमोहन थोड़े अन्तर से बैठ गया।

पहले माधुरी ने पूछा—"पैर की मोच का क्या हाल है ?"

ब्रजमोहन ने मुसकान के ब्याज में उत्तर दिया—'मोच तो खैर ठीक हो रही है। पर इसके कारण जबाव देते-देते तबियत में एक खरोंच-सी पड़ी जा रही है। लगता है, मुझसे पूछने को केवल एक यही प्रश्न लोगों के पास रह गया है।"

माधुरी हँस पड़ी और राजेश्वरी हँसती-हँसती मुसकान की धार पर ठहर गई। रूमाल अधरों मे जा लगा।

माधुरी बोली—"देखा, बिरजू भैया की हर बात में एक व्यंग्य रहता है ?"

राजेश्वरी के मन में आता था—'वह भी कोई प्रश्न करे। न प्रश्न करे, तो प्रसंगानुकूल कोई बात ही कहे।'

गौरेया का एक जोड़ा उस समय सामने द्वार की देहरी पर बैठा फुदकने लगा—और चोंच-में-चोंच भिड़ाकर क्रीड़ा-रत कपोत-दम्पति पंख फड़फड़ाते हुए उड़ गया।

राजेश्वरी ने उसे लक्ष्यकर कह दिया—"मैं जब कभी बीमार पड़ती हूँ, तो भैया अगर कहते हैं—अब इसको कोई ठंडा पानी न देना, तो भाभी उसके स्वर-में-स्वर मिलाकर कहने लगती हैं—तुम कहो तो कमरे में अँगीठी सुलगा दूँ, जिससे पानी के साथ-साथ हवा भी ठण्डी न मिले।"

राजेश्वरी के साथ-साथ माधुरी खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली—"देखा भैया, तुमने तबियत में खरोंच पड़ने की बात कही, तो दीदी ने भाभी के माध्यम से कितना मधुर अनुमोदन सुझा दिया। प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० किया है इसी वर्ष।"

ब्रजमोहन बोल उठा—"तभी मन-ही-मन सोच रहा था और भी कहीं देखा है शायद। अब ख्याल आ गया—वहीं देखा होगा। अगर मैं भूलता नहीं, तो कदाचित् निबन्ध-प्रतियोगिता में—किसी कारण वश सर्वप्रथम होते-होते अन्त में द्वितीय हो गई थीं। फ़ोटोग्राफ़ भी किसी पत्र में निकला था। निकला था न ?"

स्वीकारोक्ति में राजेश्वरी पहले पुलकित हो उठी, फिर रूमाल अरुणारे अधरों से लग गया।

अब ब्रजमोहन बार-म्बार यही सोचने लगा—'अच्छा, जो विवाह अब तक तै न हुआ हो, तो ?—पूछना भी-गुनाह होगा।'

उसे उस समय विजय का स्मरण हो आया—'वह तो कभी इस बात का विचार करता नहीं। शची भाभी जब उसका समादर करने लगती हैं, तो वह पन्ना को भी एक ओर उठाकर रख देता है।···अच्छा, यदि राजेश्वरी का विवाह किसी अन्य व्यक्ति के साथ हो गया, तो ?'

तब भी वह उसके सम्पर्क में आकर रहेगा।

इसी समय बनवारी की दुलहिन आ गई। बोलीं—"अरे बिरजू बेटा, तुमने अभी तक खाना नहीं खाया।"

ब्रजमोहन चौंक पड़ा। बोला—"ओ; खाना ! मगर खाना तो मौसी मेरा शायद बिहारी मौसिया के घर बन रहा है। मैं निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता, कानों में जो स्वर पड़ते रहे हैं, उनका अभिप्राय मैं यही समझने की धृष्टता कर रहा हूँ। हाँ, यह बात दूसरी है कि राजेश्वरी मुझे अपने घर खिलाने को राजी न हो—और चुपके-चुपके उसी ने मेरी पतंग काट दी हो ! क्यों ?"

कथन के अन्त का प्रश्न सूचक शब्द उसने राजेश्वरी की ओर उन्मुख होकर कह दिया।

ब्रजमोहन के इस कथन पर राजेश्वरी का लोम-लोम तरंगित हो उठा। तभी बनवारी की दुलहिन रंग-ढंग देखकर बोल उठीं—"अच्छा तो है। वहीं सही। पर राजो बेटी, अब बिरजू को खाना खिलाने में और अधिक देर-दार मत कर।"

मन-ही-मन प्रसन्नता से पुलकित किन्तु ऊपर से संकोच में विजड़ित राजेश्वरी उठकर खड़ी हो गई। बोली—"चलती हूँ माधुरी।"

माधुरी प्रसन्नता से उछल पड़ी। द्वार तक साथ-साथ चलती हुई यह देखकर ठिठुक गई कि ब्रजमोहन आगे हो गया है। फिर राजेश्वरी के कान के पास मुँह ले जाकर चुपके से कह दिया—"ऐसा संयोग जीवन में बड़े भाग्य से मिलता है दीदी।"

अपनी फाँक जैसे नयनों की कोरों से बाण चलाती हुई राजेश्वरी ने उल्लसित वाणी में कह दिया—"दुत् ! पगली कहीं की !!"

ब्रजमोहन उस समय सोच रहा था—'ये परिस्थितियाँ ही हैं, जो सुख का तुरन्त सृजन कर उठती हैं। उन्हें किसी से सलाह लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु जो हमारे मन, प्राण और आत्मा के अतल लोक तक को उन परिस्थितियों के अनुकूल बना देता है, वास्तव में सुख का मूल सृजनहार तो वही होता है ! ओ मेरे युग-युग के सृजनहार, राजेश्वरी को मेरी हृदयेश्वरी बना दे, तो तेरी यह कृपा मैं जीवन भर न भूलूँगा।'

थोड़ी देर बाद बिहारी पण्डित के घर में चतुर्दिक एक बिजली-सी दौड़ गई। ब्रजमोहन जब खाने बैठा, तो गिरधारी की दुलहिन ने थाली में खाना परोसकर उसके आगे रख दिया और राजकिशोर की दुलहिन निकट बैठकर पंखा झलने लगीं।

कौशल्या उस समय माला फेर रही थी और राजकिशोर का बच्चा राजेश्वरी की गोद में बैठा उसके मुँह में अँगुली डालता हुआ किलकारी मार रहा था।

इस समय पंखा झलती हुई राजकिजोर की दुलहिन अपना हार्दिक उल्लास छिपाती हुई कहने लगीं—'यह राजेश्वरी बिटिया भी ब्याहने योग्य हो गई है। तुमने देखा ही होगा। इसके लिए कोई लड़का बतलाना लला।"

ब्रजमोहन की समझ में न आ रहा था, यह मामला क्या है ! प्रस्ताव सुनकर वह एकाएक गम्भीर हो गया।

: १६ :

वास्तव में ब्रजमोहन को इस निमन्त्रण में सम्मिलित होने में कोई आकर्षण न था। किन्तु उस दिन जब बरात वापस जाने लगी, तो उसे भी चल देना पड़ा। यद्यपि अब मत बदल गया था। जी में आता था—'काश कहीं किसी प्रसंग से राजेश्वरी देखने को मिल जाती। चलते समय और तो सभी लोगों से भेंट हो गई, पर राजेश्वरी की एक झलक देखने को आँखें तरसती रह गई।'

ब्रजमोहन स्टेशन जा रहा था। कुछ नया-नया-सा उसके मन को छू रहा था। मानस के सूत की उलझी हुई पिंडी का एक-एक तार सुलझता जान पड़ता था—

'माधुरी वैसे अच्छी लड़की है, बड़ी हँसमुख। बात-बात में भइया-भइया कहते उसकी जिह्वा नहीं थकती। चलते समय बेचारी कुछ उदास जान पड़ती थी। वैसे बहुत बात नहीं करती थी, फिर भी लगता था, प्रसन्न है। विशेष रूप से उस समय जब मैं उसके कमरे में पहुँच गया था। वह घड़ी मुझे बहुत प्यारी लगी।

'पर राजेश्वरी की बात ही और है। बात करते समय बहुत संयत रहने की चेष्टा करती थी। होंठों को दबाकर कभी-कभी रूमाल से ढककर मन के मर्म को छिपाने की शैली में बड़ी प्रवीण थी। अन्य गुणों की बात मैं नहीं जानता, लेकिन जहाँ तक रूप का सम्बन्ध है, उत्तरा से किसी प्रकार कम नहीं है। मौसी ने कहा—खाने को देर हो रही है—तो झट साथ चल पड़ी। फिर रास्ते भर मौन रही। मैं प्रतीक्षा ही करता रह गया कि अब कुछ कहती है, अब बोलती है। मुझे उसका यह संयम कभी न भूलेगा।'

सेजगाड़ी में इस बार भी पंडित सलोनेलाल साथ में थे। कमर में विशेष दर्द नहीं रह गया था, किन्तु अभी अधिक नहीं चल पाते। सवारियाँ

जब चल पड़ीं, तो उन्होंने गाड़ीवान से कहा—"देखो गाड़ीवान, बहुत धीरे-धीरे ले चलो। अन्य परोहन अगर आगे जाते हैं, तो जाने दो।"

गाड़ीवान ने कह दिया—"मालिक, हमें मालूम है। बड़े भइया ने हमसे कह भी दिया था। फिर पंडित सलोनेलाल बोले—"बिरजू बेटा, संकोच मत करो। पैर पसार लो। हाँ, अब ठीक है। आज कुछ बदली जान पड़ती है। हम स्टेशन पर पहुँच जायँ, तब पानी बरसे, तो ठीक होगा।"

पहले आदमी अपना ही हित देखता है।

ब्रजमोहन ने कह दिया—"ब्याह तो बिलकुल ठीक रहा। आपको मिला भी खूब।"

थोड़ा मुँह बनाकर सलोनेलाल बोले—"हाँ ठीक रहा। उतना ठीक तो नहीं रहा, जितना हम सोचते थे, लेकिन बरात वाले संतुष्ट रहे, यह भी कम नहीं। हमसे एक ग़लती भी हो गई, पर अब क्या हो सकता है।"

"ग़लती कैसी ?" ब्रजमोहन ने पूछा।

सलोनेलाल ने उत्तर दिया—"इस गाँव में सबसे अच्छा घर बिहारी पंडित का है। उनके यहाँ एक लड़की ब्याहने योग्य है भी। लड़की हमें पसन्द आई। खैर कोई बात नहीं, जो हो गया, सो हो गया। अपने-अपने भाग्य की बात है। देखो, उसका भाग्य कहाँ ले जाता है। तुम्हारे मौसिया कुछ कहते तो नहीं थे ?"

उस समय ब्रजमोहन की मनस्थिति कुछ इस प्रकार की हो रही थी कि उसे बिहारी पंडित के घर की बात सुनकर ही सुख मिलता था··· 'लेकिन राजकिशोर की दुलहिन ने कल जो मुझसे आग्रह किया—कि इसके लिए कोई अच्छा-सा लड़का बताना। यह बात कुछ समझ में नहीं आ रही है। उन्होंने मुझसे क्यों कहा ? मुझसे उनका कोई नाता नहीं, सम्बन्ध नहीं। मिलना-जुलना भी अब शायद ही हो। आगे भी मैं यहाँ क्यों आने लगा ! पत्र-व्यवहार मुझसे कोई क्यों करने लगा। मेरी ऐसी प्रवृत्ति नहीं कि मैं अपनी ओर से उन्हें पत्र लिखूँ।' तभी एकाएक सलोने-लाल का प्रश्न सुनकर चौंक पड़ा। बोला—"ऐं ! मौसिया ? हाँ, यही कह रहे थे, कि मैंने उन्हें संतुष्ट करने में कोई कोर-कसर नहीं रखी। फिर भी

उनको संतोष न हो, तो मैं क्या करूँ ?"

इतने में घोड़े पर सवार सामने आ गये सोने पंडित। बोले—"कहिये, बिरजू बाबू चित्त तो आपका प्रसन्न है ?"

ब्रजमोहन फिर चौंक पड़ा।—'इनके इस प्रश्न का क्या मतलब होता है ? मैं प्रसन्न हूँ कि अप्रसन्न। इस बात का इनके साथ सम्बन्ध ? मुझको तो सब मिलाकर यह एक पहेली-सी जान पड़ती है।' अतः बेमन से उत्तर दिया—"क्या मैं कभी आपको अप्रसन्न भी दिखलाई पड़ा हूँ ?"

सोने पंडित कुछ संकोच में पड़ गये। थोड़ा अटकते हुए-से बोले—"अ-अ-जैसे आपको कुछ तकलीफ़ तो हो ही गई थी।"

"हाँ, यह तो आपने ठीक कहा। पर यह भी मानना पड़ेगा कि तकलीफ़ इतनी नहीं हुई, जितनी उसके निवारण की व्यवस्था।"

सोने पंडित बोले—"बिहारी भइया, आदमी नहीं हीरा है। आपकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे।"

"अच्छा !"

आश्चर्य्य से ब्रजमोहन सोचने लगा—'इन्होंने मौसिया का नाम नहीं लिया।' फिर पूछा—"मेरी प्रशंसा का ऐसा कौन-सा अवसर आ गया वहाँ ?"

सड़क सीधी स्टेशन को जाती है। भूमि भी समतल है किन्तु राज-पथ और पगडंडी में थोड़ा अन्तर तो रहता ही है। उस अन्तर की पूर्ति कर घोड़े की रास थामे सेजगाड़ी से लगकर सोने पंडित ने उत्तर दिया—"अवसर की बात नहीं। जग की यही रीति है। जैसे एक आप हैं, एक हम हैं। बिना परिचय के आप रास्ते में मिल जायँ, अथवा बस या रेल के डिब्बे में पास-ही-पास बैठने का अवसर पा जायँ, तो आपको मुझ-से बात करने का उत्साह हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। और एक मैं हूँ कि आपसे परिचय होता या न होता, यह एक अलग बात है। पर मैं तो आपसे बिना बात किये मान नहीं सकता था तात्पर्य यह है कि गुण की पूजा सर्वत्र होती है। क्यों दादा ? झूठ कहता हूँ ?"

कथन के साथ समर्थन की आशा से वे पंडित सलोने लाल की ओर देखने लगे !

पंडित सलोने लाल को यह बात भूलती न थी कि अगर ये महाशय चाहते तो सम्बन्ध बिहारी पंडित के यहाँ नहीं करवा सकते थे ? अतः कुछ अन्यमनस्क होकर बोले "भाई कहते तो ठीक ही हो। पर तुम्हारा मर्म कभी कोई पा नहीं सकता। इस बात को जाने दो, यह एक अलग बात है। वैसे तुम्हारा कहने का कुछ ढंग ही ऐसा है कि अन्दर से थोड़ी बहुत बनावट भी हो, तो कोई भाँप नहीं सकता।"

सलोनेलाल का इतना कहना था कि सोने पंडित हँस पड़े। बोले—"यह आपका मेरे साथ अन्याय है। मैने कभी आपसे कोई बनावटी बात नहीं की। आपको मुझसे कोई शिकायत हो तो बताइये। जो दहेज में हुआ था, उसमें एक पाई शेष रह गई हो तो उसे भी मुझसे अभी ले लीजिये।"

ब्रजमोहन सोच रहा था—'मुझे भी दादा का कहना सही जान पड़ता है। सोने पंडित कितनी गहराई से बात करते हैं। सहसा कोई आदमी यह बात जान नहीं सकता। मैं स्वयं भी इसी फेर में हूँ। आखिर इनकी सब बातों का मतलब क्या है ? पहले कहा, बिहारी पंडित आपकी प्रशंसा कर रहे थे, फिर स्वयं उनकी प्रशंसा करने लगे। इस आदमी को मैं निशाचर तो नहीं कह सकता, पर गोस्वामी तुलसीदास जी की यह चौपाई इन पर घटित खूब होती है—जानिन जाय निशाचर माया।'

पंडित सलोने लाल ने उत्तर दिया—"अब इस बात को इस समय जाने ही दो सोने। और शिकायत भला मैं तुमसे क्या करूँगा। जो भाग्य में था, वह मिल गया। मेरा मतलब तुम—अभी समझ नहीं पाओगे। कभी मैं स्वयं तुम्हें बताऊँगा।"

थोड़ी देर में स्टेशन आ गया। प्लेटफार्म पर पहुँचते-पहुँचते सिगनल डाउन हो गया। थोड़ी देर में गाड़ी भी आ गई। बरात सुभीते से चढ़ गई और सामान भी जैसे-तैसे गाड़ीवानों ने मिलकर रखवा दिया गया।

इतने में सोने पंडित ने ब्रजमोहन से आकर कहा—"आपकी कोई विशेष सेवा नहीं हो सकी। इसी बात का मुझको बारम्बार ख़याल आ रहा है।"

ब्रजमोहन ने पूछा—"आप तो साथ चल रहे हैं न ?"

सोने पंडित ने उत्तर दिया—"नहीं। मैं तो आप लोगों को भेजने आया था। अब मैं दो-एक दिन बाद आऊँगा। मुझे शिवमोहन से भी कुछ बातें करनी हैं ? आप तो अभी वहाँ रहेंगे न ?"

ब्रजमोहन फिर दुविधा में पड़ गया।—'मेरा कार्यक्रम ये क्यों जानना चाहते हैं ? और भैया से भी इनको क्यों मिलना है ?'

पर इस बार साहस करके वह पूछ ही बैठा—"सच-सच बतलाइये, पंडित जी महाराज, देवतास्वरूप इन तीन-चार दिनों से जो कछ मैं देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, यह सब क्या है ?"

सोने पंडित हँस पड़े और दायें हाथ की तर्जनी से अपनी मक्खी-मूँछ को कुरेदते हुए बोले—"सब मालूम हो जायगा।"

गाड़ी जब चल पड़ी तब भी सोने पंडित गाड़ी के साथ-साथ प्लेट-फार्म पर चलते हुए बोले—"पर आपने बताया नहीं कि इन दिनों आप का चित्त प्रसन्न तो रहा ?"

विवश ब्रजमोहन के मुँह से निकल गया—"कैसे कहूँ कि चित्त प्रसन्न नहीं रहा। लेकिन आप हैं खूब। मैं आपको मान गया, अच्छा नमस्कार।"

सोने पंडित अब हट गये।

गाड़ी कुछ तेज़ हो गई थी।

चौथे दिन सोने पण्डित ने जब हरिमोहन के घर में प्रवेश किया, तो सामने ही उनको एक गैया बछड़े को दूध पिलाती देख पड़ी। तुरन्त उनके मुँह से निकल गया—"चलो, आते ही शकुन तो हुआ।"

ब्रजमोहन की माँ उस समय तुलसी के घरुए में सूर्याञ्जलि दे रही थीं। शिवमोहन का बच्चा रामू किताब सामने रखे पढ़ रहा था—"त में आ

की मात्रा ता और न=तान" गुनगुनाते हुए शिवमोहन बाबू अपने कमरे में बैठे, ट्रंक खोले हुए, कपड़े सम्भाल रहे थे। एकाएक जो सोने पण्डित को देखा तो बोले—"आओ, आओ सोने।"

सोने पण्डित ने आगे बढ़कर शिवमोहन के चरण-स्पर्श कर लिये। खड़ी चारपाई के ऊपर एक पुरानी दरी पड़ी हुई थी; आशीर्वाद-कथन के साथ उसी को हाथ बढ़ाकर, खींचकर पास ही बिछा दिया। तब सोने पण्डित उसी पर बैठ गये। तबतक शिवमोहन की माता निकट आकर खड़ी हो गई। बोलीं—"क्या कर आये सोने बेटा ?"

सोने पण्डित ने उनके भी चरण छू लिये, फिर उत्तर दिया—"जो करना था, सो कर आये। वैसे तो बिहारी पण्डित की हालत बहुत अच्छी थी, पर पिछले वर्ष उनके यहाँ डाका पड़ गया। इसलिए मिलना-मिलाना तो वाजिबी-वाजिबी ही होगा। मगर लड़की स्वभाव की बहुत भली और सुन्दरी तो हज़ारों में एक है। यह बात हम पहले भी कह चुके हैं।"

शिवमोहन की माँ ने कह दिया—"बिरजू को पसन्द आये तब जानो।"

सोने पण्डित मुस्कराने लगे। बोले—"अब चाची तुमको क्या बतावें! हमने दोनों को आमने-सामने कर दिया और एक दूसरे से परिचय भी करवा दिया।"

शिवमोहन ने पूछा—"मगर अब तक उसका कोई पत्र नहीं आया मेरे पास !"

सोने पण्डित बोले—"पत्र भी आता होगा, घबराओ नहीं।"

तबतक शिवमोहन की माँ बोल उठीं—"और लेन-देन के विषय में कुछ बात नहीं हुई ?"

सोने पण्डित ने उत्तर दिया—"तय तो तुम्हीं करोगी चाची। बिरजू का पत्र आ जाय और तुम्हारे मन को सन्तोष हो जाय, तो अगहन मास में राजकिशोर बाबू को बुला लिया जायगा।"

शिवमोहन की माँ ने पूछा—"राजकिशोर बाबू कौन ?"

सोने पण्डित बोले—"लड़की के भाई, दरोग़ा जी।"

शिवमोहन की माँ के मुँह से निकल गया—"ठीक है-ठीक है। जब लड़की का भाई दरोगा है, तो कहाँ तक न देंगे !"

इधर यह बातें हो ही रही थीं, कि शिवमोहन की दुलहिन ने एक गिलास में गरम-गरम दूध, लोटे में पानी, कटोरी में लौकी की बर्फ़ी, तश्तरी में पान और ज़र्दा दो बार में सोने पण्डित के सामने लाकर रख दिया। देखते ही सोने पण्डित की तबियत हरी हो गई। बोले—"वाह! क्या जोड़ मिला है। उधर राजकिशोर की दुलहिन हैं इधर भाभी। अरे जाती कहाँ हो ?" फिर उनकी ओर देखकर बोले—"ठहरो, ठहरो पैर तो छू लूँ।" भाभी के नाते शिवमोहन की दुलहिन के चरणों का भी स्पर्श कर लिया। तब मन-ही-मन संकुचित प्रकट में मुस्कराती हुई शिवमोहन की दुलहिन चली गई और माँ-बेटे मिलकर सोने पण्डित से बातें करने लगे।

चाची बोलीं—"लेन-देन की कुछ बातें तो हुई ही होंगी।"

सोने पण्डित ने जवाब दिया—"बातें बहुत हुईं। सबका सार यह है कि भले घर की बात ही और होती है। तुमको चिन्ता इस बात की है कि ब्याह का खर्चा तो निकल आये और उनको इस बात की कि हमारे घर, द्वार और बरात की शोभा के अनुरूप बात निभ जाय। ऐसा तो होने नहीं पायेगा कि नेग-जोग में कोई अंग सूना रह जाय और ऐसा भी नहीं होगा कि जो चीज़ें मिलें वे देखने में हल्की जान पड़ें। फिर कुछ भी हो, राजकिशोर ठहरे दरोग़ा जी और बिहारी पण्डित पुराने ज़मींदार। व्यवहार में क्या नहीं आयेगा ? चाची, बुरा न मानना। मूल बात होती है उत्तम सम्बन्ध होना, और जब ऐसा संयोग मिल जाता है तब वास्तव में दहेज तय करने में न कोई शोभा बढ़ती है, न उत्साह रहता है। और कभी-कभी तो उतना ही मिलता है जितना तय होता है। बोलो शिवमोहन भइया। ग़लत तो नहीं कह रहा हूँ ?"

कथन के साथ सोने पण्डित पहले मिठाई का एक टुकड़ा मुँह में डाल लेते, और फिर ऊपर से दूध के दो-चार घूँट गले के नीचे उतार जाते।

शिवमोहन ने उत्तर दिया—"लेन-देन की मुझे उतनी फ़िकर नहीं है जितनी बिरजू के सन्तोष की।"

सोने पण्डित ने उत्तर दिया—"सन्तोष की स्थिति तो अभी से यह है कि बिरजू बाबू का जी वहाँ से हटने को हो नहीं रहा था। कुछ अवसर ही ऐसा आ गया कि हमने समधी और बिरजू दोनों को बिहारी पण्डित

के घर में ही ठहरा दिया था।"

सामने के दाँतों से हीन शिवमोहन की माँ हँस पड़ीं और वृद्धावस्था के दंतहीन हास्य की क्या बात है ! बोलीं—"तो यह क्यों नहीं कहते कि ब्याह से पहले ही बिरजू को ससुराल दिखला दी।"

"केवल दिखला ही नहीं दी, इतना प्रेम उत्पन्न कर दिया है कि बिरजू अपनी सरहज के पास बैठकर जलपान के प्रसंग में आधा-आधा घण्टा प्रसन्न मन बातें करते रहते थे।"

शिवमोहन की माँ ने कह दिया—"चलो मेरा मन भर गया। बिरजू अगर प्रसन्न रहेगा तो फिर मुझे कोई शिकायत नहीं रहेगी।" और शिवमोहन बोल उठे—"मैं तो समझता हूँ कि यह सम्बन्ध सबसे उत्तम रहेगा।"

अब सोने पण्डित की बारी थी। बोले—"मैं जिस काम में हाथ डालता हूँ भगवान् की दया से उसमें दोनों पक्ष सन्तुष्ट रहते हैं। यही मेरे जीवन का नशा है।"

शिवमोहन की माँ उठती हुई बोलीं—"आज सोने बेटा के लिए खीर बनाना दुलहिन। उसने मेरा मन मीठा किया है, मैं उसका मुँह मीठा करूँगी।"

सोने पण्डित हँसने लगे।

दो घण्टे बाद शिवमोहन किसी काम से बाज़ार गये थे तो वहाँ पोस्टमैन ने उनके हाथ में एक पत्र दे दिया। उसमें ब्रजमोहन ने लिखा था—"पूज्य बाबू, मैं माधुरी के विवाह से लौट आया। सब काम राज़ी-ख़ुशी के साथ निबट गया। टीका के दिन मेरे पैर में ज़रा मोंच आ गई थी। पर वहाँ का प्रबन्ध बड़ा उत्तम था। एक बुड्ढे नाई को मौसिया ने मालिश के लिए भेज दिया था। जो वास्तव में बड़ा अनुभवी था। मोच उसी रात को बहुत कुछ ठीक हो गई थी। दूसरे दिन ही मैं चलने-फिरने लगा था। मगर यह रहस्य बहुत बाद में खुला कि भइया ने इस निमन्त्रण में सम्मिलित होने के लिए ठेल-ठाल कर मुझे ही क्यों भेजा। चलो सब ठीक ही हुआ। वे जो कुछ सोच रहे हैं, मैं उसे भगवान् की देन समझता हूँ। ऐसे अवसर पर बाबू और अम्मा दोनों का आशीर्वाद लेने के लिए मैं घर आना तो चाहता था पर छुट्टी समाप्त हो जाने के कारण नहीं आ सका।

"सोने पण्डित मुझे स्टेशन पर ही मिल गये थे। बड़े ही व्यावहारिक और नीति-निपुण व्यक्ति हैं। ऐसी वक्तृत्व कला अगर भगवान मुझको भी दे दे, तो मैं बहुत उन्नति कर सकता हूँ। सम्भव है वह आ भी गये हों। हमारे यहाँ भी एक दिन के लिए ज़रूर आयें, उनसे कह देना। आजकल यहाँ पानी बहुत बरस रहा है। हवा चलती है तो अण्डी की चादर और स्वेटर की याद आ जाती है। पण्डित जी को ही दे दीजियेगा। जब इधर आने लगें, तो सग्गड़ में छोटी पिपियां में दो-ढाई सेर घी रखवा देना। जो आदमी सवारी ले जायेगा, अन्य समान के साथ उस पिपिया को भी रखता हुआ कह देगा—कृपा करके इसको भी लेते जाइये।

"आज बृहस्पतिवार है और यह पत्र आपको शनिवार को मिलेगा। अच्छा हो कि वे रविवार को शटल से आ जायें। शाकाहारी भोजनालय और जलपान-गृह के पास में मैं उन्हें मिल जाऊँगा। अगर बाहर मैं न देख पड़ूं तो भीतर मुझे देख लें। बाबू के लिए मैने एक बहुत बढ़िया छड़ी ख़रीदी है। शनिवार के दिन अगर रमेश घर आया तो उसके हाथ भेज दूंगा। चन्द बाबू का समाचार इधर बहुत दिनों से नहीं मिल रहा है और सब ठीक है।—चरण सेवक, बिरजू।"

शिवमोहन ने जब यह पत्र माँ को सुनाया तो उन्होंने हँसते-हँसते कह दिया—"सुना सोने बेटा, बिरजू ने तुम्हारी कैसी प्रशंसा की है।"

उस समय सोने पंडित खीर सरपोट रहे थे। मुसकराते हुए बोले—"मैं ज़रूर बिरजू से मिलूंगा। कहूँगा मेरी भी कहीं नौकरी लगा दें।"

शिवमोहन ने उत्तर दिया—"अब तक गाँव के दस-पाँच लड़कों को नौकरी या किसी-न-किसी धन्धे में लगा चुका है। फिर तुम्हारे लिए क्या नहीं करेगा?"

इधर यह बातें हो ही रही थीं कि ब्रजमोहन बाबू ने अन्दर प्रवेश करते हुए कहा—"लो, जिसकी चिट्ठी पढ़ रही हो वह स्वयं आ पहुँचा।"

सब लोग आश्चर्यचकित हो उठे।

ब्रजमोहन शिवमोहन के पैर छू रहा था तभी शिवमोहन ने प्रश्न कर दिया—"क्यों, कोई खास बात है?"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"ख़ास बात क्या होगी। मेरा काम ही

है इन्सपेक्शन करना। इटावा जा रहा हूँ। एक सेठ को गिरफ़्तार करवाने की तैयारी हो रही है।"

माँ बोल उठीं—"हाय! यह तो बड़ा बुरा काम है।"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"और सरकार को धोखा देना कोई अच्छा काम है!"

सोने पंडित भोजन कर चुके थे। आचमन करके मुँह पोंछते हुए, बोले—"बिरजू बाबू चाहें तो इस मामले में अधिक नहीं तो दो हज़ार रुपये तो बना ही सकते हैं।"

ब्रजमोहन ने मुसकराते हुए उत्तर दिया—"फिर इसी तरह एक दिन कोई मुझे भी गिरफ़्तार करा देगा। तब जेल की चक्की कौन पीसेगा?"

माँ बोल उठीं—"बिरजू तुम ऐसा काम कभी न करना। राम-राम। मुझे ऐसा पैसा नहीं चाहिये।"

मुसकराते हुए ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"एक दूत मेरे पास आया भी था। हाथ उठाकर पंजा दिखला रहा था मगर मैंने हुश् कर दिया।"

माँ हर्ष-विह्वल होकर बोल उठी—"पाँच हज़ार!"

सोने पंडित ने कह दिया—"खाने वाले खाते हैं और जीवन भर खाते रहते हैं। कोई उनका रोआँ नहीं छू पाता।"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"आप कहते हैं रोआँ नहीं छू पाता, मारे जूतों के चाँद गञ्जी कर दी जाती है। हवालात के भीतर जाते ही छठी का दूध याद आ जाता है। जब तक ज़मानत होती है तब तक सिर के बाल झड़ जाते हैं।"

अब सोने पंडित चुप रह गये और शिवमोहन बोले—"ये बातें होती रहेंगी। अब झटसे नहा डालो तुम।"

सोने पंडित से बिना बोले न रहा गया। बोले—"यह तो एक पक्ष की बात हुई; लेकिन बिरजू तुम्हें यह मानना पड़ेगा कि उच्चस्तर के अधिकारी लोग कहीं-कहीं बड़ी-बड़ी रक़में हज़म कर जाते हैं और किसी को पता तक नहीं लग पाता और जब लोगों की नियुक्ति का अवसर आता है, तब योग्य-से-योग्य व्यक्ति सम्पर्क और सिफ़ारिश के अभाव में पड़े रह जाते हैं और योग्यता में हीन किन्तु नाते-रिश्ते में उन अधिकारियों

के बेटा, भतीजे, दामाद, साले और साले-के-साले होने के कारण ऐन वक्त पर तार देकर इन्टरव्यू में बुला लिये जाते हैं और फिर चुन भी लिये जाते हैं। हृदय पर हाथ रखकर कहो, ऐसा नहीं होता है ?"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"यह मनुष्य की जन्म-जात दुर्बलता है और थोड़ी-बहुत मात्रा में सदा रही है ! भगवान् राम और कृष्ण के युग में रही है। आप ही का अगर भइया के साथ कोई सम्बन्ध न होता, तो वे माधुरी के इस विवाह में सम्मिलित होने लिए मुझ पर कदापि दबाव न डालते।"

इतने में शिवमोहन बोल उठे—"तुम नहाने जाओगे कि बहस करोगे ?"

सोने पंडित सोच रहे थे, बड़ा अच्छा हुआ जो शिवमोहन ने मेरी लाज रख ली, इस समय बात आगे न बढ़ने दी।

कई वर्ष की बात हुई, उन्होंने एक बार शिवमोहन से पचास रुपये लिये थे जो अब तक वापस न कर पाये थे और सोने पंडित डर रहे थे कि कहीं ऐसा न हो कि मुँदी-झँपी मेरी जो थोड़ी-सी प्रतिष्ठा है वह भी समाप्त हो जाय।

ब्रजमोहन नहाने जा रहा था।

माधुरी के विवाह में बहुत-सी विवाह-सामग्री की खरीदारी में सोने पंडित के हाथ सौ सवा सौ रुपये लग गये थे। उस समय भी यह रक़म उनकी मुर्री में खुँसी हुई थी। अतः सोने पंडित प्रतिक्रिया वश वही पचास रुपये शिवमोहन को देने लगे।

अब बाहर आँगन में ब्रजमोहन स्नान कर रहा था और भीतर से शिवमोहन का स्वर बाहर आता हुआ सुनाई पड़ रहा था—"फिर दे देना, फिर दे देना। ऐसी जल्दी क्या है ?"

ब्रजमोहन सोचने लगा—"ऐसे ही व्यक्ति सदा घूसखोरी का समर्थन करते हैं। बचाओ भगवान ऐसे लोगों से !···मगर फिर किया क्या जाय, ऐसा युग आ गया है कि काम ऐसे ही लोगों से चलता है ! मेरी जगह पर यदि आज विजय होता, तो राजेश्वरी के साथ होने वाले सम्बन्ध की प्रामाणिकता पर भी संदेह किये बिना न मानता।"

: १७ :

विवाह तय होने में कोई कठिनाई नहीं हुई। सोने पंडित ने दोनों पक्षों का मन पहले से ही अनुकूल बना रखा था। जहाँ उन्होंने शिवमोहन और उनकी माँ से यह कह दिया था कि दहेज में प्राप्ति की विशेष आशा न करें। वहीं उन्होंने राजकिशोर बाबू से कह दिया, "मेरी लाज आपके हाथ है। राजेश्वरी का विवाह तो हो ही जायगा और सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद आप लोग भी एक हो जायँगे, लेकिन अगर कहीं से भी कोई कोर-कसर रह गई, तो फिर मैं तो शिवमोहन बाबू के सामने मुँह दिखाने योग्य न रहूँगा।"

बिहारी पंडित ने विवाह खूब धूम के साथ किया। गाँव के लोग यह देखकर आश्चर्य में पड़ गये कि पारसाल इन पर डाका पड़ा और इस साल इन्होंने राजेश्वरी का विवाह कर लिया। ऐसे होते हैं खानदानी रईस।

सबसे अधिक ईर्ष्या हुई ठाकुर गेंदासिंह को। वे सोचने लगे—'रस्सी जल गई, मगर ऐंठ न गई। यह आदमी मेरी परवा अब भी नहीं करता। अच्छी बात है—मेरे रहते राजेश्वरी का विवाह सकुशल हो जाय, तो मेरे जीवन को धिक्कार है!'

उस समय कमरे में कोई न था। कमर के पीछे हाथ बाँधे हुए गेंदासिंह चुपचाप इधर से उधर टहल रहे थे। कोई युक्ति समझ में नहीं आ रही थी। एकाएक ध्यान आया 'ऐसे कामों में चन्द्रमा लाला का मस्तिष्क बड़ा काम देता है।'

दोपहर लौट चुकी थी और सोल्हर बैलों को पानी दिखाकर स्वयं नहाने जा रहा था। इतने में गेंदासिंह ने कह दिया—"अरे सोल्हरवा, ज़रा चन्द्रमा लाला को देख, घर में हैं या नहीं। अगर हों, तो कहना याद किया है।"

सोल्हर चला गया।

थोड़ी देर में लाला चन्द्रमाप्रसाद ढीली धोती, सो भी मैली, नंगे सिर,

नंगे पैर, बदन में एक बहुत साधारण किन्तु कुछ उजली बनियान डाले हुए सामने आ पहुँचे। गेंदासिंह ने पहले द्वार पर पड़े हुए पद मार्जक की ओर संकेत कर पैर स्वच्छ कर लेने का आग्रह किया, फिर उनका हाथ पकड़कर अपने गद्देदार पलँग पर बैठा लिया।

चन्द्रमा लाला ने बहुत नाहीं-नूँही की, कहा—"अरे ठाकुर साहब, मैं भला आपके बराबर बैठने योग्य हूँ।" पर ठाकुर गेंदासिंह ने एक न मानी। बोले—"वाह! बुद्धिमान और विद्वान् आदमी को मैं कभी छोटा नहीं समझता!"

चन्द्रमा लाला की बाछें खिल गईं। बोले—"इसीलिये तो मैं डंका पीट-पीट कर घोषणा किया करता हूँ कि ठाकुर गेंदासिंह का जोड़ नहीं है।"

ठाकुर साहब बोले—"देखो चन्द्रमा, स्वयं आदमी अपने में कुछ नहीं होता। जब चार आदमी उसके सहायक और समर्थक बन जाते हैं, बस तभी वह बड़ा बन जाता है। मुझको अगर तुम्हारा बल न प्राप्त होता, तो मुझे इस गाँव में कौन पूछता?"

चन्द्रमा लाला बोले—"बस एक तुम हो इस गाँव में, जो मुझे ठीक-ठीक पहचान सके हो। नहीं तो संसार की दृष्टि में तो मैं एक अदना आदमी हूँ। खैर छोड़ो इस बहस को। अब बोलो, मेरे योग्य कोई सेवा?"

ठाकुर साहब बोले—"सेवा भला मैं क्या तुमसे लूँगा। यों ही कुछ सलाह-बात के लिए बुला लिया है। मगर पहले यह बतलाओ, खाना खा चुके?"

चन्द्रमा लाला ने अटकते हुए उत्तर दिया—"खाना! हाँ खाना··· मैं···बस खिचड़ी डालने जा ही रहा था कि तब तक सोल्हर आ पहुँचा।"

आषाढ़ का महीना था ही। बेटी ससुराल से अभी कल ही आई थी। झट दरवाज़े की कुण्डी खटखटाने लगे। क्षण भर बाद भीतर से यमुना आ पहुँची। बोली, "क्या है दादा?"

ठाकुर साहब ने खिड़की के बाहर मुँह निकालकर इतने धीरे से कहा कि आवाज़ बाहर न होने पाये—"पूरियाँ तो अभी रखी होंगी?"

यमुना ने उत्तर दिया—"हाँ, रखी तो हैं।"

"और साग जो आज बना था?"

"वह भी कुछ बचा हुआ रखा है।"

"तो फिर एक थाली में लगाकर ले आओ, और देखो, मीठा, अचार भी थोड़ा-सा रख लेना।"

दो मिनट बाद जब थाली चन्द्रमा लाला के सामने आ गई, तो वे प्रसन्नता से पुलकित हो उठे।

चन्द्रमा लाला फ़र्श पर ही बैठ कर यमुना की ससुराल से आई बासी पूरियाँ, किन्तु मुलायम एक-पर-एक गले के भीतर सरकाने लगे।

अभी दो-तीन पूरियाँ ही वे उदरस्थ कर पाये थे कि ठाकुर साहब मूल विषय पर आने के लिए उतावले हो उठे। बाहरी किवाड़ उन्होंने बन्द कर लिये और जो खिड़की मकान के आँगन की ओर खुलती थी, उसे खोल लिया। उसके बाद वे थोड़े अन्तर से चन्द्रमा के बगल में बैठ गये और बोले—"राजेश्वरी का विवाह तो हो गया।"

चन्द्रमा लाला ने सिर ऊँचा कर ठाकुर साहब की आँखों में आँखें मिलाकर उत्तर दिया—"हाँ, हो गया और कहना चाहिये कि शान के साथ हो गया। किसी को ऐसी आशा न थी। पारसाल जिसके यहाँ डाका पड़ा हो, इसी साल वह आदमी अपनी बेटी का ऐसा विवाह कर दे, देखना दूर रहा; मैंने तो ऐसा कहीं सुना भी नहीं। सचमुच बिहारी पंडित ने बड़ी बहादुरी का काम किया है।"

ठाकुर साहब की मनस्थिति अब उस स्तर पर पहुँच गई थी कि बिहारी पंडित की प्रशंसा का एक भी शब्द उन्हें सहन न होता था। चन्द्रमा लाला इस बात को जानते थे।

ठाकुर साहब के नथुने फड़क उठे। बोले—"कुछ बहादुरी डाका पड़ने पर दिखलाई थी कुछ अब दिखलाई है। ख़ैर पहले यह बतलाओ कुछ पता चला, रुपये का प्रबन्ध कहाँ से हुआ?"

चन्द्रमा लाला बोले—"मुझे तो नहीं मालूम हुआ। कहीं कोई बात ही नहीं सुनाई पड़ी।"

"तो फिर दरोग़ा साहब ने कहीं से रक़म उड़ाई होगी।"

"मुझे भी ऐसा ही जान पड़ता है। या यह भी हो सकता है कि बहिन के यहाँ से कुछ प्रबन्ध किया हो। दस-पाँच बीघे ज़मीन बेची हो।"

"मगर इन सब बातों का पता तो बाद में चलता है।...ख़ैर यह बताओ तुम्हारे घर निमन्त्रण आया था।"

"आया था। कैसे कहूँ कि नहीं आया था!"

"गये थे, निमंत्रण में?"

"गया भी था। बहुत उत्तम प्रबन्ध था। सब चीज़ें देशी घी की बनी हुई थीं। सोंठ की चटनी तो कमाल की थी। मिठाइयाँ भी चार प्रकार की थीं।" चन्द्रमा लाला को इस समय बिहारी पंडित की प्रशंसा करने में बड़ा रस मिल रहा था।

"माना कि सब ठीक हुआ, लेकिन अगर उन्होंने रुपये का प्रबन्ध कहीं बाहर से किया है तो यह बात हमारे गाँव के लिए बहुत बड़े अपमान की हुई है। माना कि वे दूसरे दल के आदमी हैं, मगर काम-काज में तो हम सब एक हो जाते हैं। आपको मालूम है ऐसे समय मन-मुटाव को हम लोग ताक़ में रख देते हैं। यह भी माना कि हम ग़ैर थे, पर शिवनारायण तो उनके खानदानी थे और मुरारी से तो उनकी दाँत काटी रोटी थी उन्हीं से सहायता ली होती!"

चन्द्रमा लाला समझ गये कि ठाकुर साहब की इन बातों का क्या मतलब है। अतः बोले—"ऐसी बातें तो हुआ ही करती हैं। मूल बात पर आ जाइये, साफ़-साफ़ बताइये कि आप चाहते क्या हैं?"

ठाकुर साहब की भौंहें तन गईं। बोले—"उहँ! छोड़ो इस बात को कि मैं क्या चाहता हूँ। मैं केवल एक प्रश्न तुमसे करता हूँ कि जब उनके यहाँ डाका पड़ा, तो डाके वाले लोग क्या उनके घर के अन्दर नहीं घुस आये थे? और क्या यह बात तुमसे छिपी है कि उनमें से किसी एक ने राजेश्वरी का धर्म ले लिया था!"

चन्द्रमा लाला विचार में पड़ गये।

तब अवसर देखकर गेंदासिंह बोले—"सच पूछो तो इन लोगों ने हरिमोहन बाबू की आँखों में धूल झोंककर यह ब्याह किया है।"

जिस समय ठाकुर साहब यह बातें कर रहे थे, उसी समय चन्दनियाँ अन्दर से लौट रही थी। क्षण भर के लिए वह मार्ग की बन्द खिड़की के पास खड़ी हो, किवाड़ों की साँस पर कान लगाकर सुनने लगी कि देखूँ

ठाकुर साहब किस पर बिगड़ रहे हैं।

ठाकुर साहब कह रहे थे—"अब मैं तुम्हीं से पूछ रहा हूँ कि जब लड़का यह बातें सुनेगा, तो उसके दिल पर क्या बीतेगी! हरिमोहन बाबू तो कहीं मुँह दिखाने के योग्य न रह जायँगे। आश्चर्य नहीं कि आत्म-घात कर लें। और मान लो, कहीं ऐसा हो गया तो इसका पाप किसके ऊपर पड़ेगा? बोलो, बोलो जवाब दो।"

इतनी बात सुन कर चन्दनियाँ झट बाहर चल दी। कड़ों के कारण पैर जल्दी नहीं उठ रहे थे, फिर भी वह दौड़ी जा रही थी।

चन्द्रमा लाला धीरे से बोले—"ठाकुर साहब बात तो आप सही कह रहे हैं। मगर इस विषय में हम लोग कर ही क्या सकते हैं?"

ठाकुर साहब सोचने लगे—'जिस आदमी का मैंने इतना भरोसा किया था आज उस आदमी का स्वर ही कुछ बदला हुआ है। अब क्या किया जाय।'

तब उन्होंने तुरन्त उठकर अलमारी खोली और दो-दो रुपये वाले नये दस नोट निकाल कर अन्टी में कर लिये।

चन्द्रमा लाला भोजन कर चुके थे। आचमन के बाद धोती से मुँह-पोंछते हुए ज्योंही सामने हुए, त्योंही ठाकुर साहब ने कह दिया—"मैं बहुत दिनों से देख रहा था कि तुम्हारी हालत दिन पर दिन ख़राब होती जा रही है, धोती-कुर्ता तो तुम्हारे पास कभी साफ़ रहता नहीं।"

चन्द्रमा लाला ने प्रसन्नता से विह्वल हो करके मन-ही-मन कह लिया—'मैं इसी क्षण की प्रतीक्षा में था।' फिर प्रकट में बोले—"आप आदमी नहीं देवता हैं ठाकुर साहब।"

ठाकुर साहब ने बीस रुपये चन्द्रमा लाला के सामने कर दिये और कहा—"लो, हमारे रहते कभी ऐसी तकलीफ़ मत सहा करो और पन-डब्बा उठाकर उन्हें पान दे दिये।"

चन्द्रमा लाला एक ही पान ले रहे थे।

ठाकुर साहब बोले—"दोनों ले लो, दोनों। मनुष्य मर जाता है पर मनुष्यता कभी नहीं मरती। मरणोपरान्त यही बातें शेष रह जाती हैं।"

अब चन्द्रमा लाला अपने वास्तविक रूप में आकर बोले—"मगर आपने यह नहीं बतलाया कि इस मामले में अब होना क्या चाहिये ?"

ठाकुर साहब उनके कान के पास मुँह ले जाकर बोले—"क्या तुमसे इतना भी नहीं हो सकता कि डाके के समय राजेश्वरी के धर्म-भ्रष्ट होने की बात तुम हरिमोहन बाबू के कान में डाल सको ? और अगर इतना भी नहीं कर सकते तो मैं कहूँगा कि तुम इतने कायर और बुज़दिल हो कि तुमसे किसी को कोई आशा नहीं रखनी चाहिये।"

विवर्ण मुख चन्द्रमा प्रसाद ने उत्तर दिया—"अच्छी बात है ठाकुर साहब, मैंने आपका नमक खाया है, इसलिए मैं आपकी कोई बात टाल नहीं सकता।"

अब पाँच बज रहे थे। हरिमोहन की बरात के जनवासे में न्योतनी की तैयारियाँ हो रही थीं और चन्द्रमा लाला एक साफ़ पाजामा और कुर्त्ते के फेर में अपने वंशज भतीजों और पोतों के यहाँ चक्कर लगा रहे थे।

न्योतनी में दोनों पक्षों में शिष्टाचार चल रहा था। आचार्य और पंडित वर्ग के लोग दोनों पक्षों के लिए ऐसा स्तुति-पाठ कर रहे थे कि सुनकर श्रोतागणों का रोम-रोम गंगा नहा रहा था। बिना गया गये हुए उनके पुरखे तरे जा रहे थे। वर-पक्ष वाले आचार्य जी कह रहे थे कि धन में आप कुबेर हैं, विद्या में वेदव्यास, ऐश्वर्य में इन्द्र, रूप में साक्षात कामदेव, वीरता में अर्जुन आपके सामने तुच्छ हैं। तेज और तप में सूर्य आपको देखकर संकुचित हो उठता है, मर्यादा में तो आप रत्नाकर से भी अधिक हैं; उसके किसी-किसी भाग में ज्वार-भाटा भी आ जाता है पर···

फिर तभी चन्द्रमा लाला एक ओर इस प्रतीक्षा में खड़े हुए थे कि हरिमोहन पंडित कब उठें और बस उनसे बात करने का अवसर मिले।

थोड़ी देर में जब न्योतनी का कार्य सम्पन्न हो गया और ब्रजमोहन

कई बालकों के साथ पालकी पर चढ़कर कलेवा को जाने लगा और समाज के लोग भी उठने लगे, तब हरिमोहन पंडित भी उठकर समाज से बाहर आ गये। उस समय बिहारी पंडित के पक्ष के लोग वापस जा रहे थे।

चन्द्रमा लाल ने पंडित हरिमोहन के पास आकर धीरे से कह दिया—"महाराज मुझे आपसे कुछ बात करनी है।"

हरिमोहन ने आश्चर्य्य के साथ उत्तर दिया—"आप कौन हैं? मैं आपको पहचानता नहीं। पहले अपना परिचय दीजिये।"

चन्द्रमा लाला ने उत्तर दिया—"मैं इस गाँव का निवासी हूँ और मेरा नाम चन्द्रमा प्रसाद है।" और भीड़-भाड़ से अलग ले जाकर उन्होंने कह दिया —"मैं केवल आपको यह बताने आया हूँ कि जिस लड़की को आपने बहू बनाया है, आपको मालूम है वह इलाहाबाद में पढ़ती थी; वहाँ उसके साथ एक लड़के से लाग-डाँट चल रही थी। जब वह किसी तरह उसके पंजे में न आई, यहाँ तक कि एक अवसर पर उसने उसे झिड़क भी दिया तो उस लड़के का क्रोध भड़क उठा। परिणाम यह हुआ कि उसने अपने साथियों को मिलाकर बिहारी पंडित के यहाँ डाका डाला। कहते हैं कि उस अवसर पर उस लड़के ने राजेश्वरी की लाज लूट ली। उसके बाद बिहारी पंडित और दरोग़ा जी ने, जो उनके लड़के हैं, राजेश्वरी का विवाह तुरन्त कर देने की बहुत चेष्टा की। मगर गाँव में इतनी बदनामी फैल गई थी कि बात छिपी न रह सकी और कई सम्बन्ध तय होते-होते रुक गये। बस! यही बात कहने के लिए मैंने आपको कष्ट दिया।"

इतना कहकर लाला चन्द्रमा प्रसाद तुरन्त चल दिये।

हरिमोहन पंडित एकदम से हक्के-बक्के रह गये। उनके सामने अँधेरा छा गया। किसी तरह कमरे में आकर उदास-उदास तकिये के सहारे लुढ़क गये।

थोड़ी देर में जब शिवमोहन आ पहुँचे तब उन्होंने पिता को उदास देखकर पूछा—"बाबू कैसा जी है? कुछ तबियत खराब है क्या?"

उस समय झुटपुटा हो रहा था। जनवासे में पेट्रोमैक्स जलाये जा

रहे थे। इतने में हरिमोहन पंडित लोटा हाथ में लेकर उत्तर दिशा की ओर चल दिये। गाँव से लगा हुआ एक बाग़ था और बाग़ के उस पार खेत। हरिमोहन अभी बाग़ के किनारे तक ही आ पाये थे कि चन्द्रमा लाला उनके पीछे हो लिये। थोड़ी देर में बराबर पर आते ही उन्होंने कह दिया—"पाँय लागन महाराज !"

आशीर्वाद देते हुए हरिमोहन ने उत्तर दिया—"सुखी रहो !" फिर उसके सिर से पैर तक एक बार देखा और उत्सुकता के साथ बोले—"भैया मैंने आपको पहचाना नहीं।"

"हँ-हँ ! मैं ऐसा आदमी ही नहीं हूँ कि आपको ऐसे समय मेरा स्मरण आता। हालाँकि व्यावहारिक कार्य ऐसे होते हैं कि दीपक के नीचे रहने वाले अँधेरे का खयाल रखना ही पड़ता है।...और पहचानने के लिए तो आपको पूरा अवसर था, बात थी। आपके यहाँ जो तहसीलदार साहब हैं, ज्ञानस्वरूप बाबू, हमारे बड़े लड़के के साले होते हैं। आपसे किसी ने बताया नहीं ?"

"तब तो आप खास आदमी हैं और बड़ा अच्छा हुआ कि आपसे परिचय हो गया। आपसे तो बड़ा काम निकल सकता है।"

"हाँऽ", सिर हिलाते हुए चन्द्रमा लाला बोलने लगे—"हमारे लायक कोई सेवा हो तो आप निःसंकोच आज्ञा कीजियेगा।"

"अवश्य-अवश्य, साहब ऐसी क्या बात है। आप जैसे लोगों से परिचय बड़े भाग्य से होता है। हाँ अगर अभी जो आपने बात कही माफ़ कीजियेगा—मेरी समझ में पाई भर भी नहीं आई।"

"हँऽ-हँऽ-हाँ ! ठीक है, जो कुछ हो गया सो हो गया। और फिर लड़की वाला काम है। कहने वालों के हजार मुँह होते हैं और सुनने वालों के दो कान। किसकी बात का विश्वास किया जाय बताइये ?" चन्द्रमा लाला ने कुछ ऐसे ढंग से कहा कि हरिमोहन बाबू के मन में आशंकाओं के ज्वार उठने लगे।

चन्द्रमा लाला बोलते गये—"चलिये, चलिये वह सामने तालाब और शिवजी का मंदिर है। बड़ा सुरम्य स्थान है। आप तो उधर जाते ही होंगे।"

"हाँ ! एकाध बार गया हूँ। अच्छा स्थान है। मगर आपने तो मेरी उत्सुकता और बढ़ाई, क्या हमारे इस सम्बन्ध में कोई गड़बड़ हुई जा रही है, जिसका हमको ज्ञान नहीं है।"

"हँऽ ! हँऽ पंडित जी महाराज ! अब ऐसे ही रहने दीजिये। गाँव वाली बात ठहरी और फिर आप भी अपने हैं। यह जाँघ खोलो तो लाज और वह जाँघ खोलो तो लाज।" इतने में मंदिर आ गया और हरिमोहन बाबू सीढ़ियाँ चढ़ने लगे

इसी समय चन्द्रमा लाला बोल उठे—"दीक्षित जी ! न हो आप पहले निबट आइये फिर सत्संग हो। तब तक एक माला मैं भी फेर लूंगा। हरि ॐ तत्सत्।"

हरिमोहन के वदन में जैसे आग लग गई हो। वे पहिली ही लपट के झकोरे में सोचने लगे कि सोने पण्डित ने हमारे साथ कोई विश्वासघात तो नहीं किया ! और बोले—"देखो भाई साहब ! पहेली तो बुझवाओ मत ! साफ़-ही-साफ़ बतला दो। अभी हमारा कुछ नहीं बिगड़ा है। बहू तो बिदा कल होगी। हम आज ही से कहो—रात-ही-रात गोल हो जायँ और किसी को पता भी न चले।"

चन्द्रमा लाला जीभ को बाहर निकालकर बोले—"चऽ-चऽ ! राम-राम ! यह आपने क्या कह दिया। हमारा यह मतलब थोड़े ही है। आप हमको जानते नहीं, हमारी चाहे जान चली जाय मगर धर्म हम नहीं छोड़ सकते।"

"हाँ आपने अपना शुभ नाम नहीं बताया।"

"हेंऽ हेंऽ ! नाम जानकर क्या कीजियेगा ? अब ऐसे ही रहने दीजिये !"

"फिर भी—फिर भी।"

"नाम तो मेरा बड़ा मामूली-सा है। चन्द्रमाप्रसाद कहते हैं। मैं श्रीवास्तव हूँ। वास्तविकता मेरा जातीय गुण है। भूखों मर जाऊँगा पर झूठ न बोलूंगा।"

"क्यों नहीं-क्यों नहीं ! मेरे कई ऐसे मित्र हैं जो मुझे भाई से बढ़कर मानते हैं। और चन्द्रमा बाबू ! मेरा भी ऐसा ही अनुभव है कि हमारे

देश में जितना भी बुद्धिजीवी वर्ग है वह इन्हीं दो जातियों में समा गया है—ब्राह्मण और कायस्थ। एक दाहिना हाथ है, दूसरा बाँया। और सच्ची बात चन्द्रमा बाबू, यह है कि मैं तो अन्तर मानता नहीं हूँ दुनिया चाहे जो कुछ समझे।"

"हेंऽ हेंऽ ! हेंऽ क्या कहने हैं ! दीक्षित जी ! नाम सुना करता था। आज सौभाग्य से दर्शन भी हो गये।"

"तो अब चन्द्रमा बाबू बतला ही दीजिये ! हमारे कहने से। बात यह है कि कुछ आदत मेरी ऐसी खराब हो गई है कि अगर किसी बात पर मुझे सन्देह हो जाता है तो फिर न खाना हजम होता है, न रात को नींद आती है ! और यह तो आपको मालूम ही है कि शंका नागिन होती है। साँप काटे का तो इलाज भी है, किन्तु शंका रूपी नागिन ने अगर कहीं काट खाया तो फिर आदमी का बचना मुश्किल हो जाता है। इसलिए आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप मेरी शंका का निवारण कर दें।"

"अब दीक्षित जी मजबूर न कीजिये। धर्म का काम है। इसमें विघ्न डालना उचित नहीं है।"

"चन्द्रमा बाबू ! यह भी धर्म का ही काम है क्योंकि कहा है—साँच बराबर तप नहीं·····

"चन्द्रमा लाला ने एक बार दायीं तरफ़ देखा और दूसरी बार बायीं तरफ़। तब पास खिसककर कह दिया कि इतना तो आपने सुना ही होगा कि पारसाल डाका पड़ा था।"

"हाँ ! मालूम है।"

"तो अब मैं आपसे क्या कहूँ। उसी डाके में बिहारी की दुलहिन और लड़की—दोनों का—धरम चला गया था। भाई, लोग कहते यही हैं, अब सच-झूठ की राम जाने। मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठा हूँ। अब इससे अधिक और क्या कह सकता हूँ ?"

चन्द्रमा लाला का इतना कहना था कि हरिमोहन बाबू मत्था थाम कर रह गये। भीतर से पसीना छूट पड़ा। जिस निमित्त आये थे उसका ध्यान ही न रहा। उत्तेजना में अतिशय व्याकुल और श्लथ होकर धीरे-

धीरे नत शिर जनवासे की ओर लौट पड़े। एक-एक पग एक-एक मन से भी भारी हो गया था। पैर उठाये न उठता था।

चन्द्रमा लाला बोल पड़े—"अब मुझे तो आज्ञा दीजिये, क्योंकि, मुझे तो अभी तीन कोस जाना है। वहाँ लड़की का ब्याह है और मुझे ब्योहार देना है। और हाँ ! एक बात तो भूल ही गया। इस गाँव में मेरे दुश्मनों की संख्या कम नहीं है। इसलिए कृपा करके मेरा नाम न लीजियेगा कहीं भी ! अच्छा, पाँ लागन !"

हरिमोहन बाबू जनवासे वापस पहुँचते ही कमरे में चले गये। एक सूती कालीन पलँग पर बिछा हुआ था। उसी पर एक तकिया लगाकर लुढ़क गये। थोड़ी देर में शिवमोहन भी वहीं आ गये।

हरिमोहन ने सारी कथा कह सुनाई।

शिवमोहन बोले—"सोने पंडित ने तो हमसे इतना ही कहा था कि गाँव में दलबन्दी बहुत है, इसलिए आप किसी की बात पर विश्वास न कीजियेगा। पर उसका यह अर्थ तो नहीं होता कि बातें इस सीमा तक छिपाई जायँ और हमारे साथ विश्वासघात किया जाय।"

हरिमोहन बोल उठे—"विवाह तो हो ही गया पर अब हम बहू की विदा नहीं करायेंगे। ऐसी भ्रष्ट लड़की हमारी बहू नहीं हो सकती।"

शिवमोहन ने कहा—"पर इसमें लड़की का क्या अपराध है। यदि वह सच्चरित्र न होती तो ऐसी घटना ही क्यों होती।"

हरिमोहन ने कहा—"हम इस बहस में नहीं पड़ते। हम तो सीधी बात जानते हैं कि जो लड़की एक बार भ्रष्ट हो चुकी है, वह हमारी बहू होने योग्य नहीं।"

शिवमोहन ने उत्तर दिया—"बाबू, बात तो तुम सही कह रहे हो। पर इसमें बदनामी दोनों पक्षों की होगी। कितने उत्साह के साथ हम बरात ले आये और अब यज्ञ भंग करके हम लौटेंगे तो समाज में हमारी कितनी किरकिरी होगी।"

एक निःश्वास लेकर हरिमोहन ने उत्तर दिया—"न जाने क्या होनहार है बेटा ! मेरी बायीं आँख फड़क रही है। बिरजू सुनेगा तो क्या कहेगा ?"

शिवमोहन ने उत्तर दिया—"यही मैं भी सोचता हूँ। कितनी कठिनाई से तो उसके मन की पत्नी मिली थी। खैर, छोड़ो इस बात को, अब यह बतलाओ कि होना क्या चाहिये ?"

इधर यह बातें हो ही रही थीं कि इतने में दो आदमी द्वार पर आ पहुँचे।

अब साँझ हो गई थी और बरात के लोग इधर-उधर घूमने निकल गये थे। अधिकांश लोग मकान की दूसरी ओर एक बड़ी दालान में इकट्ठा थे, जहाँ भाँग और ठंडाई छानने का अलग-अलग प्रबन्ध था।

शिवमोहन ने कुछ सशंकित दृष्टि से देखते हुए द्वार की ओर बढ़ते-बढ़ते कह दिया—"कहिये-कहिये ?"

आगन्तुकों में से एक वृद्धजन बोले—"हम आपसे कुछ निवेदन करने आये हैं।"

हरिमोहन ने उठकर हाथ जोड़ते हुए उत्तर दिया—"आइये, आइये।"

तब दोनों व्यक्ति उनके पास जा बैठे।

शिवमोहन ने पान की तश्तरी उनके सामने रख दी और बाहर जाकर संकेत से नाई को बुला कर कह दिया—"दो गिलास ठंडाई"; फिर भीतर आकर उनके पास बैठ गये।

वृद्ध सज्जन कह रहे थे—"यह मेरा दुर्भाग्य है कि एक ही वंश के होते हुए हम लोग केवल अलग ही नहीं हैं, परस्पर झगड़ते भी रहते हैं। बिहारी भाई के साथ हमारा भाई-चारे का सम्बन्ध है, लेकिन अब स्थिति यह है कि खान-पान का व्यवहार तक बन्द है। सन्तान हम एक ही बाबा की हैं। मूल रक्त हम लोगों में एक ही रहा है। किन्तु बिहारी भाई में अहंकार और क्रोध अत्यधिक है।"

इन वृद्धजन के साथ जो दूसरे सज्जन थे, उन्होंने इसी समय कह दिया—"यह हमारे गाँव के सबसे बड़े और सबसे अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। इनका नाम शिवनारायण द्विवेदी है।"

इसी समय द्विवेदी जी ने कह दिया—"और इनको आप जानते ही होंगे। ये मुरारी भाई के चचेरे भाई हैं।"

शिवमोहन ने तुरन्त हाथ बढ़ाकर उनके पैर छू लिये।

अब द्विवेदी जी आँखों में आँसू भरकर बोले—"घाव तो मेरे कलेजे में बहुत हैं। लेकिन एक रक्त का नाता है जो आपके चरणों के निकट मुझे खींच लाया है। मैंने अभी-अभी सुना और सुना भी एक बिलकुल अदना दुखिया कहारिन चन्दनियाँ के द्वारा कि इस गाँव के एक नादिरशाह ठाकुर साहब ने आपके पास एक दूत भेजकर इस विवाह-यज्ञ को विध्वंस करने की चेष्टा की है। वह टुकड़े खोर अभी रास्ते में मिला भी था। कदाचित आप ही के पास से लौटकर गया है!"

इतने में शिवमोहन बोले—"हाँ! अभी कोई चन्द्रमा प्रसाद आये थे।"

"हाँ! उन्हीं से मेरा मतलब है।"

इसी समय हरिमोहन ने कह दिया—"यों तो हम सारी कथा सुन चुके हैं। अब हम केवल एक बात जानना चाहते हैं कि लड़की के धर्म-भ्रष्ट हो जाने के सम्बन्ध में आपको क्या कहना है।"

पं० शिवनारायण ने हरिमोहन के पास रखी हुई भगवत् गीता की पुस्तक उठाकर कह दिया—"मैं इस धर्म पुस्तक को हाथ में लेकर कहता हूँ कि वह ऐसी तेजस्विनी कन्या है कि उसका धर्म कोई भ्रष्ट कर ही नहीं सकता।"

शिवमोहन बोल उठे—"हम लोग अभी इसी विषय पर विचार कर रहे थे।"

हरिमोहन ने उत्तर दिया—"शिवनारायण भइया! मैंने आपका नाम तो सुना था, मगर रक्त का नाता निभाने का यह स्वप्न में कभी न देख सकता था। आपने वह कार्य किया है जिसको जीवन में हम कभी नहीं भूलेंगे।" और इतना कहते-कहते वे रुक पड़े।

आँसू पोंछते हुए बोले—"मुझे सबसे अधिक दुःख इस बात का था कि इस घटना की बात सुनकर कहीं बिरजू को कुछ हो न जाय। आपको मालूम नहीं कि कितनी परेशानियों के बाद हमने यह सम्बन्ध तय किया था।"

शिवमोहन बोल उठे—"आपने बड़ी कृपा की। अपने वंश की ही

लाज नहीं रखी आपने। हमारी भी लाज रखी है आपने। हम इस बात को कभी नहीं भूल सकते।"

हरिमोहन बोले—"सबसे बड़े सौभाग्य की बात यह है कि इस ग्रन्थि को आप ही सुलझा भी सकते थे। इस अवसर पर अगर बिहारी पंडित या दरोग़ाजी मेरे पैरों पर नाक भी रगड़ते तो मैं उनकी बात पर विश्वास न करता।"

इतने में ठंढाई का गिलास लेकर नाई आ पहुँचा।

हरिमोहन बोले—"लो, ठंढाई तो पीलो भाई।"

शिवनारायण हाथ जोड़कर बोले—"मुझे तो आप क्षमा ही कीजिये, भला मैं कैसे पी सकता हूँ।"

हरिमोहन मुसकराने लगे। बोले—"द्विवेदी जी पी तो सकते हैं। गिलास की लागत का ही सवाल है सो बहुत होगी, तीन आने होगी। आप हमको चार आने दे दीजिये।"

शिवनारायण जी ने पाँच रुपये का एक नोट निकाल कर हरिमोहन के सामने रख दिया और कहा—"अच्छी बात है तो मेरी यह श्रद्धा-भेंट भी स्वीकार कीजिये।"

हरिमोहन ने उत्तर में कह दिया—"वाह दादा, जैसा सुनता था वैसा ही पाया।"

शिवनारायण जी ने फिर हाथ जोड़ लिये। बोले—"बहुतेरी बातें है भइया! और इस समय कहने की नहीं है अन्यथा इस विवाह में मैं क्या नहीं करता।"

हरिमोहन कुछ सोचने लगे।

अब शिवनारायण और रामलोचन के हाथ में गिलास थे। शिवनारायण पहला घूँट कण्ठस्थ करते हुए सोच रहे थे—'दुर्घटना होते-होते बच गई। उसका सारा श्रेय चन्दनियाँ को है।' और अब रामलोचन ठंडाई पीते हुए सोच रहे थे—'मुरारी भइया की स्थिति तो इतनी ख़राब हो गई थी कि वे कभी इनको अपना मुख भी नहीं दिखा सकते थे।'

थोड़ी देर बाद जब शिवनारायण अपने घर की ओर बढ़ने लगे, तो रामलोचन से उन्होंने कह दिया—"तुम तो वहाँ जाओगे ही, चन्द-

नियाँ अगर वहाँ दिखलाई पड़े तो हमारे यहाँ भेज देना। ऐसे अवसर पर कुछ पुरस्कार देना ही चाहिये।"

बिहारी पंडित ने जब रामलोचन से यह सब कथा सुनी तब उनकी आँखों में आँसू आ गये।

उस समय ब्रजमोहन कलेवा करके जनवासे लौट रहा था। द्वार पर बाजे बज रहे थे। कहार पालकी उठा रहे थे और सबसे आगे-आगे सोने पंडित भागे जा रहे थे!

चन्दनियाँ ने सुना कि मुझे मुखिया ने बुलाया है तो वह फूली न समाई।

शिवनारायण ने धोती और ब्लाउज़ का कपड़ा निकाल कर दिया और पाँच रुपये ऊपर से।

प्रसन्नता से पुलकित हो वह कहने लगी—"दादा, आपका-सा-मन भगवान करे, सबका हो। मेरे जी में बार-बार आता तो था दादा कि मौक़े की बात है। अगर तीर ठिकाने पर लग गया, तो भगवान बिगड़ी बात ज़रूर बना देंगे। मुझे खुशी इस बात की है कि उन्होंने मेरी बिनती सुन ली।"

फिर उसकी आँखों में आँसू आ गये। प्रसन्नता से पुलकित हो जब वह घर को लौटने लगी तब मन-ही-मन कह उठी—

'दादा यह धोती और सलूका मुझे दे तो दिया, मगर अब इसको पहनना मुझे शोभा देगा! गोपलू के बप्पा कहाँ हो?'

चन्दनियाँ पुनः सिसकी ले-लेकर रो पड़ी। तभी बिहारी पंडित को आता देखकर पं० शिवनारायण ने कह दिया—"भैया! आपने कष्ट किया!"

और कथन के साथ आगे बढ़कर बिहारी पंडित के गले से लिपट गये। अब दोनों जने फूट-फूट कर रो रहे थे। चन्द्रमा लाला ने आते-आते जैसे यह दृश्य देखा तो उल्टे पाँव लौट गये।

पाँच मिनट बाद चन्दनियाँ जब घर पहुँची तो यह देखकर बावली हो उठी कि जिसका स्मरण कर वह अभी थोड़ी देर पहले रो पड़ी थी वही—गोपलू का जनक—बैठा उससे प्रसन्नता से बातें कर रहा था।

: १८ :

प्रातःकाल तो हो गया, पर अभी भगवान् भुवन-भास्कर का उदय नहीं हो पाया था। ब्रजमोहन छत पर सो रहा था। उसका पलँग मसहरी से ढका हुआ था। दूसरा पलँग भी मसहरी से आवृत था, पर वह खाली था। राजेश्वरी उठी, धरती की रज भाल से लगाई। पास ही लगी सीढ़ियों से घर के आँगन में उतरने जा ही रही थी, तभी यकायक ब्रजमोहन ने मसहरी का आवरण हटाकर सिर बाहर निकालते हुए कह दिया—"ठहरो, एक बात सुनो।"

राजेश्वरी ठिठुक गई और मुसकान के ब्याज में बोली—"कहिये ?"

ब्रजमोहन बाबू बोले—"बात यह है कि आज ही मैं अपने को समझ पाया हूँ। तुम जा रही हो, तो ऐसा जान पड़ता है, मैं कुछ नहीं हूँ। थोड़ा-सा कुछ हूँ भी, तो एक साधारण जीवमात्र। पर तुम मेरी आत्मा हो, राज। ज़रा पास आकर बैठो। देखो, ठंडी हवा कैसी प्यारी लगती है!"

राजेश्वरी लौट पड़ी और पास आकर उसने स्वामी के कान के पास मुँह ले जाकर एक ऐसी बात कह दी कि मुसकराते हुए उसे कहना ही पड़ा—"अच्छा, जाओ!"

राज स्नानादि से निवृत्त होकर उसके लिए आवश्यकीय नाश्ता तैयार करने जा रही थी।

साधारण रूप से ब्रजमोहन प्रायः नौ बजे भोजन पर बैठ जाता था। उस दिन कुछ ऐसा हुआ कि साढ़े नौ बजे तक दाल ही न पक सकी। फिर जो दोनों साथ-साथ भोजन पर बैठे, तो बातें करते-कराते सवा दस बज गये। आचमन और मुख-शुद्धि कर लेने के बाद यकायक ब्रजमोहन बोला—"आज तो कार्यालय जाने की बिलकुल इच्छा नहीं है, राज।"

नयी-नयी दुलहिन थी राजेश्वरी। विश्व-प्रकृति की निर्ममता का थोड़ा

भी ज्ञान उसे नहीं हो पाया था। मन्द हास में एक बल देकर कुर्सी की पीठ पर दोनों मांसल बाहु रखे हुए उसने कह दिया—"नहीं इच्छा है, तो न जाओ।"

ब्रजमोहन टेबिल पर तश्तरी में रखे हुए पान उठाकर बोला—"हाँ, आज नहीं जाऊँगा। जब देखो तब नौ बजे खाना और दस बजते-बजते कार्यालय की कुर्सी पर बैठ कर फ़ाइलें उलटना और कलम घिसना। बदन टूट रहा है। नींद के झकोरे आ रहे हैं, मगर पान, सिगरेट या चाय का अवलम्ब लेकर कुर्सी पर डटे रहना पड़ता है। यह भी कोई ज़िन्दगी है? मुझे इस ज़िन्दगी से नफ़रत हो गई है राज। सप्ताह में जो एक दिन मिलता भी है, तो उसी दिन गार्हस्थ्य-जीवन के सारे काम फट पड़ते हैं। लानत भेजता हूँ, ऐसी ज़िन्दगी पर! तुमको पता है, कब से मैं सोने को तरसता हूँ?"

जिस समय ब्रजमोहन यह बात कह रहा था, उस समय झण्डासिंह कमरे में उसका पलँग बिछा रहा था।

राजेश्वरी को प्रतीत हुआ, सचमुच स्वामी के कथन में दर्द है। वह इतमीनान से दूसरी चारपाई पर बैठ गई। मुसकराती हुई बोली—"अरे तो, आप बिगड़ क्यों रहे हैं? कौन कहता है कि कार्यालय में तीसों दिन आपको जाना ही है? यह तो तबियत की बात है; केवल मन की एक लहर है।"

"राज, तुम कभी-कभी ऐसी बात कह देती हो कि हार्दिकता और समर्पण में ही नहीं, जीवन-कला की विवेचना में भी मैं अपने आपको छोटा समझने लगता हूँ। इमर्सन ने एक जगह कहीं लिखा है कि हम सब सतहों और धरातलों में पड़े रहते हैं और कभी हमारा ध्यान ही नहीं जाता कि जीवन की सच्ची कला तो धारा पर कौशल से बहने और तैरने में है।"

झण्डासिंह स्नानागार में नहाने चला गया था। फिर भी ब्रजमोहन के शब्द उसके कानों में पड़ रहे थे—"जीवन की सच्ची कला तो···

राजेश्वरी आनन्द से फूल उठी। उसे प्रतीत हुआ, मानो यही जीवन का वास्तविक सुख है। पर यकायक उसके मन में एक प्रश्न जग उठा—

'क्या जीवन सदा ऐसा ही एकरस रहता है ?'

ब्रजमोहन कुर्सी से उठकर पलँग पर लेट गया। एक तिहाई बिस्तर उत्तरी भाग पर समेटा हुआ रखा था, उसी पर उसने अपना सिर रख लिया।

राजेश्वरी खस का पंखा उठा लाई। उसे शीतल जल में भिगोया; फिर उसकी बूँदों को तौलिये से सुखाया; फिर चारपाई के निकट कुर्सी पर बैठे-बैठे वह स्वामी पर पंखा झलने लगी। ब्रजमोहन गम्भीर होकर बोला—"कल शायद बिजली का कनेक्शन मिल जाय। फिर सीलिंगफैन ले लेंगे। तब तुम्हारा यह व्यजन-दोलन-श्रम छूट जायगा।"

राजेश्वरी के दन्त-मुक्ता झलक उठे। बोली—"प्यार हो कि सेवा, किसी-न-किसी मिस श्रम तो करना ही पड़ता है। फिर जो श्रम नहीं करता, उसे आनन्द भी नहीं मिलता। काम में जुटे रहने से नींद बड़ी मीठी आती है।"

"अपनी-अपनी रुचि ठहरी। मुझे गम्भीर निद्रा उतनी पसन्द नहीं, जितनी मन्द-मधुर।" इस बार कथन के साथ ब्रजमोहन ने आँखें मूँद लीं।

राजेश्वरी पंखा झलती जाती थी और नाना प्रकार के विचार उसके मानस में तैर रहे थे। वह सोच रही थी—'शरीर का लोम-लोम तक विह्वलता की अपेक्षा रखता है।' सहसा एक प्रश्न फिर उसके मन में उभर उठा—'क्या यह केवल कलेवर का धर्म है, जो जागरण को भी स्वप्न बनाकर छोड़ देता है ? आत्मा के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है ?'

थोड़ी देर में जब राजेश्वरी ने देखा कि स्वामी गंभीर निद्रा में लीन हो गये हैं, तब वह रसोईघर में जाकर झण्डासिंह को खाना परोसने लगी।

काल के चरण कभी स्थिर नहीं रहते। एक क्षण के पश्चात् दूसरा आगे आता ही रहता है। राजेश्वरी आराम करने के विचार से पलँग पर जा ही रही थी कि यकायक सुनाई पड़ा—द्वार पर कोई कुंडी खटखटा रहा है।

कमरे से बाहर आकर उसने कह दिया—"कौन है ?"

आगन्तुक की आँखों पर धूप का चश्मा; सिर पर सोला हैट, हाथ में

अटैची केस और बायीं ओर बगल में उस दिन का अख़बार। उसकी दाढ़ी फ्रेन्च कट थी और सिर के केशों में लहरें पड़ी हुई थीं। कपोलों पर लालिमा इतनी ज्वलन्त थी कि आकृति से विदेशी जान पड़ता था। उसका जूता साँभर का था और हैट की बद्धी चिबुक से लगी हुई थी। उसकी बुशशर्ट शार्क स्किन की थी और लोहा इतने सुन्दर ढंग से किया गया था कि चमक उत्पन्न हो गई थी। उसका पैंट मक्खन ज़ीन का था और ब्लीचिंग टीनोपाल की। उसके मुँह में पाइप था, जिससे धुआँ निकल रहा था।

प्रश्न सुनकर उसने अपना नाम नहीं बतलाया। वरन् उत्तर में एक प्रश्न ही कर दिया—"साहब आफ़िस गये या घर में हैं ?"

"मगर महाशय जी का परिचय क्या है ?" उत्तर के क्षण राजेश्वरी द्वार के किवाड़ के पास ही खड़ी थी। किवाड़ कुछ इस ढंग के बने थे कि उनके बीच के जोड़ में कहीं साँस नहीं थी।

"नाम जानकर भी आप मुझे न जान सकेंगी। इसलिए अगर ब्रज-मोहन बाबू अन्दर हों, तो उन्हें भेज दें। काम ज़रूरी है।"

उत्तर सुनकर राजेश्वरी ने किवाड़ खोल दिये। आगन्तुक निःसंकोच भाव से झट भीतर चला आया। राजेश्वरी उसकी इस उतावली से सहम-कर थोड़ा पीछे हट गई। आगन्तुक ने अटैची केस फ़र्श पर रख दिया और किवाड़ों की कुंडी लगा दी। फिर घूमकर आँखों से चश्मा उतारते हुए प्रश्न कर दिया—"पहचाना ?"

राजेश्वरी विस्मय से अभिभूत हो एक बार काँप-सी उठी। कहना ही चाहती थी—"नहीं" कि तब तक उसने नकली दाढ़ी भी उतार ली, और प्रश्न कर दिया—"अब ?"

भयभीत मृगी की भाँति विस्फारित नेत्रों से राजेश्वरी इक दम पीछे हट गई और उसके मुँह से बरबस निकल गया—"ओह, आऽप !"

"जी; डरो नहीं। मैं कोई बाघ नहीं हूँ, जो खा जाऊँगा। मैं भी एक इन्सान हूँ। सिर्फ़ आज दिन भर रहूँगा। तुम चाहोगी, तो दोपहर बाद चला जाऊँगा।"

राजेश्वरी की आँखों में आँसू आ गये। बोली—"जो कुछ हुआ है,

उससे तबियत भरी नहीं, जो मेरे जीवन को नष्ट करने आये हो ?"

"यह तुम्हारा भ्रम है। मैं तुम्हारे जीवन-सौख्य में व्याघात नहीं बनूंगा। तुम्हारे सिवा मुझे अपनी भी लाज है। मुझ पर भरोसा रखो। विश्वासघात नहीं करूँगा !"

अब आगे-आगे चली राजेश्वरी और पीछे-पीछे आगन्तुक। आँगन के उस पार बरामदा था, जिससे ब्रजमोहन का कमरा लगा हुआ था। आगन्तुक बरामदे में खड़ा हो गया और राजेश्वरी कमरा खोलकर अन्दर चली गई। उसका हृदय अब भी धक्-धक् कर रहा था। आँसू उसने आँगन में ही पोंछ डाले थे। पलँग के पास खड़ी होकर वह ब्रजमोहन का कन्धा हिलाती हुई बोली—"अरे,सुनो !"

ब्रजमोहन ने अँगड़ाई ली और कह दिया—"ऊँ।"

राजेश्वरी बोली—"जरा उठो, देखो कौन आया है ?"

ब्रजमोहन झट से उठकर बैठ गया और किवाड़ पूरे खोलकर स्थिर होते हुए बोला—"ओ विजय। आओ-आओ, दशहरा के नीलकण्ठ महाराज, भीतर चले आओ।"

पलँग के पास एक कुर्सी पड़ी थी। उसी तरफ़ अंगुलि-संकेत करता हुआ बोला—"इसी पर बैठ जाओ। सबसे पहले नयी भाभी से तुम्हारा परिचय करा दूं।" फिर राज को लक्ष्य कर बोला—"देखो राज, यह मेरा मित्र विजय है, बड़ा प्रतिभाशाली और लड़ाकू। मगर लड़ाकू क्यों, तार्किक। रूप इसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है। ज़रा बचकर रहना इससे।" और हँसने लगा।

तत्काल विजय का तेवर बदल गया। मुखमण्डल से उत्तेजना व्यक्त हो उठी। बोला—"बस यही मेरी तुमसे सबसे बड़ी शिकायत है कि आज तक तुम मुझे समझ नहीं सके। रूप मेरी कमज़ोरी नहीं, कसौटी है। एक रूप ही तो है, जिसके वैभव को मैं स्वीकार नहीं करता। उसे देखकर मुझे जलन होती है। कदाचित् इसलिए मेरे अन्दर से उठकर एक ही प्रश्न सहस्रों कण्ठों से एक साथ बोल उठता है—'मेरे लिए कुछ भी नहीं; मेरे मेरे लिए कुछ भी नहीं !'—मैं रूप की पूजा नहीं करता, उसको दास बनाकर रखता हूँ। उसका भोग मेरा इष्ट नहीं, साधन है।"···फिर

राजेश्वरी की ओर मुड़कर उसकी भेद भरी दृष्टि में दृष्टि डालता हुआ बोला—"नमस्ते भाभी !"

राजेश्वरी सब जानती थी। वह भूली नहीं थी जब इसी व्यक्ति ने उससे कहा था—"उफ़, इतना रूप !" फिर दाँत पीस कर यह भी कहा था—"किसके लिए इसे सँजोकर रख छोड़ा है ? क्या मैं जीवन भर उपवास ही करता रहूँगा ?" इस व्याख्या का स्मरण कर उसका हृदय हिल गया। मन्द पड़ी हुई धुकधुकी एक बार फिर तीव्र हो उठी और अस्थिर वाणी में उसके मुँह से निकल गया—"न—नमस्ते।"

ब्रजमोहन को राजेश्वरी की इस प्रतिक्रिया पर कोई आशंका तो न हुई, पर थोड़ा आश्चर्य्य हो उठा। वह सोचने लगा—"शायद मुझसे ही भूल हो गई है, जो मैंने परिचय में कह दिया कि रूप इनकी कमज़ोरी है।"

इसी समय राजेश्वरी कमरे से बाहर हो गई।

झण्डासिंह खाना खा चुका था। सामने पड़ते ही राजेश्वरी बोली—"पैसे तो तुम्हारे पास होंगे ? देखो, नींबू घर में हैं कि नहीं ?···न होंगे शायद ! नींबू और बरफ़ ले आना बाज़ार से। एक मेहमान आ गये हैं।"

झण्डासिंह तौलिया लेकर बाहर जाने लगा, तो राजेश्वरी ने इतना और कह दिया—"नींबू अगर न मिलें, तो फिर दही ले लेना। और चार आँवले मुरब्बे के, चार सफ़ेद रसगुल्ले छेने वाले और दो समोसे; छटाँक भर दालमोठ। भिखारी की दूकान से लेना। गरम हों; ठंडे नहीं।"

झण्डासिंह तेज़ धूप की ओर देखता हुआ बोला—"जी।"

राजेश्वरी ने कह दिया—"पैसे कम पड़ेंगे। रुपये लेते जाओ।" और धोती के अंचल में बँधा हुआ दो रुपये का नोट निकाल कर दे दिया।

ब्रजमोहन कह रहा था—"यह तुमने बुरा किया। मुझे तुमसे ऐसी आशा न थी। मान लो छूट भी गये, फिर भी इतिहास तो बिगड़ ही जायगा। शक तो मुझे पहले ही हो गया था, तुम्हारे इस रवैये पर। हम

लोगों ने बहुत-सी योजनाएँ बनाई थीं, एम्प्लायमेंट एक्सचेंज में तुम्हारे लिए एक जगह भी खाली करवाई थी, मगर कहीं तुम्हारा पता ही न चला।"

विजय ने नाक सिकोड़ते हुए मुँह बनाकर उत्तर दिया—"बातें तो बहुत-सी हैं; तुम्हारे पास कम होंगी, मेरे पास अधिक हैं। मगर मैं इस वक्त थका बहुत हूँ, इसलिए सोना चाहता हूँ। तुम मेरे सोने का इन्तजाम कर दो।...मगर एक बात है। तुम्हारे इस कमरे में नहीं। क्योंकि बातें करने से तुम बाज आओगे नहीं और उत्तर मैं दूँगा अवश्य। इस लिए अच्छा यही है कि निर्विघ्न रूप से सोने के लिए किसी अन्य कमरे में बिस्तर लगवा दो।"

इतने में राजेश्वरी आ गई। पान से अधर रचे हुए थे। कपोलों पर पाउडर की मन्द झलक स्पष्ट जान पड़ती थी। फालसाई साटन की कञ्चुकी इतनी कसी हुई थी कि ब्रजमोहन की आँखों पर नशा छा गया। साड़ी भी उसने फालसाई जार्जेट की पहन ली थी। चप्पलों के बदले नागरा जूतियाँ, जिनमें सुनहला काम झलझला रहा था।

आते ही बोली—"पाइप तो चला गया विजय बाबू, मगर टब में पानी काफी है। नहा लेंगे, तो तबियत ताज़ी हो जायगी। तब तक आपके लिए नाश्ते की व्यवस्था भी हो जायगी।"

विजय ने एक बार राजेश्वरी की रूप-राशि को आँखों में भर कर—यह सोचते हुए—यकायक आँखें बन्द कर लीं कि यह प्रतिक्रिया मेरी इस बात का उत्तर है कि मैं रूप के वैभव को स्वीकार नहीं करता। —तात्पर्य यह कि तुम्हें खुली चुनौती है। देखें, कैसे स्वीकार नहीं करोगे!

इसी क्षण ब्रजमोहन ने बैटरी वाला रेडियो ऑन कर दिया। सरल-संगीत चल रहा था। गीत के प्रारम्भिक बोल थे—हाय मोरी एकहु बात न मानी, करी मन-मानी—कहानी रह गई।

ऐसे वातावरण में उठने की इच्छा तो नहीं थी, पर फिर यह सोच कर विजय को उठना ही पड़ा कि अब आलस्य करने से इन लोगों को कष्ट भी हो सकता है। गीत की शब्दावली पर इस समय वह अपने आप मुसका रहा था।

एक कोने में कपड़े बदल कर विजय नहाने चला गया, तो ब्रजमोहन

बोला—"ज़रा यहाँ आना राज, एक ज़रूरी बात तुमसे कहनी है।"

राजेश्वरी उसी कुर्सी पर आकर बैठ गई, जिस पर अभी विजय बैठा हुआ था।

ब्रजमोहन पुलकित कण्ठ से बोला—"सच कहता हूँ राज, अगर प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा जीवन-साथी मिले, तो मरण के क्षण तक दुखी होने का उसके पास कोई कारण नहीं हो सकता।"

स्वामी के कथन से प्रभावित हो हंसती-हँसती राजेश्वरी बोली—"अगर दिन में दस बार मुँह पर प्रशंसा के पुल न बाँधा करें, तो क्या काम नही चल सकता ?"

"नही चल सकता। प्रशंसा केवल शिष्टाचार नहीं है राज, वह जीवन के क्षण-क्षण व्यापी मनोगत भावों का प्रत्यक्ष रूप भी है। कभी-कभी तो प्रशंसा आत्मीय सम्बन्धों में भी बहुत आवश्यक हो जाती है। बहुतेरे पतियों ने अपनी प्राण प्यारी पत्नियों को केवल इसलिए खो दिया है कि उन्होंने स्वभाववश पत्नी के किसी गुण की प्रशंसा नहीं की—न गृह-कार्य में कुशलता और प्रवीणता की; न शृङ्गार-प्रसाधन में सुरुचि की; न रूप-लावण्य के वैभव की; न सरल-चपल-मधुर स्वभाव और मुसकान की।"

"तुम कुछ भी कहो, पर मैं अब ऊब गई हूँ। जो आदमी मुँह पर निरन्तर प्रशंसा किया करता है, मुझे ऐसा जान पड़ता है, या तो वह अपना कुछ काम निकालना चाहता है, या इसी बात के लिए नौकर है।"

कुछ ऐसा हुआ कि कथन के पूर्ण होते-होते राजेश्वरी विचार में पड़ गई कि यह मैंने क्या कह दिया !

झण्डासिंह को दूर नहीं जाना पड़ा। सब सामान चौराहे पर ही मिल गया। विजय के लिए दूसरा कमरा खाली कर दिया गया। उसमें पलँग के साथ एक कुर्सी रख दी गई और साथ में ब्रजमोहन वाला चाय का टेबिल। अपना टेबिल राजेश्वरी ने ब्रजमोहन के कमरे में लगवा दिया।

झण्डासिंह जलपान तैयार कर रहा था।

राजेश्वरी के उत्तर को सुनकर ब्रजमोहन उसकी आँखों में आँखें डाल-कर मुसकराता हुआ बोल उठा—"अच्छा, इन दो बातों में किस बात को तुम मेरे लिए अधिक युक्ति संगत समझती हो राज ?"

राजेश्वरी पकड़ तो गई, पर चतुरता के साथ बोली—"तुम्हारी बात और है।"

ब्रजमोहन विस्मय के साथ कहने लगा—"मेरा वश चले, तो मैं तुमको कार्यालय में भी साथ ले जाऊँ। आजकल तो मैं वहाँ निरन्तर तुम्हारे अभाव का अनुभव करता हूँ। इस समय चाय पीते समय तो निश्चित रूप से तुम्हारी याद कर लेता हूँ।"

राजेश्वरी स्वामी की प्रतिक्रिया देखने के अभिप्राय से बोली—"आज-कल में सम्भव है भैया आ जायँ।"

ब्रजमोहन अस्थिर हो उठा। बोला—"अभी तो मैं तुम्हें भेज न सकूँगा, राज।"

"क्यों ?"

"यह तुम जानती हो।"

"जानने से क्या होता है ? अम्माँ कह रही थीं कि मैं तो चार दिन बाद ही बुला ली गई थी।"

"वह ज़माना और था।"

"उस समय अम्माँ की उमर पूरे बारह वर्ष की भी न हो पाई थी, पर गौना तीन वर्ष बाद हुआ था। लेकिन उस गौने में भी अम्मा बाबू के घर केवल पन्द्रह दिन ही रह पाई थीं। वह युग ही कुछ ऐसा था कि ब्याह के बाद लड़की को धीरे-धीरे ही पति से मिलने दिया जाता था।"

"सुनते हैं, उस ज़माने के लड़के बड़े शैतान होते थे ?"

"बाबू की तो अजीब हालत थी। विवाह के समय उनकी अवस्था कुल बारह वर्ष चार मास की तो थी ही।"

"तब तो उनकी सुहागरात में बड़ा मज़ा आया होगा ?"

राजेश्वरी गम्भीर हो गई। बोली—"हमें अपनी सीमाओं के अन्दर रहना चाहिये।"

"ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। अतः ज्ञान के लिए हमें सीमाएँ त्यागनी ही पड़ती हैं। तुम्हारी स्थिति देखकर तो मैं डर गया था। मुझे अब भी बड़ा खेद हो रहा है।"

"हटो, उस प्रसंग की चर्चा मत करो, नहीं तो मैं चली जाऊँगी।"

यह बातें अभी चल ही रही थीं कि किसी ने द्वार पर दो बार किया—कुट-कुट—ब्रजमोहन ने उठकर जो किवाड़ खोले, तो यह देखकर वह चकित हो उठा कि विजय सामने उपस्थित है।

विजय की यह उपस्थिति राजेश्वरी को असामयिक प्रतीत हुई। लाज से अभिभूत होकर, बिना कुछ कहे वह कमरे से बाहर चली गई।

झण्डासिंह दो प्लेट में आँवले का मुरब्बा, दो में रसगुल्ले और दो जगह नमकीन, एक गिलास लस्सी और एक प्याला चाय एक ट्रे में सजाकर टेबिल पर रख गया। फिर एक शीशे के ज़ार में बरफ़ का पानी और दो खाली काँच के गिलास ले आया।

आशंका, सो भी इतनी प्रखर कि जब तक मिट न जाय, तब तक किसी कार्य में जी न लगे।

राजेश्वरी सोच रही थी—'पता नहीं यह किस समय मेरा सारा भेद खोल दे। जब तक यह रहेगा, चिन्ता बनी ही रहेगी। यद्यपि इसने विश्वास दिलाया है कि मुझ पर भरोसा रखो, मैं रहस्य की कोई बात खोलूँगा नहीं; किन्तु फिर यह यहाँ आया ही क्यों? अगर इसका इनके साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था, तो यह विवाह में क्यों नहीं आया?··· मगर विवाह में आ गया होता, तो मेरी क्या गति होती?···ऐसा भी तो हो सकता था कि लोग इसे पहचान लेते? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता था। सबके मुँह पर नक़ाब पड़ी थी।'

राजेश्वरी चाहती थी कि उसको नींद आ जाय। उसने करवट बदल ली। पड़ोस का रेडियो अब भी चल रहा था। पर उसे कोई गीत रुचिकर न लग रहा था। उसने इस स्थिति की कभी कल्पना भी न की थी। यह ऐसा एक प्राण-हन्ता योग था, जिसे वह किसी प्रकार भूल न पाती थी।

एक बार फिर उसके मन में आया—'मान लो, इसने कह ही दिया तो! हाय, तब तो मैं कहीं की न रहूँगी! कैसे इन्हें मुँह दिखाऊँगी? ऐसे में जो भाई साहब आ जायँ, तो कितना अच्छा हो?' एक निःश्वास लेकर उसने मन-ही-मन कह दिया —'हे भगवान! अब लाज तुम्हारे ही हाथ है।' क्षण भर बाद वह उठकर बैठ गई। फिर कमरे के बाहर जाकर बरान्डे से लग कर खड़ी हो गई।

बातें अभी चल रही थीं।—

"चलो, जैसी अर्द्धाङ्गिनी तुम चाहते थे, वैसी तुम्हें मिल गई।" विजय कह रहा था।

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"मैं ऐसी कल्पना भी नहीं करता था। जब से आई है, तब से मैं बिल्कुल निश्चिन्त हो गया हूँ। अक्सर फ़ाइलें भी मैं घर ले आता हूँ। मैंने जाँच कर देखा है, केवल हिसाब-किताब में ही निपुण नहीं, वरन् ड्राफ्ट भी अच्छा बना लेती है। और अभी उसकी उमर ही क्या है? चाहूँ तो सरकारी नौकरी दिला सकता हूँ, मगर हमें और अधिक चाहिये ही क्या? हमारा सबसे बड़ा जीवन सौख्य है पत्नी का विश्वास और प्रेम। आस्था और मानवी समवेदना। और भगवान की दया से ये सारे गुण उसमें विद्यमान हैं।"

विजय हँसा और उसके मुँह से निकल गया—"तुम्हें अभी मनुष्य-स्वभाव की पहचान नहीं है ब्रजमोहन। स्त्री हो या कि पुरुष, सर्वगुण-सम्पन्न तो कोई हो ही नहीं सकता। रह गई बात प्रेम की, सो उसकी परीक्षा का तुम्हें अभी अवसर ही कहाँ मिलता है?"

राजेश्वरी सुनकर कम्पित हो गई—'अरे, यह क्या कहने जा रहा है!···

विजय ने आगे कह दिया—"हैमलेट का पिता अपनी स्त्री को कम प्यार करता था? एलेक्सी एलेक्जेन्ड्रोनोविच अपनी प्रियतमा अन्ना कैरेनिना को कम चाहता था? और हाँ, शेर अफ़ग़न मिहरुन्निसाँ को?"

"बस" ब्रजमोहन बोल उठा—"तुमने फिर बहकाना शुरू कर दिया। मेरे घर में आग लगाने आये हो? राज सुनेगी तो क्या कहेगी?"

इतने में सहसा दरवाज़े का एक किवाड़ खुल गया और राजेश्वरी भीतर आ पहुँची। विजय संकुचित हो उठा। सोचने लगा—'कहीं किवाड़ की ओट से यह हमारी बातचीत सुन तो नहीं रही थी?'

राजेश्वरी बोल उठी—"आप तो बहुत थके हुए थे? आपके सोने का इन्तज़ाम भी मैंने उधर कर दिया था।"

अब विजय को यह समझने में देर न लगी कि दोनों की बातचीत के बीच मेरा यहाँ आ जाना इसको पसन्द नहीं आया। तभी प्रकारान्तर

से यह कहना चाहती है कि आप खिसकिये यहाँ से। यह आपके ठहरने की जगह नहीं है। अतः उसने थोड़ा बनते हुए कह दिया—"जी, पर कदाचित् आपको नहीं मालूम कि हम लोग एक युग के बाद मिले हैं। और मैं सोचता हूँ कि आज ही चला भी जाऊँ। इसीलिए कुछ बातें होने लगीं, तो फिर मुझसे भी नहीं रहा गया।" फिर यकायक विषयान्तर कर बोला—"आपका यह मकान और दृष्टि से तो बिलकुल ठीक है, मगर इसमें मक्खियाँ बहुत हैं, और मेरा ख़याल है, रात में मच्छर भी बहुत लगते होंगे?" फिर बिजली के बटन और छत की ओर देखा और कह दिया—"इलेक्ट्रिक फिटिंग तो हो गई, मगर तुमने पंखा नहीं लिया?"

ब्रजमोहन बोला—"कनेक्शन एक-आध दिन में मिलने ही वाला है। इसीलिए अब तक पंखा नहीं लिया।"

राज ने हँसते-हँसते कह दिया—"पंखा तब आयेगा, जब मैं चली जाऊँगी। तुम देख लेना, ऐसा ही होगा।"

विजय को फिर बोलना पड़ा—"ऐसा होता है; ऐसा अक्सर होता है कि प्लेटफ़ार्म पर पहुँचते-पहुँचते गाड़ी छूट जाती है।"

इतने में झण्डासिंह ने आकर एक लिफ़ाफ़ा देते हुए कहा—"दफ़्तर का चपरासी अभी ले आया है।"

बड़े आश्चर्य्य के साथ ब्रजमोहन ने यह कहते हुए लिफ़ाफ़ा ले लिया—"दफ़्तर का चपरासी लेकर आया है? अकस्मात् ऐसा कौन-सा काम फट पड़ा!"

ब्रजमोहन ने लिफ़ाफ़ा खोल कर पत्र जो पढ़ा, तो उसके आश्चर्य्य का ठिकाना न रहा।—"तीन दिन के लिए उसे चन्दौसी जाना है। तुरन्त। ग़बन के कुछ काग़जों की आडिट-रिपोर्ट आज से ठीक चौथे दिन दे देनी होगी। मामला संगीन है।"

वह तुरन्त उठकर कपड़े पहनने लगा।

विजय मुसकरा उठा और बोला—"यह ख़ूब रहा। यह आदेश भी आज ही आने को था। अच्छा भाई, मैं तो चला। कौन, झण्डासिंह? झण्डासिंह ज़रा कोई सवारी तो स्टेशन के लिए पकड़ना।"

ब्रजमोहन ने भी कह दिया—"एक रिक्शा मेरे लिए भी।" और पैंट के बटन लगाते हुए विजय से बोला—"ऐसी जल्दी भी क्या है? आये हो तो एक-आध दिन बने रहो।"

"दिमाग़ ख़राब हो गया है? तुम समझते हो, तुम्हारा काम मेरे काम से ज्यादा ज़रूरी है?"

राजेश्वरी चाहती थी कि विजय चला ही जाय, फिर भी उसने कह दिया—"ऐसा ही है तो किसी दूसरी ट्रेन से चले जाइयेगा। खाना तो खा लीजिये कम-से-कम।"

"नहीं भाभी, मुझे मजबूर मत करो। मैं तो यों ही आ गया था। ऐसा ही है, तो फिर मैं कभी दो-एक दिन के लिए आ जाऊँगा।"

"अच्छा भाई, मैं तो चला। मुझको तो कार्यालय पहुँचने की जल्दी है। तुम जैसा चाहो वैसा करो। वैसे चाहता तो मैं यही था कि एक-आध दिन रह कर जाते। और फिर मैं भी तो रात-बात की गाड़ी से जाऊँगा। अभी तो दफ़्तर जाकर काम के सम्बन्ध में साहब से आदेश-अनुदेश लूँगा; ख़र्च लूँगा, फिर घर आऊँगा, तब कहीं जाना होगा। तुम चाहे जब जाओ। यह तुम्हारी अपनी सुविधा पर है।"

दो रिक्शे आ गये। एक में विजय बैठा और दूसरे में ब्रजमोहन। दोनों चल पड़े। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर ब्रजमोहन ने कहा—"रिक्शे वाले, ज़रा रिक्शा खड़ा करना।" और वह अपने रिक्शे से उत्तरकर विजय के रिक्शे के पास आकर खड़ा हो गया। बोला—"आज तो तुम बहुत जल्दी में आये। अगली बार आना तो कम-से-कम तीन-चार दिन रहना और पहले से सूचित कर देना। भाभी तुम्हारी गाना बहुत अच्छा गाती है। रेडियो सिंगर है।"

विजय ने आश्चर्य्य से कह दिया—"अच्छा! तब तो आना ही

पड़ेगा।" दोनों ने हाथ मिलाये और दोनों अलग हो गये—रास्ते अपने-अपने। इरादे अपने-अपने।

थोड़ी देर में जब रिक्शे वाला स्टेशन की ओर जाने लगा, तो विजय ने कह दिया—"बस, ज़रा इधर घुमा देना। इसी होटल के अन्दर।"

: १९ :

अपने कमरे में जाकर, भीतर की कुण्डी बन्द कर, विजय चुपचाप सो गया। एक गहरी नींद ले लेने के बाद जब वह सोकर उठा तो रात्रि के दो बज गये थे। चारों ओर सन्नाटा, एक-आध कमरे की बत्ती जलती हुई। चुपचाप उसने अपना बैग उठाया, फिर रख दिया; क्योंकि ध्यान हो आया 'दाढ़ी' मात्र उसने ड्रार में रखी थी। फिर बिना कपड़े बदले हुए वह पलँग पर यों ही लुढ़क गया था। फिर पलक झपकने लगे और तभी वह सो गया था। झटपट कपड़े बदले, फ्रेंच कट दाढ़ी लगाई और बैग लेकर होटल के प्रमुख द्वार की ओर चल दिया।

बिना बिस्तर की खाट पर दरबान भीतर सो रहा था। हाथ हिला-कर उसे जगाया और कह दिया—"दरवाज़ा खोलना ज़रा।"

दरबान ने पहले आँखें खोलीं, फिर यह कहकर पुनः बन्द कर लीं कि मैनेजर साहब !

विजय ने उत्तर दिया—"मैनेजर जानता है कि मैं समय-असमय जाता-आता रहता हूँ। कल जो आदमी ड्यूटी पर था, उसने भी इस समय खोल दिया था।"

"साहब इस वक्त खोलने का कायदा नहीं। इसलिए कह रहा हूँ।"

जेब से एक रुपया निकाल कर उसके हाथों पर रखता हुआ बोला—"ले यह तो है कायदे का बच्चा।"

केवल फाटक खोल देने के लिए एक रुपया पाकर उसने प्रसन्नता से फाटक खोल दिया।

विजय तुरन्त सिनेमा हाउस के पास जाकर रिक्शे में बैठ गया और पुनः ब्रजमोहन के दरवाज़े पर जाकर कुट-कुट करने लगा।

राजेश्वरी आहट पाकर तुरन्त उठ बैठी। लैम्प के प्रकाश को कुछ अधिक ज्वलन्त करके, वह झण्डासिंह के पास जाकर पुकारने लगी—

"झण्डासिंह, झण्डासिंह।"

झण्डासिंह ऊं-ऊँ कर आँखें मलता हुआ उठ बैठा।

राजश्वरी बोली—"देखो। इस समय कौन बाहर कुट-कुट कर रहा है। कोई भी हो कह देना, साहब बाहर गये हुए हैं।"

झण्डासिंह ने किवाड़ खोले ही थे कि विजय दरवाज़े के भीतर आ गया और कुण्डी स्वयं अपने हाथ से बन्द कर ली।

झंडासिंह बोला—"साहब घर में नहीं हैं। उनकी पत्नी ही अकेली हैं।"

विजय ने आँगन की ओर बढ़ते हुए कह दिया—"मालूम है।"

इस बातचीत को सुनते ही राजेश्वरी अनेक प्रकार की आशंकाओं से अभिभूत हो कम्पित हो उठी।

किन्तु विजय बिना किसी रोक-टोक के भीतर चला गया—सीधे उसी कमरे में, जहाँ लैम्प जल रहा था।

भय-कातर दृष्टि से विजय की ओर देखती हुई राजेश्वरी बोली—"आप तो चले गये थे। फिर कैसे आ गये! और तब जब आपके मित्र घर में नहीं हैं।"

विजय ने अनुभव किया कि परिस्थितियाँ आदमी को कितना दयनीय बना देती हैं। आज राजेश्वरी की दृष्टि में मैं कितना हीन बन गया हूँ। यद्यपि आज का विजय वह विजय नहीं जो इसी राजेश्वरी के सामने उस दिन था। सच है, परिस्थितियों के बदल जाने पर भी मानव-चरित्र के मूल्याङ्कन में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

बिना समक्ष दृष्टि डाले उसने कह दिया—"हाँ, आ ही गया" फिर दृष्टि ऊँची कर ली और बोला—"किन्तु राजेश्वरी, एक बात पूछूँ, अगर तुम बुरा न मानो।" फिर राजेश्वरी के उत्तर की प्रतीक्षा न कर कह दिया "भाई बना लेने के बाद भी मुझसे डर रही हो!"

राजेश्वरी एक बार विजय के मुख की ओर देखकर अवाक् हो उठी नतशिर होकर धीरे से उसने इतना कह दिया—"जान पड़ता है अब भी घाव भरा नहीं है।"

"भर गया है राजेश्वरी। तुमको मालूम नहीं। उस घटना के बाद मेरे अन्दर का वह विजय मर गया है। सन्तोष इतना ही है, यदि मैं

वास्तव में मर जाऊँ, या किसी तरह फाँसी ही पा जाऊँ, तो मुझे कोई दुःख न होगा।"

इतनी बात विजय इधर-उधर देखता हुआ गम्भीरतापूर्वक कह रहा था, किन्तु इसके बाद वह थोड़ा मुसकुराता हुआ बोला—"उस दिन अपने बहनोई के फ़ोटोग्राफ़ को दिखलाने के लिए मैंने जब तुमसे आग्रह किया था तब कदाचित् तुमने सोचा होगा कि यह क्षुद्र व्यक्ति मेरी सखी नयनतारा के भाई होने का अनुचित लाभ उठा रहा है। लेकिन जिस अनुचित लाभ की चरम कल्पना में तुमने मुझे क्षुद्र समझने की धृष्टता की, उसकी भूख के नाते भी सभी मनुष्य एक-से नहीं होते। उनमें भी भेद होता है। और उस भेद का परिचय मैं तुमको दे चुका हूँ। आज तुम्हारी स्थिति दूसरी है। आज तो ब्रजमोहन की पत्नी होने के नाते तुम मेरी भाभी हो! अच्छा तो है। पहले भाई बनाया। अब देवर बना लिया है। मैं इसको कम उन्नति नहीं समझता। लेकिन कहीं किसी भाभी को मैंने देवर से डरते हुए नहीं देखा!"

राजेश्वरी ने अनुभव किया, यह स्वर जहाँ से फूट रहा है वहाँ कोई व्रण है जो कदाचित् आघात के कारण कच्चा फूट गया है। इसीलिए पीव के साथ-साथ रक्त भी निकल पड़ा है।

तब वह बोली—"आप मुझसे बड़े हैं। मैं बहन बनूं या भाभी, आप के प्रति मेरा आदर जो एक बार मन में स्थापित हो गया है वह अपने स्थान से कभी हटेगा नहीं। लेकिन आप यह क्यों भूल जाते हैं कि यह संसार, यह समाज वैसा उजला नहीं है जैसे समुज्ज्वल तुम हो।"

इस कथन के बाद एक निःश्वास को भीतर-ही-भीतर शमन करती हुई राजेश्वरी ने कह दिया—"और जब हमें इसी समाज और दुनियाँ में रहना है, तो उसकी मान्यताओं की उपेक्षा हम कर ही कैसे सकते हैं!"

विजय सोचने लगा—'इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि इसको समाज का ही भय अब रह गया है। अर्थात् अहम् का अब कोई प्रश्न नहीं रह गया।'

तब उसने अपना बैग खोलते हुए कह दिया—"मैं कहाँ जाऊं, कब जाऊँ और कब लौटूं, इसका कुछ ठीक नहीं। मेरे पास ऐसी कोई सुरक्षित

जगह भी नहीं, जहाँ इस रक़म को रख सकूँ। अब तक किसी को ऐसा बना भी नहीं सका, जिसको सम्पूर्ण रूप से अपना समझ सकता। रुपये ऐसे ज़्यादा भी नहीं, केवल ढाई हज़ार हैं। इनको अपने पास रख लो। ज़रूरत समझना, तो खर्च कर डालना। वैसे है तो यह रक़म दीन-दुखियों की सहायता के लिए।···कभी-कभी मेरे पास रुपया रह नहीं जाता था। पर माँगने वाले तो कभी यह जान सकते नहीं थे। फिर सोते समय वे सब दुखी मुख, उनकी रिरियाती आर्तवाणी, हाथ पसारने की हीनता, डबडबाई हुई आँखें, गलित-जर्जर अंग याद हो आते। जब किसी प्रकार अपने को नियंत्रित न कर सका, तब यह पाप कर बैठा। इसी बहाने अचानक तुम्हारी झलक दिखलाई पड़ गई। क्षोभ में आकर कुछ नादानी कर बैठा। प्यार के बदले जो बर्बरता हो गई, उस पर रोया बहुत, पर उससे क्या होता है! दुनियाँ को तो कार्य से मतलब है। मन के भीतर कितना क्रन्दन आच्छन्न है, कौन देख पाता है!"

राजेश्वरी ने कभी सोचा न था, विजय के आन्तरिक रूप की शोभा ऐसी वन्दनीय है। वह कभी कल्पना भी न कर सकती थी कि इस दुबले और ठिगने व्यक्ति का हृदय इतना विशाल होगा। वितृष्णा का स्थान श्रद्धा ने ले लिया। तब सहसा उसके मुँह से निकल पड़ा—"मगर ये रुपये और मैं!"

विजय उस समय नोटों की गड्डी उसी टेबिल पर रख रहा था, जिस पर लैंप जल रहा था। राजेश्वरी की बात सुनकर किञ्चित मुसकान के ब्याज में बोला—"हाँ रुपया और नारी? प्रश्न सर्वथा उचित है। वैसे कहने को ही दो रूप हैं, दो शब्द हैं, पर वास्तव में एक लक्ष्मी शब्द में दोनों घिर जाते हैं। इसलिए मेरी समझ में विरोध का अवसर ही नहीं है। इसके अतिरिक्त नया-नया ब्याह हुआ है। दुलहिन के रूप में देखकर मुझे कितना सुख मिला, कह नहीं सकता! कहना भी चाहूँ, तो अवसर कहाँ है! देवर की भेंट लौटाई भी नहीं जाती। रख लो—रख लो!"

कथन के साथ बैग उठाकर विजय खड़ा हो गया और बोला—"अच्छा अब चलूंगा नमस्ते।"

फिर वह तत्काल कमरे से बाहर हो गया। बरामदे में कुछ अंधेरा था। राजेश्वरी पीछे हो ली। सामने अंधेरा देखकर एक बार कम्पित हो उठी। फिर श्रद्धा-विनय द्रवित वाणी में मुंह से निकल गया—"जब आ ही गये थे, तो बने रहते।"

कदाचित् प्रथम बार एक संतोष की साँस लेकर विजय ने स्थिर होकर कुछ घूमते हुए उत्तर दिया—"बना रहता राजेश्वरी, अगर तुम्हारे मन में आशंका और भय का लेश न रहता।" फिर चलता-चलता ठिठुक गया, मानो कुछ सोचने लगा हो। और बोला—"बच गया तो आऊँगा, मगर उस दिन, जब तुम्हारे मन का चोर निकल जायगा।"

विजय का इतना कहना था कि राजेश्वरी तीर की भाँति भीतर जाकर रुपयों की गड्डी उठा ले आई। और उसे विजय के आगे बढ़ाती हुई बोली—"अपना रुपया लेते जाइये। मुझे इनकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं और इनको रखने की मेरे पास जगह भी नहीं।"

द्वार के पास पहुँचता-पहुँचता फिर घूम पड़ा विजय। अब उसके होंठों पर हास आ गया था। तभी उसने कह दिया—"बन जाती है जगह राजेश्वरी! तुम तो मनुष्य हो, मैंने तो पत्थर को भी जगह बनाते देखा है। मेरी भेंट समझ कर स्वीकार करने में [illegible] को ठेस पहुँच रही हो, तो ब्रजमोहन को दे देना। तुमको रुपया काट रहा है; पर उसको बहुत प्यारा है। रख लो, रख लो। बहुत नादानी अच्छी नहीं होती।"

अब उत्तर की और प्रतीक्षा न कर [illegible] द्वार की कुण्डी खोलता हुआ बाहर हो गया।

राजेश्वरी क्षण भर तक स्तब्ध मौन खड़ी रही। झण्डासिंह को सोया जानकर वह स्वयं आगे बढ़ गई। द्वार की कुण्डी [illegible] कर कमरे में लौटती-लौटती पलँग पर औंधे मुंह लेट रही। बड़ी रात तक उसे नींद नहीं आई।

इससे पूर्व कभी किसी भी व्यक्ति के मुख से उसने ऐसी मर्म वाणी सुनी न थी। विजय का एक ही पक्ष अब तक उसने देखा था, प्रतिशोध का। पर आज का स्वर उससे सर्वथा भिन्न था। उसमें दर्प था, भयानक और बर्बर। इसकी निष्ठा-विधा ही अलग है। एक ऐसा वंशी-रव, जिसमें

असफलता और पीड़ा के स्वर मिश्रित हैं। एक ऐसा रुदन जो आँखों के बाहर तो नहीं फूटता, पर प्राणों का रस उड़ेल देता है। उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था—मानो यही एक ऐसा व्यक्ति है, जिसके उपालम्भ में भी प्रेम, विराग में भी राग और विरोध में भी अपनत्व है। अब उसको विजय के सारे कथन शूचि-वेधन-से लग रहे थे—

···'मर गया है राजेश्वरी, तुम्हे मालूम नहीं, मेरे अन्दर का वह बर्बर विजय अब इस संसार में नहीं है।'

···'उस पर रोया बहुत, पर उससे क्या होता है !'—'मन के अन्दर कितना क्रन्दन आच्छन्न है, कौन देख पाता है !'

···'दुलहिन के रूप में देखकर मुझे कितना सुख मिला, कह नहीं सकता !'

···'बच गया तो आऊँगा अवश्य, मगर उस दिन, जब तुम्हारे मन का चोर निकल जायगा !'

···'अनुचित लाभ की जिस चरम कल्पना में तुमने मुझे क्षुद्र समझने की धृष्टता की, उसकी भूख मिटा लेने के नाते भी सभी व्यक्ति एक-से नहीं होते !'

राजेश्वरी के आँसू रुक नहीं रहे थे ! पलँग पर पड़ी हुई इस भाँति तड़प रही थी, जैसे पुष्करिणी से विलग होकर मीन तड़पती है।

ब्रजमोहन दो दिन बाद वापस आ रहा था। रास्ते में एक चौराहे के पास पान खाने के लिए रिक्शा रुकवाकर खड़ा हुआ था कि उसी समय एकाएक दिखाई पड़ गया झण्डासिंह जो साग लेकर वापस लौट रहा था। ब्रजमोहन को खड़ा देखकर नमस्ते करते हुए पास आ गया। ब्रजमोहन ने पूछा—"कहो ! सब ठीक-ठाक ?"

झण्डासिंह ने उत्तर दिया—"हाँ भैया, और तो सब ठीक है। पर वही साहब फिर आये थे, जिस दिन आप गये थे न ! उसी दिन बड़ी रात को।"

"कौन ? विजय ?"

झण्डासिंह ने कह दिया—"हाँ वही।"

ब्रजमोहन ने उत्तर में तो कुछ नहीं कहा, पर भीतर से जैसे 'ए' करेन्ट के आघात ने झकझोर डाला हो। पान खाकर रिक्शा पर बैठते हुए कह दिया—"चलो तुम भी इधर बैठ जाओ।"

झण्डासिंह लपककर रिक्शे के पावदान पर बैठ गया। घर पर पहुँचकर ब्रजमोहन चुपचाप रिक्शे से उतरकर भीतर चला गया।

झण्डासिंह ने बिस्तर और साग का झोला उठाकर रिक्शा वाले से पूछा—"कितने पैसे तै हुए थे ?"

"छै आना" रिक्शा वाले ने रिक्शा मोड़ते हुए कह दिया।

झण्डासिंह के हाथ में बचे हुए पैसे थे। उसने छै आने गिनकर देते हुए कहा—"यह लो।"

पैसे लेकर रिक्शा वाला चला गया।

ब्रजमोहन भीतर जाकर पलँग पर समेटे हुए बिस्तर के सहारे उँढककर सिगरेट सुलगाने लगा।

राजेश्वरी उस समय स्नानागार में थी। लौटते ही उसने देखा कि स्वामी आ गये हैं। तब वह भी उस कमरे में जा पहुँची।

ब्रजमोहन ने आँख उठाकर भी उसकी ओर नहीं देखा और न कोई बात ही पूछी। स्वामी की इस अप्रत्याशित गम्भीरता से राजेश्वरी सशंकित हो उठी। उसके मुँह से निकल गया—"तबियत तो ठीक है ?"

ब्रजमोहन ने बिना सिर ऊपर उठाये कह दिया—"ठीक ही है।"

राजेश्वरी स्वाभाविक स्वर में बोली—"मुझे तो ठीक नहीं जान पड़ती। रात में ट्रेन पर सोने का अवसर न मिला होगा।"

ब्रजमोहन ने कोई उत्तर नहीं दिया।

तब राजेश्वरी सोचने लगी—'ज़रूर कोई खास बात है,' फिर भी द्वार तक आकर बोली—"अरे झण्डासिंह, साहब की चाय तो ले आओ!" कथन के साथ एक कुर्सी खिसकाकर पलँग के पास ही बैठ गई और बोली—"उस दिन जब तुम चले गये, तो बड़ी रात गये तुम्हारे वही मित्र फिर आये थे। दरवाज़े पर कुट-कुट की आहट सुनकर मैंने जो

झण्डासिंह को भेजा कि देखो कौन है ? जो कोई भी हो कह दो कि साहब घर में नहीं हैं। पर ज्योंही उसने दरवाजा खोला त्योंही बिना उसकी कोई बात सुने हुए यह कहते हुए वे भीतर आ गये कि मुझे मालूम है। फिर मैंने तो प्रतिक्रिया वश कह दिया कि आप तो चले गये थे, फिर इतनी रात गये आ पहुँचे; सो भी यह जानते हुए कि जिनके घर जा रहे हैं वे घर में नहीं हैं।—यह बात उन्हें कुछ बुरी लगी और इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त किये बिना न रह सके। लूट की रक़म कुछ उनके पास थी। वही देने आये थे। मैंने जो लेने से इंकार किया, तो जो मन में आया, बकते रहे। मुझे उनकी बातों में प्रतिक्रिया और हीन भावना दोनों का एक साथ आभास मिला। फिर यह सोचकर कि ऐसे आदमी से सम्बन्ध रखना अपने को संकटापन्न बनाना है, मैंने वह रक़म उनको वापस देने की बड़ी चेष्टा की तब बोले—फिर वही नादानी ! फिर वही बचपना !—यह भी कहा कि मेरी बहन भी हो, भाभी भी हो। इन सब बातों से मैं इस परिणाम पर पहुँची कि इनका मन विकारग्रस्त है। जितनी देर रहेंगे, घर में अशान्ति बनी रहेगी। इसलिए मैंने रुकने का आग्रह नहीं किया।"

इन सब बातों को चुपचाप सुनकर ब्रजमोहन ने सिर उठाते हुए उत्तर दिया—"तुमने जितनी बातें कहीं, सब सही हो सकती हैं। केवल एक बात को छोड़कर, पर वह बात मुझे पहले भी खटकी थी और आज जब जान-बूझकर तुमने फिर उसे दोहरा दिया, तब तो मेरी आशंका और भी पक्की हो गई है।"

राजेश्वरी की मुख-श्री तत्काल विवर्ण हो गई। भृकुटियाँ तन गईं और अधर कंपित हो उठे। अनायास मुँह से निकल गया—"आप जो कहना चाहते हैं ? उसे स्पष्ट क्यों नहीं कहते ?"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"अभी विजय के परिचय में तुमने एक शब्द कहा था—आपके मित्र—उस दिन जब विजय ने इस घर में प्रवेश किया था तब भी तुमने यही न कहा था कि देखो कौन आया है। अब इस सम्बन्ध में मुझे तुमसे यह पूछना है कि क्या उस अवसर से पूर्व उसके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध, कोई परिचय न था ? एक मेरे मित्र होने

के कारण ही तुमने उससे बातचीत की थी ? और दुबारा जब वह आया, तब यह तो जानता ही था कि मैं घर में नहीं हूँ फिर भी जो आ ही गया, उसके मूल में क्या था ? और दैनिक समाचार पत्र तो तुम पढ़ती ही हो। क्या तुमको यह नहीं मालूम कि वह कॉरोनेशन होटल में पकड़ लिया गया है। एक बात और भी है। उसे तुम भी जानती हो और मैं भी, अब, जान गया हूँ। अगर वह बात सही है तो मुझे सबसे अधिक आपत्ति इसी पर है कि तुमने मुझसे उस सम्बन्ध में कभी चरचा करना दूर रहा, संकेत तक नहीं किया। और आज भी तुम जो सफ़ाई दे रही हो उसका अर्थ यही तो होता है कि तुम असूर्यमपश्या बन रही हो !"

राजेश्वरी एक क्षण स्थिर रही। यह तो उसे विदित हो गया कि जिस संकट की संभावना थी वह सामने है, पर उसी क्षण वह यह भी जान गई कि इन आशंकाओं, आरोपों, निराधार-साधार कल्पनाओं का मूल कारण और कुछ नहीं—'मेरा यह अप्रितम रूप है, जिसका मुझे निरन्तर गर्व रहा है। अतएव इस समय तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि बिना ननु-नच किये मैं इनसे बिदा ले लूं।' तब तत्काल उसके मुँह से निकल गया—"अब मैं तो कुछ कहना नहीं चाहती पर एक दिन इन्हीं बातों के लिए तुम स्वयं पछताओगे। तुम समझते हो कि यह कोई ऐसी दुर्बलता है जो एकदम से अमानवीय और अस्वाभाविक है। और तुम स्वयं मानवीय दुर्बलताओं से बिलकुल परे हो। आज जिन आधारों को लेकर तुमको मेरा अपमान करने का साहस हुआ है उनका मूल्य मैं समझती हूँ। मुझे दुःख इसी बात का है कि ऐसा लाञ्छन मैं उस व्यक्ति के मुँह से सुन रही हूँ जिसकी मैं तीसरी पत्नी हूँ सो भी वैधानिक रूप से !"

कथन के साथ राजेश्वरी तत्काल उठकर दूसरे कमरे में चली गई। द्वार के अन्दर प्रवेश करते-करते उसके नयन सजल हो उठे और पलँग तक पहुँचते-पहुँचते तो वह सिसकियाँ ले-लेकर रो पड़ी।

इसी समय झण्डासिंह चाय लेकर विजय के कमरे आ पहुँचा। ब्रज-मोहन ने एक झटके के साथ सिगरेट दरवाज़े के बाहर फेंक दी और कमर पर हाथ बाँधे हुए कमरे में इधर से उधर टहलने लगा।

झण्डासिंह यह समझ गया था कि आज मालिक और मालिकन में

कुछ मनमुटाव हो गया है। अतएव वह राजेश्वरी के पास जाकर बोला—"साहब के पास चाय में रख आया हूँ और आप रो रही हैं। मुझे इस बीच में बोलने का कोई हक तो है नहीं। स्वामिनी होने के नाते आपका दर्जा मा के समान है। इसलिए मेरी विनती यह है कि इन सब बातों को भूल कर आप साहब को चाय तो पिला दें।"

राजेश्वरी ने क्रुद्ध सिंहिनी के रूप में गरजते हुए कहा—"बको मत, अपना काम देखो। मुझे अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में किसी से सलाह लेने की आवश्यकता नहीं।"

अब उस घर में तीन आदमी थे। लेकिन कोई किसी से नहीं बोल रहा था। ब्रजमोहन स्नानागार के अंदर था और राजेश्वरी अलमारी खोल-कर अपना सामान इकट्ठा कर रही थी।

इतने में बिजली वाला आकर झण्डासिंह से कहने लगा—"मैंने करेन्ट मेन स्विच से ज्वाइन कर दिया। सब जगह बत्ती जलाकर देख लो और साहब को बता दो।"

राजेश्वरी के कमरे में जाकर झण्डासिंह बिजली जलाने लगा, तब राजेश्वरी की दृष्टि बल्ब पर जा पड़ी। उसे अपने उस कथन का स्मरण हो आया कि बिजली उस दिन आयेगी जब मैं यहाँ से विदा होने लगूंगी!

रिक्शा कॉरोनेशन होटल के अन्दर चला गया।

रिक्शे वाले को विदा करके विजय नम्बर नौ के कमरे में पहुँच-कर पुनः सो गया। सबेरा अभी हुआ ही था। ज्यों ही उसने कपाट खोले तो देखा कि पन्ना सामने उपस्थित है। देखते ही बोला—"चिट्ठी मिल गई थी न?"

पन्ना हँस पड़ी! बोली—"चिट्ठी न मिलती, तो यहाँ कैसे आती? सो भी किसी तरह समय निकाल कर आई हूँ।"

"क्या मतलब?"

"मतलब यह कि मुझको इसी वक्त एक क्लास लेना पड़ता है। आपको लिखा तो था मैंने।"

विजय कपड़े बदलने लगा। ब्वाय ने आकर पूछा—"साहब चाय लाऊं।"

विजय ने उत्तर दिया—"अभी तुम जाओ, फिर मै बताऊँगा।"

ब्वाय चला गया।

पन्ना बोली—"तुमने घर में आना छोड़ दिया। सब लोग तुम्हारी बहुत याद करते हैं। मैंने और भी एक बात सुनी है ?"

विजय ने पंखा प्रथम स्तर में छोड़ दिया, फिर किवाड़ बन्द करने लगा, तो पन्ना ने आपत्ति करते हुए कहा—"ऐसा मत करो। बन्द चाहे कर लो, मगर सिटकिनी मत लगाओ।"

विजय हँसने लगा !

: २० :

साधारण रूप से पन्ना बहुत बुद्धिमान लड़की थी। वह अपना हित-अहित भली भाँति समझती थी। वह जानती थी कि ऐसे असामाजिक और अमर्यादित, एक सीमा तक उच्छृङ्खल व्यक्ति के साथ मैं सुखी नहीं रह सकती, किन्तु सुख के सम्बन्ध में उसकी मान्यता अभौतिक थी। उसके पिता एक ज़मींदार थे। स्वतः उसका बचपन ग्राम में बीता था। वह देख चुकी थी कि बेझर की रोटी नमक या अचार के साथ खाने वाले बच्चे भी कितने स्वस्थ और सुन्दर होते हैं। उसने देखा था कि जो चरवाहे गाय-भैंस चराने को, प्रातःकाल सूर्योदय के बाद ही घर से निकल जाते, और गोधूलि वेला में लौटते हैं, उनकी पत्नियाँ भी खेतों में काम करती हुई बड़ी प्रसन्न दिखाई देती हैं।···फिर ऐसा बौद्धिक युवक उसे कहाँ तक सुखी न रखेगा!

इस विचार को वह मन-ही-मन इतनी दृढ़ता से जमाये रहती कि गोबिन्द जब कभी विवाह का प्रश्न उठाता, तब वह अपनी भाभी से यही कह देती—"मैं तो स्वतन्त्र रूप से जीवन बिताना चाहती हूँ और विवाह में वह सम्भव नहीं है।" उसके इस कथन में यही भावना निहित रहा करती थी कि भविष्य में जब कभी विजय किसी उत्तम और स्थिर जीवन-मार्ग पर आ जायगा, तब यदि विवाह आवश्यक होगा, तो यह बन्धन भी कितना प्यारा लगेगा!

सोचती-सोचती पन्ना को वे सभी तर्क याद आ जाते, जिन्हें भैया की बैठक में मित्रों के सामने वह प्रस्तुत किया करता था। उन तर्कों से पन्ना बहुत प्रभावित थी और इसीलिए उसके संवेदनशील मन में यह भावना आ ही जाती थी कि फिर क्या ऐसे व्यक्ति का जीवन नष्ट हो जाना चाहिये। और पन्ना के प्रश्न का उत्तर उसकी आत्मा से सदैव विजय के पक्ष में ही मिला करता था।

जब-जब विजय उसके घर से चला जाता, तब-तब प्रायः ऐसा होता कि उसके मन का सारा उत्साह तिरोहित हो जाता था। वह सोचने लगती—'जब अपने मन का दुःख किसी से कह नहीं पाते, तब न जाने इन पर क्या बीतती होगी ! कौन जाने, किस आवश्यकता से आये हों।' कई बार उसके मन में आया, 'आज अक्सर मिलने पर पूछने की चेष्टा करूँगी।' पर फिर स्थिति देखकर यह विचार भी धूमिल पड़ जाता। घर में वातावरण कुछ इस ढंग का रहता कि वह अपने मन की बात भी उससे कह न पाती थी।

उधर विजय की स्थिति यह रहती कि वह अधिक-से-अधिक देर तक पन्ना की शारीरिक गठन, देह-यष्टि की भावानुरूप लोच और भाव-परिवर्तन के क्षण भंगिमाओं की सौन्दर्य-दीप्ति निहारता रह जाता।

उस दिन सड़क पर जब पन्ना उसे मिली और उसने बतलाया कि जब आप चले गये, तो मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगा, तब उसके मन में आया था कि अगर स्वतंत्रता होती, अथवा वह किसी कमरे में उसे अकेला पा जाता तो स्वतन्त्रता न होने पर भी उसको एक-दो बार प्यार किये बिना किसी तरह न मानता।

फिर भी विजय अपनी क्षण-क्षण की परिवर्तनशील भावनाओं के प्रति कम-से-कम अपने मन से तो उत्तरदायी बना ही हुआ था। कदाचित् इसलिए वह सोचने लगता कि यह अनुबन्ध और मर्यादाएँ तो उस समाज के लिए हैं, जो स्वतः मर्यादाशील है। यदि मेरी माँ को न्याय मिला होता और मेरे पिता दूसरा विवाह न करते, तो क्या यही मेरी गति होती ? माना कि, मैं थोड़ा-बहुत उच्छृङ्खल भी हूँ और अनुकूल परिस्थिति आये बिना जीवन को समझने में कभी-कभी जल्दी भी करने लगता हूँ, किन्तु क्या यह स्वाभाविक नहीं है ? एक तृप्त और भूखे आदमी के चाल-व्यवहार में जो अन्तर होता है, वही यदि मुझमें है, तो इसमें आपत्ति और आश्चर्य का स्थान कहाँ है ?

और भी एक बात थी। माना कि पन्ना के साथ उसका मिलन प्रकारान्तर से ही होता था, किन्तु विजय सोचता था कि आँखों की भाषा तो छिपाये छिपती नहीं। उसी दिन बस में जब वह बैठने लगी और कन्डक्टर

ने विजय को उठने का आदेश दिया, तो उसने कह दिया—"बैठें रहिये—बैठे रहिये। दो की जगह हैं, मैं भी बैठ जाऊँगी।"

उस समय वह अच्छी तरह से समझ गया था कि यदि इसके मन में मेरे लिए सुरक्षित स्थान न होता, तो मेरे साथ इस तरह उसका बैठना कभी सम्भव न होता। इसलिए उसने इन परिस्थितियों से लाभ उठाकर अपने मन की बात स्पष्ट कर दी थी। यद्यपि पन्ना के उत्तर से उसे संतोष न हुआ था, फिर भी उसकी आशा को आश्वासन तो मिला ही था।

उसके बाद विजय ने उसके पास एक पत्र भेजा था, जिसमें उसने लिखा था कि कभी-कभी मैं अपना संतुलन खो देता हूँ, इसलिए अगर कोई बात आपकी भावना को ठेस पहुँचाने वाली हो गई हो तो मुझे क्षमा कर दीजियेगा। यही समझ लीजियेगा कि मैं चारों ओर से तिरस्कृत एक अनाश्रित प्राणी हूँ, उन्मादग्रस्त और अशिष्ट। मन को बहुत समझाता हूँ, पर क्या करूँ, कभी-कभी तो विवश हो ही जाना पड़ता है—सच पूछो तो उसकी यह विवशता ही पन्ना को उसके प्रति इतना उदार बनाती चली जा रही थी। विजय जब कभी अपने को चारों ओर से विच्छिन्न समझने लगता, तो पन्ना उसकी हर आवश्यकता को समझने के लिए विह्वल हो उठती। उसे हर तरह से सुखी देखने के लिए वह पगली इतनी उतावली हो उठती कि यह भी न सोचती आखिर उसे विजय की इतनी आवश्यकता क्यों है ?

उस रात प्रातःकाल होने की प्रतीक्षा में लेटी हुई पन्ना चार बजे से ही जग रही थी। उसका मन उत्साह से भरा हुआ था। उसे लग रहा था, जैसे आज उसके विवाह का दिन हो और बरात के आगमन की प्रतीक्षा में वह नव बधू, सर्वस्व-समर्पण की भावी कल्पना में, आत्मविभोर हो उठी हो। तब उसे उस अवसर का स्मरण हो आया, आज की ही तरह वह अपने अध्ययन-कक्ष में लेटे-लेटे कोई पुस्तक पढ़ रही थी और अकस्मात् विजय आ गया था, गोविन्द बाबू घूमने चले गये थे। उसने बैठक खोल दी थी। शची भाभी ने सुना, तो वह अपनी जो साड़ी नहाकर पहनने जा रही थीं, उसी को पहन कर मुसकराती हुई आ पहुँची थीं। साक्षात्कार होते ही उन्होंने कह दिया था—"आप जब कई दिन का गोता लगा जाते हैं, तब

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कहीं किसी जगह फँस गये हैं। वैसे फँस जाने में अच्छा तो लगता है, पर तभी, जब साथी मन का हो। है कि नहीं ?"

—भाभी की हँसी यों भी प्रसिद्ध है। उस समय भी वे खिलखिला रही थीं।

—वे उत्तर न देकर मुसकराते-मुसकराते, फ़ाउन्टेनपेन से, सामने पड़े हुए दैनिक पत्र पर कुछ लिखने लगे थे।

—तब भाभी के सामने सकुचाते-सकुचाते पूछा मैंने था—"देखूँ क्या लिखा है ?" पर हाथ भाभी ने बढ़ा दिया था। पहले वे उनकी आँखों में आँखें डालकर रह गये। मैं सोचने लगी—'इनकी यह आदत बड़ी ख़राब है। जिस तरह मुझे देखना चाहिये, उस तरह ये किसी और को क्यों देखते हैं ?' फिर उनका नीचे का होंठ हिल उठा, एक भ्रू की प्रत्यञ्चा चढ़कर नमित हो गई और उन्होंने समाचारपत्र का वह अंश भाभी के सामने कर दिया। भाभी झुककर देखने लगीं। उसमें लिखा हुआ था—'मन का मीत कहाँ मिलता है ?'

—पंक्ति पढ़कर भाभी उछल पड़ी थीं। बोली—"ओः, आप तो कवि हैं। कितनी सुन्दर पंक्ति आपने लिख दी ! हमें भी कविता लिखना सिखा दीजिये न ?"

—उस समय मेरे मन में आया। 'काश,इस तरह मुझे भी बातें बनाना आता होता !'

—एक-एक बात का स्मरण है। कितना विचारपूर्ण उत्तर उन्होंने दिया था—"जैसे सत्य सिखाया नहीं जाता, प्रेम पढ़ाया नहीं जाता, ठीक उसी भाँति कविता लिखना बतलाया नहीं जाता, जैसे—भगवान् आँखें सबको देता है, पर वह चितवन तो सबके पास नहीं होती, जो एक विचारक को घर जाने से रोक ले।"

—"अच्छा अगर मैं आपको घर जाने से रोक लूँ, तो ?"

—भाभी की इस बात पर वे उठकर खड़े हो गये थे। चप्पल पहन ली थीं और उन्मन गम्भीर-से होकर कहने लगे थे—"क्षमा करेंगी। मुझे एक बहुत आवश्यक कार्य याद हो आया। जाना ही पड़ेगा।"

—आः उनकी यह प्रतिक्रिया उस समय मुझे कितनी प्यारी लगी थी ! भाभी का मुख विवर्ण हो उठा था और मैंने उनकी सम्मान-रक्षा के भाव से कह दिया था—"पर आपको आये हुए अभी देर ही कितनी हुई। फिर भाभी के प्रश्न में गर्भित ऐसे अत्यधिक आग्रह पर भी आप चले जायेंगे, तो वे अपने मन में क्या कहेंगी ?"

—उन्होंने विमल हास झलकाते हुए अन्तर की मर्मवाणी में उत्तर दिया—"उन्हें अधिकार है, चाहे जो कह लें। अप्रसन्न भी हो जायँगी, तो उन्हें मना लेने की शक्ति भगवान् ने मुझे दी है।"

—अपना मनोभाव व्यक्त करने में उन्होंने पहले तो—ऐसा जान पड़ता है—मेरे प्रति अपने प्रछन्न अनुराग की रक्षा की, उसके बाद भाभी के सम्मान की।

—उस समय मुझे कुछ ऐसा लगा, जैसे एकमात्र मैं हूँ जो उन्हें ठीक तरह से समझ पाई हूँ। पहले जो भाभी गम्भीर हो गई थीं, वही अब प्रमुदित होकर बोलीं—"अच्छी बात है। जाना ही है, तो चले जाइयेगा; पर कम-से-कम चाय तो पीते जाइये। तीन मिनट से अधिक नहीं लगेंगे।"

—कथन के साथ ही भाभी तुरन्त ही चली गई थीं और उन्हें रुकना पड़ा था। ऐसे अवसर पर मुझसे बोलते न बन रहा था। उन्होंने ही मौन भंग करते हुए पूछा था—"पढ़ाई कैसी चल रही है ?"

—नतशिर गम्भीर होकर मैंने उत्तर दिया—"पढ़ाई बन्द कर देनी पड़ी।" एक बार मन में तो आया कि वास्तविक कारण बता दूँ। फिर जब आत्मा की गवाही मिलने में देर होने लगी, तो मैंने कह दिया—"माँ को खर्चा देने में कष्ट होने लगा था और भैया के सिर पर भार डालना मुझे अपने सम्मान के विरुद्ध जान पड़ा।"

—मेरा उत्तर सुनकर वे इतने आश्चर्य में पड़ गये कि मुख विवर्ण हो उठा था। क्षण भर स्थिर रहकर उन्होंने कह दिया था—"अब भी अगर तुम पढ़ना चाहो, तो खर्चे की व्यवस्था मैं कर सकूंगा।"

—उनकी इस बात पर पहले तो मैं विस्मय में पड़ गई, फिर प्रफुल्ल विह्वल मन में विचार हो आया—'चलो, इनको इतना ध्यान तो हुआ।' एक लहर-सी शिरा-शिरा, लोम-लोम में व्याप्त हो गई थी। उद्वेलित

मन से मैंने कह दिया था—"आप कैसे करेंगे, इस समय तो यह बात मेरी समझ से बाहर है। हाँ, अगर कहीं··· । मगर कहना व्यर्थ है। आप मेरा कहना क्यों मानने लगे। आपकी यह कविता ही स्पष्ट बतला रही है।"

—सोफ़े वाली दो कुर्सियाँ अलग-अलग रखी थीं। एक पर मैं थी दूसरी पर वे। उत्तर में पता नहीं किस प्रकार उनके पैर का अँगूठा मेरे तलवे से जा लगा। स्पर्श मात्र से स्तम्भित, रोमाञ्चित हो, अप्रत्याशित विकर्षण से आक्रान्त होती-होती मैंने कृत्रिम विरोध में कहा था—"जल्दी बाज़ी में पड़कर जो लोग अवसर और परिस्थिति का ध्यान नहीं रखते, उनके लिए इस कविता में वर्णित शिकायत सदा बनी रहेगी।"

—उन्होंने तुरन्त कह दिया—"मैं शिकायतों से नहीं डरता। कम-से-कम इतना तो तुम्हें मालूम ही हो गया होगा ?"

विजय की इस बात का जो उत्तर उसने दिया था, उसका स्मरण कर वह अपने आप मुस्कराने लगी। उसकी आँखों से लग रहा था जैसे वे शून्य में लिखे हुए इन शब्दों को पढ़ रही हों—"तभी तो यह हालत बना रखी है। ज़रा शीशा लेकर मुँह देख लो।"

—तब उन्होंने पुनः कहा था—"बहुत सजग रहने लगी हो मेरे विषय में। आज बहुत दिनों के बाद पता चला है। वास्तव में, बहुत दुर्बल जान पड़ता हूँ ? वैसे मानवी दुर्बलताओं की मुझमें कमी नहीं।···ख़ैर, मैं चाहूँ तो बहुत कुछ कर सकता हूँ। मगर फिर सवाल उठता है—चाहूँ ही क्यों ? क्योंकि मान लो चाहूँ कि तुम मेरे साथ आज ही चल दो कहीं, तो क्या तुम में इतना साहस उत्पन्न होगा ?"

पन्ना सोच रही थी, 'जब उन्होंने यह उत्तर दिया था, तो मुझे जिस हर्ष, जिस सुख और जिस सौभाग्य का अनुभव हुआ था वह केवल माँ पार्वती को उस समय हुआ होगा जब ब्राह्मण का वेश त्यागकर भगवान शिव उनको अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करने का वरदान दे रहे होंगे। फिर भी नारी-हृदय की रहस्यमयी स्वाभाविक सत्ता को अक्षुण्ण रखने के लिए मैंने विरोध की भाषा, किन्तु मनभायी वाणी में कह दिया था—"राम-राम ! यह आपको क्या हो जाता है, कभी-कभी।"

—तब वे पहले मेरी ओर इकटक कुछ इस तरह देखते रहे, जैसे मुझे आँखों से ही पी जायँगे। फिर यकायक उनकी आँखें भर आई थीं और रूमाल से उन्हें ढककर उन्होंने कह दिया था—"तुम नहीं जान सकोगी पन्ना !"

—उनके आँसुओं को देखकर मेरी आँखें न जाने क्यों अपने आप छलक पड़ीं। भगवान् जानता है, मुझे इन अपने आँसुओं के सम्बन्ध में पहले से कुछ नहीं मालूम था। फिर यकायक मुझे ऐसा लगा, जैसे जीवन बदल गया हो।

आज भी जब पन्ना विजय से मिली, तो साक्षात्कार होते ही उसने देखा कि उसका व्यवहार उत्तरङ्ग है। उसकी इच्छाएँ भड़की हुई हैं। तब वह विचार में पड़ गई। द्वार की सिटकिनी बन्द न कर जब वह पलँग पर आकर बैठ गया, तो उसने कहा —"तुमने सिटकिनी लगाने से मुझे जिस भाव से रोका है, उसको मैं समझता हूँ। किन्तु, फिर हमारे मिलन का अर्थ ही क्या होता है ?"

पन्ना गम्भीर हो गई। बोली—"यह मेरे साथ आपका घोर अन्याय है। हम दोनों आज उस जगह पर आकर खड़े हो गये हैं, जहाँ पहुँच कर पीछे लौटना सम्भव नहीं। इसलिए कुछ आवश्यक प्रश्नों और उनके समाधान के सम्बन्ध में विचार कर लेना अनिवार्य हो गया है।"

"तुम शायद यह कहना चाहती हो कि मैं अन्धा हूँ। मुझे कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा है। तुम्हारे मन में यह बात भी आती होगी कि मैं निराश्रित और अकर्मण्य हूँ, मेरी कोई सुनिश्चित जीविका नहीं है। क्यों, यही बात है न ?"

पन्ना ने अभी तक बतलाया नहीं था कि उसने भी कुछ सोचा है; उसने भी एक तैयारी की है। पर जब विजय ने ही अपने मुँह से ऐसा प्रश्न उठा दिया, तो उसने अपनी बात छिपाकर सीधे तौर से कह दिया—"प्रत्यक्ष सत्य से हम कैसे इनकार कर सकते हैं ? वस्तुस्थिति का मान तो हमें करना ही पड़ेगा।"

विजय पलँग से उठकर खड़ा हो गया। उसने कह दिया—"तुम्हारी इस बात का उत्तर तो मैं बाद में दूंगा। पहले यह बताओ कि तुमने कौन-

सी बात सुनी है और किससे ?"

पन्ना बोली—"भैया के मुख से तो नहीं सुनी, लेकिन भाभी के मुख से सुनी है।"

विजय को ध्यान आ गया कि उस दिन हीरा के यहाँ गोबिन्द जा पहुँचा था। शायद यही बात पन्ना कहना चाहती है। तब वह कुछ अधिक गम्भीर हो उठा और उसने उत्तर दिया—"इस सम्बन्ध में आपत्ति तो उस व्यक्ति को हो सकती है, जिसके साथ मैंने अपने जीवन का सम्बन्ध स्थायी रूप से जोड़ लिया हो। गोबिन्द यदि ऐसा काम करता, तो शची को ऐसे उपालम्भ का अधिकार था। लेकिन एक ओर तो पन्ना रानी यह कहती हैं कि सिटकिनी बन्द मत करो और दूसरी ओर भूले-भटके, सो भी केवल कुछ घंटों के लिए, केवल खाने-पीने के नाम पर, केवल एकान्त में जी भरकर रोने के लिए अगर कहीं मैं चला गया, तो तुमको आपत्ति उठाने का अधिकार कहाँ रह जाता है ? यह केवल तुम्हारा नहीं, उस सम्पूर्ण वर्ग का अत्याचार है, जो आज अधिकार और पद का ऐश्वर्य भोग रहा है। भैया ने मेरे लिए नौकरी ठीक की थी, शायद इसी अधिकार से तुम ऐसी आपित्त उठा रही हो। पर जब चपरासी से धक्के लगवा कर मुझे निकलवा देना चाहते थे, तब इस अधिकार के प्राणों में छिपा, कर्त्तव्य कहाँ मर गया था ?"

यद्यपि पन्ना अपने भैया गोविन्द का पक्ष लेकर उसकी हार्दिकता का स्पष्टीकरण करना चाहती थी, किन्तु अवसर प्रतिकूल समझकर वह बात टाल गई। प्रकट में बोली—"आप बहुत क्रोध में हैं। इसलिए आपकी बातों का इस समय मैं कोई उत्तर न दूंगी।...हाँ, अब यह बताओ कि इस समय सीधे स्टेशन से आ रहे हो ?"

"नहीं मैं कल ही आ गया था। मुझे ब्रजमोहन से ज़रा मिलना था।"

"पर ब्रजमोहन तो कल कहीं बाहर चले गये।"

"जाने से पूर्व कुछ घंटों के लिए, मैं उसके घर में ही था।"

विजय का इतना कहना था कि पन्ना को राजेश्वरी की रूप-राशि का ध्यान हो आया। वह सोचने लगी—"मुझसे मिलना तो एक बहाना था। असल में ये उसी के यहाँ आये हैं और वहीं ठहरे हैं।" ईर्ष्या की

अग्नि उसके मन में सुलग उठी। किन्तु फिर उसने प्रश्न कर दिया—"कल ही आये थे, तो फिर इतनी जल्दी मुझसे मिलने की छुट्टी कैसे मिल गई ?"

विजय हँस पड़ा। बोला—"क्यों, ईर्ष्या होती है ? कहाँ-कहाँ पता लगाओगी ? लेकिन मुझे सब बेकार मालूम पड़ता है। आख़िर इस सन्देह, इस अविश्वास, आशंका और उपालम्भ का आधार क्या है ?"

पन्ना बोली—"मैं आपसे बहस करने नहीं आई। अविश्वास भी मैं आप पर नहीं करना चाहती। आपका कहना भी सही है कि किस अधिकार से आप पर कोई नियन्त्रण लागू हो सकता है ? किन्तु द्यूत-क्रीड़ा में अधिकार अगर किसी पाँसे का नाम हो जाय, तो एक दाँव मैं भी लगा सकती हूँ।"

अब विजय हँस पड़ा। बोला—"वादे-वादे जायते तत्वबोधः। चलो, एक मतलब की बात तो सामने आई। देर में ही सही।"

ब्वाय को बुलाने के लिए टेबिल में एक बटन लगी हुई थी। विजय ने झट उसको दबा दिया, फिर मुस्कराता हुआ बोल उठा—"अब जिगर थाम के बैठो, मेरी बारी आई। अब तक तुम्हारे यहाँ मोहन-भोग उड़ाता रहा हूँ। आज तुम मेरे इस निलय में जो चाहो सो खा-पी सकती हो।"

किवाड़ अभी बन्द ही थे। विजय उठा और बिना एक क्षण का भी विलम्ब किये उसने पन्ना के अधरों पर प्रेम-चिह्न अंकित कर दिया।

पन्ना ने कोई सक्रिय विरोध तो नहीं किया, पर तरंगित मन और सलज्ज मुसकान के प्रकार में विलग होते-होते इतना तो कह ही दिया—"आज यह तुमको हो क्या गया ?"

"वही जिसको टालते-टालते मैं उब गया था।" कथन के साथ विजय ने द्वार के कपाट खोल दिये।

पन्ना गम्भीर होकर बोली—"पर तुम जानते हो, यह स्थिति निरापद नहीं है।"

"जानता हूँ। साथ ही यह भी जानता हूँ कि हमारा यह जीवन आख़िर है क्या ? अगर कल ही मैं कोई ऐसा कार्य कर बैठूँ कि मुझे फाँसी पर लटक जाना पड़ा, तो स्थितियों के भय से आक्रान्त बने रहकर

भूखे ही मर जाने में संसार का कौन बड़ा हित हो जायगा ?"

उत्तर सुनकर पन्ना कम्पित हो उठी। सहसा द्रवित होती-होती बोली—"भूलकर भी ऐसी कल्पना को मन में स्थान मत देना। मुझे तुम्हारी ऐसी बातें सुनकर कितना दुःख होता है, काश तुम जान सकते !"

कथन के साथ उसकी आँखों में आँसू भर आये।

इतने में ब्वाय आ गया। पन्ना रूमाल से आँसू पोंछने लगी। विजय ने ऐसी परिस्थिति में ब्वाय के आ जाने की परवा किये बिना उसे चाय के साथ कुछ नमकीन और मिठाई लाने का आदेश दे दिया।

अब दिन चढ़ आया था। ब्वाय जा रहा था। उसी समय पन्ना बोली—"जहाँ तक निर्वाह का सम्बन्ध है, अब चिन्ता का कोई कारण नहीं है। मैंने यह जो नौकरी कर ली है, केवल इसीलिए कि समय पर तुम्हारा कोई खर्च तो न रुके।" और कथन के साथ पर्स निकालकर दस-दस के दस नोट उसने विजय की बुशर्ट की जेब में रख दिये।

विजय पलँग पर लेट गया, कुछ इस विधा से करवट लेकर कि एकदम पेट के बल हो रहा। तकिया उसने छाती से लगा लिया। उसे फिर राजेश्वरी का स्मरण हो आया। जो दृश्य वहाँ उपस्थित हो गया, उसको लेकर वह सम्भ्रम में पड़ गया। उसे उस रक़म की भी याद हो आई, जो वह राजेश्वरी को सौंप आया था। इसी क्रम में उसे उन सभी दुखी, दरिद्री, निराश्रित और रुग्ण स्त्री-बच्चों के मरे-अधमरे शरीर, पिचके गालों और गड्ढों में धँसी हुई आँखों की याद आ रही थी, जो उसे निरन्तर राह-बेराह, नगर या गाँव में मिलते रहते थे। उसी क्रम में वह सोचने लगा—'पन्ना का यह रुपया भी क्यों न मैं इसी कोष में लगा दूँ ?'

यह विचार ज्यों ही उसके मानस में उठा, त्यों ही उसने उसी तरह औंधे मुँह लेटे-लेटे अपना दायाँ हाथ कुछ इस तरह फैला दिया कि वह कुर्सी पर बैठी पन्ना की गोद में जा पहुँचा, ठीक उस स्थल पर, जहाँ स्वयं पन्ना का ही बायाँ हाथ था।

क्षण भर तो पन्ना बिना कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किये स्थिर बनी रही, पर फिर विजय की एक अँगुली उसके हाथ के ऊपर-ही-ऊपर बीणा की मिज़राब बनकर मर्म-स्पर्श का हेतु हुलसाने लगी, तो पन्ना सिहर

उठी। बोली—"फिर तुमने मुझे भीतर से कुरेदना शुरू कर दिया।"

विजय ने हाथ थोड़ा समेट लिया। फिर करवट बदलने में एक बार पन्ना की आँखों में अपनी आँखें डालते हुए पूछा—"सच-सच बतलाना पन्ना, दुनियाँ में सबसे अधिक प्यारी वस्तु तुम्हारे लिए क्या है ?"

पन्ना जो कुछ विचार-मग्न-सी जान पड़ी, तो इतना और जोड़ दिया—"अभिप्राय यह कि जिसे तुम किसी भी मूल्य पर छोड़ न सको।"

पन्ना अधखुले अधर खोलती हुई बोली—"विश्वास करोगे ?"

"सदा।"

"तुम्हारी वह प्रतिमा, जिस पर मैं आसक्त हूँ। यहाँ तक कि अगर तुम्हारे साथ मुझे भूखा रहना पड़े, कपड़ों के अभाव में बाहर भी न निकल पाऊँ, तो भी केवल तुम्हारी ऐसी बातें सुन-सुनकर जीवन काट सकती हूँ !"

विजय यकायक हँस पड़ा। बोला—"बड़ी भावुक हो।···अच्छा, अगर यह बात सही है, तब तो मेरा कोई भी कृत्य तुमको अप्रिय न होना चाहिये !"

पन्ना भी हँस पड़ी। बोली—"तुम कुछ नहीं जानते। तुमको कुछ ज्ञान नहीं है। तुम्हारा कोई कृत्य मुझे अप्रिय लगा है, यह तुम कैसे कह सकते हो ?"

"तुम्हारी इस आपत्ति से।"

"यह आपत्ति है ही नहीं, यह तो उपपत्ति है।"

उत्तर में उसने कुछ ऐसी भंगिमा बना ली कि विजय मुग्ध हो उठा।

इसी समय ब्वाय आ गया। पन्ना झट हाथ बढ़ाकर चाय ढालने लगी। विजय ने वार्तालाप का क्रम रोका नहीं वरन् उसे आगे बढ़ाते हुए कह दिया—"अच्छी बात है। अगले रविवार के दिन सिविल-मैरिज के लिए तैयार हो जाओ। जीवन का एक क्षण अब मैं इस प्रतीक्षा में नहीं खोना चाहता कि अभी अवसर नहीं है।"

पन्ना को इतनी प्रसन्नता कभी नहीं हुई थी। चाय ढालते-ढालते उसका कर-पल्लव यकायक हिल उठा। प्रफुल्लवाणी में उसने उत्तर दिया—"ऐसी जल्दी क्या है ?"

"यह बात अभी तुम समझ न सकोगी।"

पन्ना विचार में पड़ गई—'कैसे क्या होगा ?'

थोड़ी देर में जब वह चलने लगी, तो विजय ने रुपये वापस करते हुए कह दिया—"इन्हें मेरी ओर से तुम्हीं अपने पास रख लो। अभी तो मैं यहाँ हूँ ही। जब आवश्यकता पड़ेगी, ले लूंगा।"

फिर द्वार की ओर पैर बढ़ाती-बढ़ाती आप-से-आप पन्ना लौट पड़ी। बोली—"अब मैं कहीं न जाऊँगी। यों भी काफ़ी देर हो गई है। दूसरे अब कहीं अन्यत्र जाने में मुझे अच्छा भी न लगेगा।"

विजय ने कमरे में लगा रेडियो खोल दिया। उस समय बूँदें पड़ रही थीं; बादल गरज रहा था और मोर बोल रहा था—पिया ओ !

इतने में एक प्रौढ़ दम्पति आते हुए सामने दिखलाई पड़े। आगे-आगे कीर्तिदेव, पीछे-पीछे उनकी प्रथम धर्मपत्नी कल्याणी।

: २१ :

बरामदे में कुछ आहट की आशंका से राजेश्वरी ने जो चिक के परदे को उठाकर झाँका तो क्या देखती है कि उसके भैया राजकिशोर झण्डासिंह से कह रहे हैं—"देख लो, ताँगे में कुछ रह तो नहीं गया।"

तब तुरन्त सावधान होकर उसने आँसू पोंछ डाले। अवगुण्ठन को आँखों के ऊपर ला प्रसन्नमना, बाहर निकल, राजकिशोर को हाथ जोड़कर नमस्ते करती हुई बोली—"मैं जानती थी, भैया आज ही कल में आने वाले हैं।"

"आ तो मैं और पहले जाता। पर तीन-चार दिन पूर्व पानी बरस गया। तब सोचा कि रास्ता तो हो गया ख़राब, स्टेशन तक सवारी कैसे जायगी! दो-चार दिन तक पानी न बरसे और रास्ता सूख जाय, तभी चलना ठीक होगा···और कहो, तुम प्रसन्न हो न?"

राजेश्वरी ने अन्तिम प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। बोली—"मुझे अम्मा और भाभी की बहुत याद आती रही। मैंने कभी सोचा तक नहीं था कि उन्हें छोड़कर मैं रहूँगी कैसे! वहाँ गाँव में भी दो-चार दिन तक तो भीड़भाड़ रही। फिर धीरे-धीरे बुआ, मौसी, ननद सब-की-सब सबेरे से लेकर शाम तक एक ही दिन के अन्दर चली गईं। रह गईं केवल अजिया और बानू। फिर इधर छुट्टियाँ समाप्त होने को आ गईं। बानू ने तो चाहा था कि छुट्टी और थोड़ी बढ़ा ली जाय। लेकिन ऐसा सम्भव न हो सका।···अरे आप तो खड़े ही रह गये। आओ, अन्दर आओ।··· झण्डासिंह, भैया को चाय ले आओ।"

कथन के साथ कमरे के भीतर कुरसी पर बैठ जाने का संकेत करती

हुई कहती गई—"यहाँ इस मकान में, उधर पीछे के हिस्से में, जो किराये-दार रहते हैं, अच्छे-भले आदमी हैं। संग-साथ और मनोविनोद के लिए हमारी उमर की कई लड़कियाँ हैं। एक तो कालेज पढ़ने भी जाती है। और एक हाईस्कूल में अध्यापिका है। माँ जी भी पढ़ी-लिखी हैं। बड़ा सीधा स्वभाव है।"

"तुम्हारी भाभी तो विवाह के बाद से ही बीमार पड़ गई हैं।"

"अरे! भाभी बीमार पड़ गईं, और भब्बू और सोनी तो ठीक हैं? उनकी मुझे बड़ी याद आती रही यहाँ।"

"हाँ वे सब ठीक हैं। तुम्हारी भाभी को पहले तो मुहाँ हो गया। फिर उसकी दवा जो हुई तो आँव गिरने लगी। घरेलू दवा से जब कोई फायदा न जान पड़ा, तो एक वैद्य जी की दवा होने लगी। अब आँव जो बन्द हुई तो बुखार आने लगा।

"बस-बस, मैं सिर्फ चाय पीऊँगा।"

"क्यों ऐसी क्या बात है? अभी तुमने खाया ही क्या होगा?"

"आजकल ऋतु बड़ी खराब चल रही है राज। ऐसा कोई घर नहीं बचा, जिसमें कोई बीमार न पड़ा हो। इसलिए बहुत परहेज रखना पड़ता है।"

"हाँ, भैया यह तुम ठीक कहते हो। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि भाभी के पेट में आँव का कुछ अंश बाकी रह गया है। नहीं तो बुखार नहीं आ सकता था। मैंने जहाँ खाने के साथ बुकन् की पुट शुरू कर दी, त्यों ही झट ठीक हो जायेंगी। बल्कि फ्रूट-साल्ट का डिब्बा मैं यहीं से लेती जाऊँगी। मुझे भी तो रामनगर में डायरिया हो गया था। पहले दिन बड़ी परेशानी रही। पर दूसरे दिन फ्रूट-साल्ट की दो खुराकों से ही तबियत ठीक हो गई। कहाँ दिन भर में पाँच-सात दस्त आते थे, कहाँ दूसरे दिन दो खुराक में ही बिलकुल बन्द हो गये। मगर एक बात ज़रूर है। मैंने भगवान् का नाम लेकर एकादशी और प्रदोष दोनों दिन लगभग छत्तीस घन्टे कुछ खाना नहीं खाया। यहाँ तक कि फलाहार तक नहीं किया।"

भाई-बहन पास-ही-पास बैठे थे। बहन पंखा झल रही थी, भैया

खाना खा रहा था। इतने में ब्रजमोहन बाबू आ गये। अपने मनोभाव छिपाकर बोले—"यह भाई साहब को खाना खिलाया जा रहा है या उपवास-चिकित्सा का प्रवचन चल रहा है।"

राजेश्वरी संकुचित हो उठी और राजकिशोर बाबू बोले—"और तो सब ठीक है। पर यह आपने क्या किया कि साथ के लिए बड़ी बहन को भी नहीं बुलाया। आप तो खुद अपने कार्यालय चले जाते होंगे···। और यहाँ राजेश्वरी·····

बीच ही में बोलते हुए ब्रजमोहन ने कह दिया—"आपको विदित हो भाई जान कि इस दरवाज़े के उस ओर जो परिवार है वह भी इसी प्रदेश का है और उसमें सब मिला कर आठ-दस स्त्री-पुरुष हैं। एक लड़की तो बिलकुल श्रीमान् की बहिन की उमर की ही है और बी० ए० में पढ़ती है।"

"मैं अभी सुन चुका हूँ। अच्छा चौका-बर्तन के लिए···

"जी, मैंने कहा न कि उस ओर जो परिवार रहता है उसका पूरा सहयोग हमें मिलता रहता है। तात्पर्य यह कि उसकी महरी हमारे यहाँ का भी दासी-कर्म निबटा देती है। इसके अतिरिक्त झण्डासिंह भी मदद कर देता है। अच्छा मैं चला। आप लोग खाना खा लीजिये।···हाँ, एक सलाह करनी है आपसे। रस्म के अनुसार आप वक्त पर आ गये। आपकी याद भी हो रही थी। यों मुझे भेजने में कोई आपत्ति नहीं है, मगर एक बात जान लेना ज़रूरी है कि अब हमको कब आने का मौक़ा आप दे रहे हैं? अब मेरा मतलब यह है कि मुझे जो सुविधा मिलनी चाहिये, उससे वंचित रखना तो शायद आप भी पसन्द न करेंगे?"

"हँ हँ। यह आपने खूब कही। अरे भाई साहब, अभी तो मैं बिदा के लिए आया हूँ और आप ही के आँगन में बैठा हूँ। अपने घर लौट भी नहीं पाया हूँ। और वापसी का सवाल आपने अभी से पैदा कर दिया!"

"ओ : सॉरी। जैसी आपकी मर्ज़ी। वैसे अगर अन्दाज़ा मिल जाता तो मैं अपना कार्य-क्रम बना लेता। जब तक आप ऐसा मौक़ा नहीं देंगे, तब तक के लिए कोई विशेष प्रबन्ध करना ही पड़ेगा।"

"आपका संदेशा मैं अम्मा से कह दूंगा। सावन, भादों, कुआँर।

बस, आप कुआँर की नौ दुर्गा लगते-लगते इस विषय में मुझसे पूछ लीजियेगा। मैं आपकी असुविधाओं को समझता हूँ। और ऐसा तो कभी चाहूँगा ही नहीं कि आपको कष्ट हो।"

कथन के साथ ब्रजमोहन की दृष्टि राजेश्वरी की रंगीन रेशमी साड़ी के उस अवगुण्ठन पर जा पड़ी जिसका छोर नयनों के पलकों के ऊपर आ गया था। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे राजेश्वरी भी अपना सारा ध्यान इसी बात पर केन्द्रित किये हुए है कि कहीं झगड़े का भेद न खुल जाय।

इसी बीच राजकिशोर बोले—"हमें ज़रा कोआपरेटिव सोसाइटीज़ के डिवीज़नल एकाउंटेंट बाबू के साढ़ू साहब के यहाँ जाना है। वे सिविल लाइंस में कहीं रहते हैं। वैसे पता तो मेरी डायरी में नोट है।"

"अच्छी बात है। मै भी ज़रा कार्यालय जा रहा हूँ। वैसे आज तो आप रहेंगे ही।"

ब्रजमोहन टटोल रहा था कि कितनी जल्दी ये महाशय यहाँ से विदा लेना चाहेंगे।

राजकिशोर बोले—"घण्टे-डेढ़-घण्टे में ज्यों ही लौटा, त्यों ही चाहूँगा कि आप विदा कर दें।"

ब्रजमोहन को मन ही मन बड़ी प्रसन्नता हो रही थी। अतः उसने संदेह न होने की गुंजायश रखते हुए उत्तर दिया—"वैसे मैं जल्दी आने का प्रयत्न तो करूँगा ही। पर यदि शीघ्र छुटकारा न मिला, तो स्टेशन पर तो शतिया मिल जाऊँगा।"

पाँच बजे जब ट्रेन प्लेटफ़ार्म पार कर रही थी तो राजकिशोर बाबू कह रहे थे—"वायदा तो किया था, किन्तु ब्रजमोहन बाबू आये नहीं। चलते समय भेंट न हो सकी!"

राजेश्वरी ने सकुचाते-सकुचाते उत्तर दिया—"ऑफ़िस के काम से बाहर गये हुए थे। आज ही सबेरे लौट कर आये हैं। कार्य-भार बढ़ गया होगा और संभवतः इसीलिए छुट्टी नहीं मिल सकी होगी।"

विकल और टूटे हुए मन के साथ लगभग छै बजे जब ब्रजमोहन कार्यालय से वापिस होने लगा तो एक रिक्तता का-सा अनुभव करता-करता वह एक रिक्शे पर चढ़कर नगर से दूर उसी गढ़ी में जा पहुँचा, जहाँ विजय के साथ वह बहुत दिन पहले एक बार गया था।

आज वह पुनः पूर्ववत अचेत हो जाने के लिए स्वयं ही तत्पर था। वह चाहता था कि कितना अच्छा हो, सुषमा या उत्तरा मुझे अपने साथ कर लें। मैं छल-छद्म से भरे इस जगत से सदा के लिए छुट्टी पा जाऊँ!

आज गढ़ी का वातावरण उस दिन का-सा नहीं था। चाँदनी छिटकी हुई थी और पवन मन्द-मन्द प्रवहमान था। धीरे-धीरे वह सभी परिचित स्थानों में चुप-चाप कुछ खोजता-सा घूमता रहा और एक स्थान पर जाकर बैठ गया जहाँ पिछली बार अचेत होकर पड़ा रहा था।

उसे बैठे-बैठे लगभग आधा घण्टा हो चला था। पर कहीं से भी न उसे कोई स्वर सुनाई पड़ा न छाया देख पड़ी। केवल पवन दोलन से कुछ पत्ते कभी-कभी हिल उठते थे। उन्हीं का शब्द सुनाई पड़ जाता था। एकाएक उसके मन में आया—कहीं कुछ नहीं है, सब मन का भ्रम है। जैसे सुषमा और उत्तरा मेरे लिए अतीत का स्वप्न बन गई हैं और अब राजेश्वरी भी बन रही है वैसे ही मैं भी इस जगत के लिए स्वप्न बन कर रहूँगा।

कुछ समय ब्रजमोहन को इस विश्व से कोई उपालम्भ नहीं था। उसके मन में कोई कामना भी नहीं थी। न किसी प्रकार का आनन्द था न दुःख। रह-रह कर एक ही भावना उभर-उभर उठती थी। जान पड़ता है कहीं सुषमा भी चली गई। पर उस दिन तो उसने कहा था कि उत्तरा आ रही है इसलिए मैं जा रही हूँ। ऐसे समय जो कहीं उत्तरा आ जाय तो मैं जी जाऊँ। इतने में उसे कुछ ऐसा आभास मिला जैसे किसी ने केमरा-लाइट के विस्फोट का क्षणिक प्रकाश कर दिया हो। वह निकट-वर्त्ती शिला पर जान-बूझ कर सिर के नीचे हाथ रखकर लेट गया।

पहले आँखें खुली रहीं। फिर आपसे आप पलक मुँद गये। थोड़ी देर बाद उसे ऐसा जान पड़ा जैसे वह अपने कमरे में पलँग पर लेटा हुआ है। सर्दी की एक रात है और अभी नौ ही बजे हैं। मुलायम गद्दे और रेशमी लिहाफ़ के बीच वह दुबका हुआ चुपचाप लेटा है और उत्तरा पास खड़ी-खड़ी हँस रही है। वैसी ही खिलखिलाहट है और वैसी ही चपलता। सिर से लिहाफ़ का छोर थोड़ा-सा हटाकर वह उसके मुख की प्रफुल्ल भाव-भंगिमा चुपके-चुपके देख रहा है।

'इतने में कुर्सी खिसका कर उत्तरा मेरे पास बैठ गई है और कह रही है—"आज यह बात क्या है जो तुम मुझसे बोल नहीं रहे हो। मेरा आगमन जान पड़ता है तुम्हें अभीष्ट नहीं है। ऐसा तो कभी हुआ नहीं। प्रवेश करते-करते तुम्हारा मूक औत्सुक्य बोल उठता था। आज वह अमृत वाणी मौन क्यों है। ओह! समझी! आजकल फिर इधर-उधर सैर-सपाटा, मटर-गश्ती, ताक-झाँक और छेड़-छाड़ बढ़ गई है। अच्छा तो है। इस प्रकार के जीवन में भी तुम्हें अधिक सुख अनुभव हो रहा है तो फिर स्पष्ट कह क्यों नहीं देते कि सुन, तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं रह गई। बोलो, बलो न। चुप क्यों हो।"

ब्रजमोहन फिर भी मौन है। शरीर तन्तु-तन्तु से जड़ हो गया है। इतनी भी सामर्थ्य नहीं रह गई है कि वह सिर से लिहाफ़ ही उठा सके। अधिक नहीं तो इतना ही कह दे कि तुम यह सब क्या बक रही हो उत्तरा। मगर नहीं। 'मैं केवल सुनभर सकता हूँ। देखभर सकता हूँ। सह सकता हूँ पर कुछ कह नहीं सकता। मेरे ऊपर उत्तरा यह जो लाञ्छन लगा रही है वह झूठ न होते हुए भी सत्य नहीं है। प्रत्येक नारी स्वामी के लिए ऐसा सोचती है। और प्रत्येक पुरुष अपनी प्राण-प्यारी नतपत्नी के लिए ऐसी आशंकाएँ करता है।'

इसी क्षण उत्तरा फिर बोल उठी—"अच्छा तो है। मैं चली आई और कुछ ही दिनों के बाद तुमने राजेश्वरी को बुला लिया। मगर इस बार उसने तुमको छकाया खूब। हऽ हऽ हः हः! अन्त में सारा रहस्य प्रकट होकर ही रहा। बहुत प्यार करते थे न उसे। मैं सब देख रही थी। जब देखो तब उसके मुँह पर प्रशंसा के पुल बाँधे रहते थे। अब क्या

करोगे ? चली गई न आखिर ! अब क्या चौथी करने का विचार है ? इरादे क्या हैं आपके ? मेरे इरादे जानना चाहते हो ? इस गुमान में न रहना कि अब मैं उसको भी अपने पास बुला लूंगी । ऐसी नारियों के लिए मेरे पास जगह नहीं है । फिर और भी तो एक बात है । अब जब कुछ दिनों तक वह तुमको अकेला रखेगी, तब तुम्हें पता चलेगा कि पत्नी पर व्यर्थ ही अविश्वास करने का परिणाम क्या होता है । लेकिन मैं यह सब क्या बकने लगी । अब तुम स्वयं ही अनुभव करोगे कि सत्य क्या है ! और कल्पित सत्य, कृत्रिम सत्य तथा बहुश्रुत किंवदन्तियों पर आधारित संभावनाओं के भीतर प्रच्छन्न मूल सत्य क्या है । रो रहे हो ! रोओ-रोओ ! इस प्रकार बड़ी शान्ति मिलेगी । कम-से-कम मन का कलुष तो धुल जायगा ।"

तभी आ गया रिक्शा वाला और कहने लगा—"वाह बाबू जी, आप तो यहाँ सो रहे हैं । मैं देखते-देखते थक गया कि बाबू जी अब आते हैं, अब आते हैं । अब तो चलिये साहब—९ बज गया ।"

ब्रजमोहन आँख मलता हुआ उठ बैठा और कह दिया—"चलो ।"

ब्रजमोहन ने पुनः एक बार आँख खोलकर देखा—कहीं कुछ नहीं था । केवल पवन डोल रही थी और पत्ते बोल रहे थे । । पास के गाँव से कुत्तों के भौंकने का स्वर भी बीच-बीच में सुनाई दे जाता था ।

भारी-भारी-सा मन लिये ब्रजमोहन रिक्शे वाले के साथ-साथ जाकर रिक्शे में बैठ गया ।

तभी एकाएक रिक्शा वाला बोल उठा—"बाबू जी यहाँ तो कभी कोई आता नहीं है । लोग इस गढ़ी के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें कहा करते हैं । पर आपको यहाँ ऐसी सुनसान गढ़ी में अकेले बैठे रहने में आखिर क्या मिल जाता है ।"

ब्रजमोहन ने कह दिया—"चलो-चलो ।"

जगमोहन ने अब सीधे उपाध्याय जी से मिलना-जुलना प्रारम्भ कर

दिया था। पहले तो उपाध्याय जी विजय के विवाह के विषय में कोई निश्चयात्मक बात करने में इसलिए हिचकते रहे कि विजय को वे किसी प्रकार अनुकूल न बना सके थे। किन्तु जब उन्होंने देखा कि परिस्थिति बदल रही है। कीर्तिदेव भी आने-जाने लगे हैं और सत्यवती तो प्रायः आती ही रहती है। कीर्तिदेव और कल्याणी में वार्तालाप भी प्रारम्भ हो गया है।

तब एक दिन उन्होंने स्पष्ट कह दिया—"असल बात यह है माई लार्ड ! कि शतरंज की चाल में घोड़े ने हाथी को पछाड़ दिया और वजीर की स्थिति हो उठी डावाँडोल। तो अब आप सीधे घोड़े के पास ही जाइये और उसके उछलने-कूदने तथा हिनहिनाने की चिन्ता मत कीजिये माई लार्ड !"

फलतः जगमोहन एक दिन सीधे कीर्तिदेव के पास जा पहुँचे। कीर्तिदेव ने जब उनसे यह सुना कि उपाध्याय जी ने भेजा है और विजय की शादी के लिए भेजा है तो उन्होंने सारी बातों की जानकारी प्राप्त करने में उत्सुकता प्रकट की।

जगमोहन बाबू बोले—"मेरे हिसाब से तो जन्म-पत्रियाँ परस्पर बहुत ठीक हैं। किन्तु आप भी, चाहें तो, अपने आचार्य्य को बुलाकर दिखा लीजिये।"

कीर्ति बाबू ने अन्दर जाकर जो सत्यवती से राय ली तो उसने कह दिया—"हाँ, ठीक तो है, पंडित जी को बुलाकर पहले दिखा लो और इनसे कह दो कि फिर किसी दिन आयें।"

जगमोहन बाबू प्रसन्नतापूर्वक लौट गये। कीर्तिदेव मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हो रहे थे कि अब इस बहाने सत्यवती के साथ जाकर कल्याणी को अनुकूल बनाने का एक और अवसर मिला है। इसी उत्सुकता में, फ़ौरन, उन्होंने एक ज्योतिषाचार्य्य को बुला भेजा।

पण्डित सदानन्द बड़े मानी आचार्य्य थे। वे किसी के बुलाने पर कहीं जाते नहीं थे। इसलिए कीर्ति बाबू ने उनके पास कार भेज दी और पण्डित सदानन्द के पास जब ले जाने के लिए कार पहुँच गई तब यह प्रश्न नहीं उठता था कि मुझे झुकना पड़ रहा है और वह स्वयं मेरे द्वार पर क्यों नहीं आये। ऐसे समय वे यह मान लिया करते थे कि एक ही बात

है। वे नहीं आये तो बीस हज़ार की सवारी तो आई है। अतः वे दस-पाँच मिनट के अन्दर एक रेशमी अण्डी कन्धे पर डालकर गाड़ी में बैठ गये।

और आते ही बोले—"कैसे याद किया कीर्ति बाबू ?" कीर्ति बाबू ने आदरपूर्वक सोफ़े पर बिठाकर दो कागज़ देते हुए उत्तर दिया—"महाराज ! यह आपके चिरंजीव की और एक लड़की की जन्म-पत्री है। वैसे तो लड़की वाले कह रहे थे कि उन्होंने भली भाँति एक बड़े अच्छे आचार्य्य से मिलवा लिया है। लेकिन मुझे तो महाराज जब तक आप नहीं ठीक कह देते, इस सम्बन्ध में किसी की बात का विश्वास ही नहीं होता। इसीलिए आज आपको कष्ट दिया है।"

सदानन्द जी ने विजय की जन्म-पत्री एक ओर रखते हुए बड़े शिष्टाचार पूर्वक कह दिया—"यह आप नहीं आपका प्रताप कह रहा है। सब आपकी ही कृपा है। और हाँ—यह जन्म-पत्री तो मेरी ही बनाई हुई है," कथन के साथ उनको यह भी याद आ रहा था कि इसकी बनवाई के उपलक्ष्य में इन्होंने मुझे एक दुशाला भेंट किया था, "इसके अंक तो मेरे मस्तिष्क में सुरक्षित हैं। इस लड़की की जन्म-पत्री को देख लूं।"

कीर्तिदेव और सत्यवती किञ्चित मुस्कराकर रह गये और फिर दो मिनट बाद ही पण्डित सदानन्द ने बताया—"मैंने सब देख लिया। ब्याह चाहे आप इस लड़की के साथ कर दें लेकिन पटेगी नहीं उससे। और एक बात जो आपसे कभी नहीं कही थी अब इस प्रसंग में मुझे कह ही देनी होगी। न कभी ऐसा संयोग आया और न आपने ही मुझसे कभी राय ली। सम्भवतः आपको न मालूम होगा कि विजय की जन्म-पत्री के अनुसार उसके भाई होना ही चाहिये।" इतना कहकर पण्डित सदानन्द ने सत्यवती की ओर उन्मुख होते हुए कहा—"बहन ! इस सत्य कथन के लिए आप मुझे क्षमा करेंगी। ज्योतिष शास्त्र, बड़ा कठोर और निर्भय होता है। वह जैसे किसी के साथ पक्षपात नहीं करता, वैसे ही अधिकारी को उसके सुन्दर फल-संयोग और भविष्य का पथ-निर्देश देने में कभी चूकता भी नहीं। कीर्ति बाबू ! सच्ची बात तो यह है कि बहन जी को बुला लेने के बाद भी आपको विजय की माँ के साथ अपने सम्बन्ध बनाये रखने